उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-107

रीडर

नवजागरण कालीन काव्य विवेचना

नवजागरण कालीन काव्य विवेचना

संकलन और संपादन
डॉ. राकेश वत्स

सहयोग
संजीव कुमार

मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
प्रो. गोपाल राय
प्रो. नामवर सिंह
प्रो. नित्यानंद तिवारी
प्रो. निर्मला जैन
प्रो. प्रेम शंकर
प्रो. मुजीब रिज़वी
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रो. लल्लन राय
प्रो. शिवकुमार मिश्र
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह

संकाय सदस्य

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फ़ारूक़ी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

नवम्बर 2001 (मुद्रण)
©इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001
ISBN-81-266-0340-2
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. वी.रा. जगन्नाथन, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।
आवरण : श्री सांख्या सामंता
मुद्रण सहायता : श्री कुलवन्त सिंह, अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित । उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार , कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड, प्रयागराज

PEPE-019

अनुक्रम

1) भारतीय नवजागरण और भारतेंदु : डा० शंभुनाथ 10-26

2) उचित उपदेश का मर्म : रमेश चंद्र शाह 27-42

3) कामायनी एवं पुनर्विचार : गजानन माधव मुक्तिबोध 43-80

4) 'राम की शक्ति-पूजा' : मिथक मंत्र और नाटक का जादू : डॉ० रमेश कुंतल मेघ 81-93

5) 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' : डॉ० रामविलास शर्मा 94-112

6) सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण : गजानन माधव मुक्तिबोध 113-125

7) नग्न कुमारिता वाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता : डॉ. रमेश कुंतल मेघ 126-159

8) उर्वशी : दर्शन और काव्य : गजानन माधव मुक्तिबोध 160-168

9) मूल्यों का टकराव: 'उर्वशी' विवाद : डॉ. नामवर सिंह 169-178

10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 179-189

भारत दुर्दशा
नये जमाने की मुकरी
भक्ति के पद

11. मैथिलीशरण गुप्त 190-200
भारत भारती (काव्यांश)
साकेत (काव्यांश)
12. जयशंकर प्रसाद 201-221
आँसू (काव्यांश)
कामायनी (श्रद्धा सर्ग)
13. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 222-248
जुही की कली
जागो फिर एक बार
राम की शक्तिपूजा
बादल राग (6)
राजे ने अपनी रखवाली की
बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु
मैं अकेला
14. सुमित्रानंदन पंत 249-270
परिवर्तन
प्रथम रश्मि
भारत-माता
15. महादेवी वर्मा 271-288
जो तुम आ जाते एक बार
विरह का जलजात जीवन
बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ
मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
टूट गया वह दर्पण निर्मम
मैं नीर भरी दुख की बदली
शलभ मैं शापमय वर हूँ
चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त् बाना
फिर विकल हैं प्राण मेरे
क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन!
यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो
द्रुत परो जगत के जीर्ण पत्र
16. रामधारी सिंह दिनकर 289-311
उर्वशी (तृतीय अंक से)
कमरा खाली है
हार
बच्चे

भूमिका

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-2 'आधुनिक हिन्दी काव्य' में आप अब तक 'आधुनिक काव्य-विविधा' तथा विभिन्न निर्धारित कवियों पर छब्बीस इकाइयों का जो कि छह खण्डों में आपको उपलब्ध कराई गई हैं, अध्ययन कर चुके हैं। पाठ्यक्रम में निर्धारित कवियों पर पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित सामग्री में से कुछ चुनिंदा आलेखों को लेकर यह पुस्तक तैयार की गई है। इस प्रकार अध्ययन के लिए अब आपको काफी सामग्री प्राप्त हो चुकी है। लेकिन स्नातकोत्तर स्तर के अध्ययन के लिए आप जितना ज्यादा पढ़ेंगे अध्ययन, उतना ही बेहतर होगा। इसलिए आपको प्राप्त खंडों के अंत में संबंधित विषय की ऐसी पुस्तकों की सूची दी गई है, जिन्हें यदि सुविधा मिले, तो प्राप्त कर आप पढ़ सकते हैं। 'आधुनिक हिन्दी काव्य' को समझने में यह पुस्तक उपयोगी होगी, ऐसी हमारी उम्मीद है।

इस पुस्तक में सबसे पहला लेख 'भारतीय नवजागरण और भारतेंदु' शीर्षक से प्रसिद्ध आलोचक डॉ० शंभुनाथ का है। पाठ्यक्रम में पहला खंड इस पुस्तक में 'नवजागरण काव्य' पर ही है जिसमें आपने भारतेंदु तथा मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन किया है। लेखक ने इस लेख में भारतेंदु के साहित्य को आधार बनाकर भारतीय नवजागरण के बंगाल में उदय, तदुपरांत सम्पूर्ण भारत में उसके विकास को रेखांकित करने का प्रयास किया है। साथ ही लेखक ने इन सवालों को भी अपने अध्ययन का केंद्र बिंदु बनाया है कि 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना ने भारतेंदु को, उनके साहित्य को तथा प्रकारान्तर से नवजागरण के आयामों को विकसित करने में क्या भूमिका अदा की। लेखक यह भी मानता है कि भारतीय नवजागरण की विभिन्न क्षेत्रीय विशिष्टताओं की विभिन्न अन्तर्धाराओं की अन्तर्क्रिया से ही एक समग्र राष्ट्रीय धारा का विकास हुआ। इस लेख से भारतेंदु के संदर्भ में भारतीय नवजागरण की विशेषताओं को समझने में आपको मदद मिलेगी। दूसरा लेख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साहित्यिक योगदान की उपयोगिता तथा प्रासंगिकता को लेकर है – 'उचित उपदेश का मर्म' लेखक हैं – रचनाकार आलोचक रमेश चंद्र शाह। मैथिलीशरण के काव्य के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वह उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है, इकहरा है, काव्य व्यंजना से अधूरा है आदि-आदि। लेखक ने इस लेख में इन आरोपों का जवाब भी दिया है 'यह कहना तो आसान है कि 'हमारे यहाँ यह नहीं है, वह नहीं है याकि 'फलाँ-फलाँ चीज़ काव्य नहीं है, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है।' किंतु वे यह भूल जाते हैं कि उनकी अभिलाषाओं का महान् काव्य सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभा का पक्ष नहीं हुआ करता; उसके लिए महान् समाज और महानकाल का भी संयोग ज़रूरी होता है।'

अर्थात् लेखक या रचनाकार के हाथ अपने समय एवं युग से सभी बंधे होते हैं। लेखक यह भी कहना चाहता है कि हमें हमेशा विदेशी मानदण्डों के आधार पर ही कृति का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। इस लेख से आपको मैथिलीशरण गुप्त की न केवल महत्ता एवं प्रासंगिकता का पता चलेगा बल्कि किन विवादों के घेरे में उनका काव्य रहा-उसके बारे में भी विभिन्न मत जान पाएँगे।

तीसरा लेख 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग पर है। यह लेख हमने मुक्तिबोध रचनावली से लिया है। लेखक का शीर्षक है, 'कामायनी एवं पुनर्विचार'। इस लेख में मुक्तिबोध ने 'श्रद्धा' सर्ग की व्याख्या की है और बताया है कि प्रसाद जी की विश्वदृष्टि जीवनदृष्टि किस प्रकार श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है। साथ ही मुक्तिबोध ने विस्तार से यह भी बताने का प्रयास किया है कि कामायनी का अपने समाज, अपने युग से कैसा रिश्ता रहा है। और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जन्म लेते नव राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और सामंतवाद के अंतर्विरोध किस रूप में कामायनी में अभिव्यक्त हुए हैं।

मुक्तिबोध ने अपने समय के अन्य रचनाकारों पर भी विचार किया है। पंत पर भी उन्होंने एक सारगर्भित लेख लिखा है 'सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण' जिसे हमने यहाँ संकलित किया है। इस लेख में मुक्तिबोध ने पंत के काव्य व्यक्तित्व की प्रसाद के काव्य व्यक्तित्व से तुलना करके यह जानने का प्रयास किया है कि पंत क्यों मर्मभेदी कविताएँ नहीं लिखते अथवा क्यों उनका मन प्रकृति–चित्रों के अलावा, मन: स्थितियों और मनोदशाओं के गीतों की ओर रहा है। सुमित्रानंदन पंत के काव्य व्यक्तित्व को समझने में निश्चय ही यह लेख आपकी मदद करेगा।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' एक महत्वपूर्ण कविता है। जिसे कई नज़रियों से व्याख्यायित करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। इस पर दो लेख हमने यहाँ दिये हैं। पहला लेख प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का है 'राम की शक्ति पूजा: मिथकमंत्र और नाटक का जादू' और दूसरा लेख निराला के अनन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का 'तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा।' पहले लेख में डॉ. मेघ ने बताया है कि मिथकीय संरचना और नाटकीयता के माध्यम से किस प्रकार यह कविता एक संश्लिष्ट कविता बन गई है, जिसका एक विलक्षण रूप है तथा जिसमें नायक राम और कवि निराला का अंतरावलम्बन हुआ है और जिसमें मिथकों के व्याख्यात्मक प्रतीक आधुनिक संदर्भों में खुलते हैं। तुलसीदास कविता निराला की एक अन्य कविता है जो आपके

पाठ्यक्रम में निर्धारित नहीं है। किंतु उसके बारे में यहाँ पढ़ना समझना निराला के काव्य व्यक्तित्व को समझने में लाभप्रद होगा। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस लेख में इन दोनों कविताओं की व्याख्या भी की है और इन्हें एक दूसरे के आमने-सामने रखकर भी देख है। तुलसीदास कविता जहाँ मध्यकालीन समाज, तुलसीदास के मन के अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति करती है, 'राम की शक्तिपूजा' वही एक आधुनिक कविता है जिसके नायक एक स्तर पर राम हैं तो दूसरे स्तर पर स्वयं कवि निराला।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ का एक और लेख हमने यहाँ दिया है-महादेवी वर्मा पर 'नग्न कुमारितावाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता'। महादेवी को करूणा, वेदना की कवियित्री माना जाता है। इस लेख में डॉ. मेघ ने विभिन्न ज्ञानानुशासनों के सहारे कवियित्री के मनोलोक की यात्रा की है और जानने का प्रयास किया है कि उनकी करूणा, वेदना के स्रोत क्या हैं? और उनके काव्य के इन मुख्य सरोकारों के कारण क्या हैं। जानने की इस प्रक्रिया में कुंतल मेघ ने महादेवी वर्मा के चित्रों को भी आधार बनाया है।

अगले दो लेख रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' पर हैं। पहला लेख मुक्तिबोध का है 'उर्वशी : दर्शन और काव्य' तथा दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का है 'मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी' विवाद'। 1962 में 'कल्पना' 138 में 'उर्वशी' पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा लेख लिखा था। बाद में उस पर पाठकों के कुछ पत्र प्रकाशित हुए। और अन्यत्र पत्र-पत्रिकाओं में 'उर्वशी' पर और भी समीक्षाएँ प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध का यह लेख वास्तव में भगवतशरण उपाध्याय जी के लेख पर प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया लेख है। तथा डॉ. नामवर सिंह का लेख 'उर्वशी' पर जितनी भी समीक्षाएँ लिखी गईं, जो भी वाद-विवाद, बहस मुहाबिसा हुआ–उसका लेखा जोखा भी है, और समापन टिप्पणी भी। पहले लेख से आपको यह भी मालूम होगा कि वस्तुगत समीक्षा और आलोचना क्या होती है, क्या होनी चाहिए। और यह भी कि निजी पसंद नापसंद और काव्येतर प्रतिमान किस प्रकार वस्तुगत समीक्षा को धुंधला कर देते हैं।

अगला लेख डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी का है 'नागार्जुन' पर। इस लेख में लेखक ने नागार्जुन की कविता का विश्लेषण करते हुए यह बताना चाहा है कि 'नागार्जुन' 'कविता की बनी बनाई दुनिया' के भीतर रह कर कविता नहीं रचते, इसलिए कवि मुद्रा भी नहीं अपनाते और स्मृत दुनिया को अभिव्यक्त नहीं करते। बल्कि वह जो जीते हैं जैसा जीते हैं वैसा

ही कविता में ले आते हैं। इसलिए वह अगर खुद को जन कवि कहते हैं तो इसलिए चूँकि जनता उनके लिए अनपढ़, जाहिल, गरीबों की भीड़ नहीं है बल्कि वह एक शक्ति है, आंदोलनकारी शक्ति ज़िसके वह स्वयं एक भाग हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध की दो प्रतिनिधि कविताएँ हैं– 'असाध्य वीणा' और 'अंधेरे में' ! ये दोनों कविताएँ आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। दोनों कविताएँ अपने-अपने रचनाकारों की बेहतरीन कविताएँ मानी जाती हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने समय के दो बड़े किंतु भिन्न रचनाकारों की इन कविताओं की तुलना के माध्यम से दोनों की रचनात्मक शक्ति को पहचाननें का प्रयास किया है। इस लेख से आपको दोनों कविताओं और कवि व्यक्तित्वों को समझने में मदद मिलेगी।

अगला लेख अज्ञेय पर है-'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा'। यह लेख प्रसिद्ध लेखक श्री निर्मल वर्मा ने लिखा है। यह लेख अज्ञेय की तीन गद्य पुस्तकों भवन्ती, अन्तरा और शाश्वती में अभिव्यक्त अज्ञेय के विचार - चिंतन पर आधारित है। यहाँ निर्मल वर्मा ने अज्ञेय के चिंतक व्यक्तित्व का विश्लेषण करके यह देखने का प्रयास किया है कि अज्ञेय की चिंतन-प्रक्रिया कैसे चलती है और साहित्य सृजन से बाहर स्वयं 'रचनात्मक-सृजन' किन रूपों में उनके सरोकारों का हिस्सा बनता है।

शमशेर पर यहाँ दो लेख हमने दिए हैं। एक मुक्तिबोध का है–'शमशेर मेरी दृष्टि में' तथा दूसरा विजयदेव डॉ. नारायण साही का–'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। पाठक एंवं आलोचक दोनों के लिए शमशेर एक चुनौतीपूर्ण कवि हैं क्योंकि वे लीक से हट कर अपनी रचनात्मकता को परिभाषित करते हैं। मुक्तिबोध ने शमशेर के प्रति अपनी बुनियादी प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त किया है। वे मानते हैं कि शमशेर अपने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व के कारण उन्हें आकर्षित करते हैं। और उन्हें वे शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के एक अद्वितीय कवि मानते हैं। इस लेख में शमशेर के माध्यम से मुक्तिबोध ने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व का भी विश्लेषण किया है और शमशेर के कवि की प्रमुख विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। दूसरे लेख में विजयदेव नारायण साही ने शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट को समझने का प्रयास किया है। ये दोनों लेख शमशेर को कवि के रूप में समझने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगले दो लेख मुक्तिबोध पर हैं। पहला लेख कवि आलोचक कुँवर नारायण का है-

'मुक्तिबोध की कविता की बनावट' और दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का 'अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज' ! मुक्तिबोध ने कविता लिखने के साथ-साथ लिखने की प्रक्रिया पर भी चिंतन-मनन किया है। इससे उनकी कविताओं को समझने में भी सहायता मिलती है। पहले लेख में कुँवरनारायण ने मुक्तिबोध की कविता की संरचना और बनावट को समझने का प्रयास किया है। "यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट को लेकर कोई अन्तिम निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं की गयी है क्योंकि मुक्तिबोध स्वयं इस बारे में किसी अंतिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके थे।" दूसरा लेख मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' को समझने के प्रारंभिक प्रयासों में से एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस कविता की बाद में ढेरों व्याख्याएँ की गई हैं। ये दोनों लख मुक्तिबोध को एक कवि के रूप में जानने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगला लेख रघुवीर सहाय पर है डॉ. नित्यानंद तिवारी का 'सृजनशीलता का संकट : रघुवीर सहाय की कविता'। रघुवीर सहाय की कविता सामाजिक यथार्थ को बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से पकड़ती है। रघुवीर सहाय की कविता कैसे बनती है, उनकी कविता के मुख्य सरोकार क्या हैं और रचनाशीलता के संकट से रघुवीर सहाय कैसे जूझते हैं –इसकी पड़ताल इस लेख में की गई है।

श्रीकांत वर्मा पर भी एक लेख है श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का– 'मगध और श्रीकांत वर्मा'। इस लेख में लेखक ने श्रीकांत वर्मा के काव्य के काव्य की मनोभूमि का विश्लेषण किया है। श्रीकांत वर्मा ने सत्ता और साहित्य दोनों को करीब से जिया और भोगा है जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में भी हुई है।

इस संकलन का अंतिम लेख धूमिल पर श्री नेमिचन्द जैन का है – 'अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा'। यह लेख जब लिखा गया तब तक धूमिल का देहावसान हो चुका था और उनका एक ही काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' प्रकाशित हुआ था। और कुछ कविताएँ यत्र-तत्र प्रकाशित हुई थीं। लेखक ने इस लेख में धूमिल की रचनात्मक शक्ति और संभावनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

आधुनिक हिंदी काव्य के बारे में अपनी समझ विकसित करने में ये लेख निश्चय ही उपयोगी होंगे।

राकेश वत्स

1. भारतीय नवजागरण और भारतेंदु

डॉ० शंभुनाथ

भारतीय नवजागरण सबसे पहले बंगाल में आया तथा ब्रिटिश शासन-व्यवस्था से **संपर्क और** टकराहट की प्रक्रिया में पूरे देश में फैला। प्रस्तुत लेख में हमारी पहली समस्या है कि बंगाल में उसकी शुरुआत किस प्रकार हुई। दूसरी समस्या है कि उसके आयामों को विकसित करने में 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की भूमिका क्या थी तथा तीसरी समस्या है कि चूंकि भारतीय नवजागरण की क्षेत्रीय विशिष्टताओं के कारण अनेक अंतर्धाराएं हैं, इनकी अंतर्क्रिया से नवजागरण की उस सामान्य राष्ट्रीय धारा का विकास किस प्रकार हुआ, जिसमें 'क्षेत्रीय श्रेष्ठताबोध' के स्थान पर 'समग्र आत्मपहचान का संघर्ष' केंद्रीय विषय है। हम तीसरी समस्या का हल भारतेंदु (1850-85) के जीवन और साहित्य को ही मुख्य आधार बना कर निकालेंगे, क्योंकि एक तरफ उनका संबंध बंगाल के नवजागरण से है, दूसरी तरफ 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना से।

"भारतीय नवजागरण को उसकी समग्रता तथा विकास में देखना बहुत जरुरी है। केवल बंगला नवजागरण, महाराष्ट्र नवजागरण, तमिल नवजागरण कहने से इसकी पूरी वास्तविकता नहीं उभरती। हमें भारतीय नवजागरण को जानना होगा। इस प्रक्रिया में अलगाववादी दृष्टिकोण खुद-ब-खुद विफल हो जायेगा। इस दिशा में नवजागरण पर पुनर्विचार महज बौद्धिक विलास नहीं है, यह वर्तमान युग के वैचारिक संघर्ष में हिस्सा लेना है।" यह कहीं न कहीं हमारे आज के जीवन की मुख्य समस्याओं के प्रति अपना रुख व्यक्त करना भी है। हमारे देश में एक नये सिरे से भारी विदेशी पूंजी तथा टेक्नालॉजी का उपयोग बढ़ रहा है, साथ ही साथ सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयतावाद तथा किस्म-किस्म के रूढ़िवाद भी तेजी से पनप रहे हैं। इन सबके खिलाफ वैचारिक युद्ध है भारतीय नवजागरण पर पुनर्विचार। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि हमारे समाज में आयातित टेक्नालॉजी का उपयोग जितना बढ़ रहा है, 'रैशलिटी' जो भारतीय नवजागरण की एक बड़ी उपलब्धि है, खो रही है।' 47 के बाद भारत का आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा ऐसा होना चाहिए था कि इस 'रैशनलिटी' या विवेक का लगातार विकास हो।

भारतीय नवजागरण के अनेक दुर्भाग्यों में एक यह भी है कि इसे सौ वर्ष से ज्यादा न मिल सके, जबकि पश्चिमी देशों को तीन-तीन, चार-चार सौ वर्ष मिले। वहां विज्ञान, प्रौद्योगिकी, सुधारवाद, अनुभववाद, आदर्शवाद, अंतर्राष्ट्रीयतावाद आदि को पनपने का पूरा अवसर मिला। नवजागरण वहां विकसित राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में आया तथा स्वंतत्र राजनीतिक वातावरण में आया। दिल्ली सल्तनत तथा मुगल साम्राज्य जैसी निरंकुश

तथा दकियानूस राज्य सत्ता वहा नही थी। एक निरंकुश, दकियानूस तथा **औपनिवेशिक** वातावरण में भारतीय नवजागरण का नेतृत्व अविकसित राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा शिक्षित मध्य वर्ग के हाथ में था। फिर भी यह जितना घटित हुआ, उसका महत्व कम नहीं है। अगर नवजागरण नहीं होता तो महात्मा गांधी नहीं होते, भगत सिंह नहीं होते तथा बीसवीं सदी के दूसरे दशक में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना नहीं होती। इन उभारों के लिए नवजागरण की पृष्ठभूमि ज़रूरी थी, विवेक का विकास ज़रूरी था।

हमें देखना होगा कि तमाम अंतविरोधों के बीच 19वीं शताब्दी में भारतीय विवेक का विकास किस ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुआ - समाज में सुधारवाद, राष्ट्रवाद, आधुनिकीकरण एवं समाजवादी सिद्धांत कैसे प्रचारित हुए। विवेक ही जब धार्मिक रूढ़ियों से टकराता है तो सुधारवाद का, साम्राज्यवाद से टकराता है तो राष्ट्रवाद का, प्राचीनता से टकराता है तो आधुनिकीकरण का और आर्थिक विषमता से टकराता है तो समाजवादी सिद्धांतों का उदय और विकास होता है। विवेक से ही अब तक नवोन्मेष हुए हैं और जब जिस वर्ग ने इसे अपने सामाजिक संघर्ष में जैसे प्रयुक्त किया तब उस वर्ग के हित में वैसे परिणाम आये। चूंकि भारतीय नवजागरण का नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा शिक्षित मध्यवर्ग के हाथ में था, अत: अपने हितों की सीमा में इन्होंने सुधारवाद, राष्ट्रवाद तथा आधुनिकीकरण तक ही नवजागरण को सीमित रखा, क्योंकि इससे आगे बढ़कर कुछ सोचने और करने की क्षमता इन वर्गों में न थी। दुनिया के हर देश में नवजागरण की यही सीमा है। इस संदर्भ में भारतीय नवजागरण इसीजिए थोड़ा भिन्न है कि भारतीय जनता के सामंतवाद-साम्राज्यवाद दोनों से एक साथ मुख्य अंतर्विरोध की घड़ी में सुधारवाद तथा आधुनिकीकरण के अलावा उसका एक अन्य प्रमुख ऐतिहासिक लक्ष्य राष्ट्रवाद भी बन गया था। अत: आत्मपहचान के संघर्ष में राष्ट्रवाद का स्वर स्वाभाविक रूप से अधिक मजबूत हो गया।

भारत में नवजागरण की एक अंतर्धारा, सुधारवाद तथा आधुनिकीकरण के लक्ष्य लेकर चल रही थी, नेतृत्व में थे राजा राममोहन राय। वह भारतीय परंपरा की ओर एकांगी झुकाव के कारण केवल वेदांत को मानते थे और साम्राज्यवादी असर में पश्चिमीकरण पर बल देते थे। 1850 के बाद ब्रह्म-समाजियों ने वेदांत को भी त्याग दिया। यूरोपीय नवजागरण की धारणाओं से सटीक बैठने के कारण इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय के काम को नवज़ागरण के नाम से अभिहित किया। भारत में नवजागरण की एक दूसरी धारा राष्ट्रवादी मुक्ति का लक्ष्य लेकर चल रही थी - संन्यासी, संथाल, भील, पोलिगार तथा कोल विद्रोह के भीतर से, जिसकी अंतिम परिणित हुई 1857 के राष्ट्रीय

विद्रोह में। यूरोपीय नवजागरण में विदित कारणों से ऐसे तत्व के अभाव के कारण अनेक इतिहासकारों ने इस घटना को संकीर्णतावश नवजागरण नहीं माना। इन्होंने नवजागरण को मुख्यत: ब्रिटिश शासन की नयी अर्थव्यवस्था तथा सभ्यता की देन कहा, जिसके संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया। परंतु यह नवजागरण के बारे में सही दृष्टिकोण नहीं है। यह सच है कि नवजागरण का सूत्रपात (1815) राजा राममोहन राय के नेतृत्व में बंगाल में हुआ। उन्होंने सती प्रथा सहित अनेक सामाजिक बुराइयों से संघर्ष किया, शिक्षा की आधुनिक पश्चिमी पद्धति का प्रचार किया तथा भारतीय व्यापारियों का हित देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक विशेषाधिकारों को चुनौती दी। आर्य समाजियों को दार्शनिक जवाब देते हुए उन्होंने वेदांत का भी प्रचार किया तथा ब्रह्म समाज बनाया, जिसके लिए उन्हें राधाकांत देव जैसे रूढ़िवादी पंडितों का कोपभाजन होना पड़ा। फिर भी राजा राममोहन राय की नवजागरण दृष्टि एकांगी थी, उसमें राष्ट्रवाद का आवश्यक सारतत्व न था।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद डिरोजियो-पंथियों का काल आता है। डिरोजियो 1826 में कलकत्ता के हिंदू कालेज का अध्यापक बना तथा अपने प्रभाव से कालेज के युवकों को अतिशय बुद्धिवादी तथा पश्चिमपरस्त बनाने लगा। ये शराब पीने तथा गोमांस खाने को ही नवजागरण समझने लगे। राजा राममोहन राय ने केवल ब्रह्म समाज बनाया था, डिरोजियो के सिखाए मार्ग पर चलने वाले बंगाली युवक दो कदम आगे बढ़कर हिंदू धर्म से नफरत करने लगे। रसिक कृष्ण मलिक ने अदालत में गंगाजल लेकर सौगंध खाने से इनकार कर दिया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 1843 में ईसाई धर्म ही अपना लिया। डिरोजियों के शिष्य विचार से ही नहीं व्यवहार में भी विद्रोही थे। वे हर तरह की व्यवस्था पर सवाल उठाकर मानवाधिकार तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता की मांग करते थे। यूरोप की बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति का अधकचरा असर था यह, तभी वे हिंदू धर्म के प्रति गहरा क्षोभ प्रकट करते थे, पर ईसाई धर्म और साम्राज्यवादियों के प्रति उनकी आस्था भी बढ़ती जा रही थी। कला, साहित्य, कानून आदि क्षेत्रों में उनके महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकारते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि 1833 से 1857 तक डिरोजियो-पंथियों ने नवजागरण के जो आदर्श उपस्थित किये, भारतीय नवजागरण वहीं तक सीमित है। प्राय: सभी पश्चिमपरस्त बुद्धिवादियों ने 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह का विरोध किया था तथा अंग्रेजों की दमन नीति का समर्थन किया था। बंगाल की सेना में विद्रोह के बावजूद बंगाल के बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीय जागृति नहीं थी, उनकी चेतना सुधारवादी मांगों तक सीमित थी।

1857 से 85 के बीच भारतीय नवजागरण में राष्ट्रीय उत्कर्ष आया। खुद बंगाल के नवजागरण का रूप इस बीच वही नहीं था, जो राजा राममोहन राय के समय था तथा 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से गुज़रे हिंदी प्रदेश भी संपूर्णत: पुरानी हालत में नहीं थे। यही परिवर्तन महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में हुआ। पूरे भारत में नवजागरण की प्रकृति, अंतर्वस्तु और लक्ष्य में विस्तार आया। बंगाल, महाराष्ट्र आदि के नवजागरण की मुख्य अंतर्वस्तु 'सुधारवाद' (आधुनिकीकरण) तथा हिंदी प्रदेश के नवजागरण की मुख्य अंतर्वस्तु राष्ट्रवाद (अनौपनिवेशीकरण) के अंतर्मिश्रण से भारतीय नवजागरण का एक सामान्य रूप विकसित हुआ। सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद से भारतीय जनता के गहराते मुख्य अंतर्विरोध की प्रक्रिया में नवजागरण के स्वरूप में विकास स्वाभाविक था। इसी का फल था कि भारतेंदु ने स्त्री शिक्षा, सर्व धर्म-समभाव, अंतर्जातीयता, सदाचरण, विवेकवाद का ही प्रचार नहीं किया - सामंतवाद का ही मखौल नहीं उड़ाया; स्वत्व, निज भाषा और जातीय शिल्प तथा हिंदुस्तानी वस्तु (स्वदेशी) का भी प्रचार किया, बार-बार साम्राज्यवाद का भी मखौल उड़ाया। छद्मवेश में उनका साम्राज्यवाद-विरोध कितना प्रखर है, यह उनकी रचनाएं पढ़कर पता चलता है। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की प्रेरणा से ही ऐसी रचनाएं आयीं।

क़ार्ल मार्क्स ने 1857 के राष्ट्रीय-विद्रोह की बहुत प्रशंसा की थी, क्योंकि कौशल में पिछड़ा होकर भी अंतर्वस्तु में यह विद्रोह बहुत विकसित था। इस संदर्भ में गौर करने की बात है कि तथाकथित आधुनिक ब्रह्मसमाजियों तथा डिरोजियो-पंथियों ने 57 के राष्ट्रीय विद्रोह का खुला विरोध किया था। 'हिंदू पेट्रियट' वाले तथा सर सैयद अहमद जैसे लोगों ने भी इस संबंध में अंग्रेजों की दमन नीति का समर्थन किया था। यह सही है कि' 57 के विद्रोहियों में धर्म-भावना तथा सामंती चेतना मौजूद थी, उनमें बंगाल के बुद्धिजीवियों जैसा सुधारवादी विवेक नहीं था, पर क्या यह कम बड़ी बात है कि विद्रोह के साये में हिंदू, मुसलमान तथा सिख किसानों और सिपाहियों ने अभूतपूर्व राष्ट्रवादी एकता का परिचय दिया; उनके विद्रोह ने 'उपनिवेश' के विरुद्ध 'राष्ट्र' की धारणा खड़ी की। इसका असर भारतीय नवजागरण के दृष्टिकोण पर ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवादी रणनीति पर भी पड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी की जगह महारानी विक्टोरिया का शासन आया। अंग्रेज समझ गये कि उनके लिए सबसे अधिक खतरनाक हैं बंगाल, महाराष्ट्र तथा मद्रास के बुद्धिजीवी नहीं, हिंदी प्रदेश के किसान। इनकी राष्ट्रवादी चेतना को हर संभव उपाय से विखंडित करना, विवेकबुद्धि का विकास और सामाजिक विकास नहीं होने देना अंग्रेजी शासन का एक मुख्य लक्ष्य बन गया। भारतेंदु ने अविकसित हिंदी प्रदेश के लोगों पर टिप्पणी की है कि ये रात-दिन अपना पेट भरने में ही परेशान रहते हैं, बहुत छोटे चित्त के हैं तथा कोई

उत्साह शेष नहीं है इनमें। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह को कुचलते समय अंग्रेजों ने हिंदी प्रदेशों को थरथरा दिया और इन्हें काबू में रखने के लिए साम, दाम, दंड, भेद सभी तरह की नीतियां अपना लीं।

भारतीय नवजागरण में भारतेंदु के साहित्यिक योगदान का ऐतिहासिक-सौंदर्यात्मक अध्ययन न केवल एक खास आधुनिक साहित्यकार, बल्कि संपूर्ण हिंदी प्रदेश की तत्युगीन मनोसामाजिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को समझने में सहायक हो सकता है। इसकी जानकारी मिल सकती है कि उस समय हिंदी प्रदेशों में सामाजिक चेतना का स्तर क्या था। वे बंगाल के नवजागरण के विवेकवादी पहलुओं में कितनी रुचि ले रहे थे एवं खुद वहां के नवजागरण को अपने राष्ट्रवादी सारतत्त्व से कितना प्राणवान बना रहे थे। यह सर्वविदित है कि भारतेंदु ने अनेक बार बंगाल तथा उड़ीसा की यात्राएं कीं। वे बंगाल के नवजागरण के कर्णधार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राजेन्द्रलाल मित्र आदि के गहरे संपर्क में आये। बंगाल के इन नवजागरण कर्मियों ने भी भारतेंदु से हमेशा संबंध बनाये रखा और उनको इज्जत दी। संभवत: 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की धारा में मौजूद रूढ़िवादी तत्त्वों से क्षुब्ध रहने के कारण ही भारतेंदु के मन में बंगाल के नवजागरण कर्मियों से प्रेम था। इसी प्रकार भारत 'दुर्दशा के प्रति हमेशा चिंतित रहने तथा साम्राज्यवाद-विरोधी झुकांव के कारण ही भारतेंदु बंगाल के नवजागरण कर्मियों के बीच लोकप्रिय थे। समग्रता में यह संबंध व्यक्तिगत ही नहीं, वैचारिक भी था। इसका उद्देश्य था बुद्धिवाद तथा राष्ट्रवाद को परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के रूप में न देखकर अंतर्मिश्रित करना। औपनिवेशिक सुधारवाद की ओर जाकर बुद्धिवाद तथा सामंतवाद की ओर बढ़कर राष्ट्रवाद विकृत हो जाता है। हमारे लिए गहरी शिक्षा की बात है कि थोड़ी दूर तक भटकने के बाद आधुनिकतावाद और प्राच्यवाद दोनों साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े होने लगे थे। पश्चिमी बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति के दीवाने बुद्धिवादी तथा गौरवशाली भारतीय परंपरा की आन प्रदर्शित करने वाले राष्ट्रवादी 1857-85 में एक खास बिंदु पर मिल रहे थे और अपने अंतर्विरोधों से उबरने की लगातार कोशिश में थे। 'कोशिश' इसलिए कहा जा रहा है कि 19वीं सदी के तत्युगीन भारतीय वातावरण में विवेकशील-वैज्ञानिक दृष्टि और राष्ट्रवाद के चरम विकास की मांग गलत है। हमें उस युग के बौद्धिक-राष्ट्रीय उभारों को एक विकास में देखते हुए, इन बातों की छानबीन करनी चाहिए कि विभिन्न कार्यों के माध्यम से बंगला नवजागरण के बुद्धिवादी सारतत्त्व तथा 1857-विद्रोह के राष्ट्रीय सारतत्त्व का अंत: मिश्रण किस प्रकार हो रहा था, संपूर्ण अस्मिता तथा स्वत्व के ऐतिहासिक संघर्ष में नवजागरण का व्यापक भारतीय परिप्रेक्ष्य किस सामाजिक-साहित्यिक प्रक्रिया में

विकसित होकर एक महान क्रांति की ओर बढ़ रहा था और 1885 की कांग्रेस किस प्रकार इस महान क्रांति की राह में प्रथमत: एक रुकावट के रूप में सामने आयी थी।

भारतीय जनता सदा से अपनी परंपरा में बहुत आस्था रखती आयी है। अत: पश्चिमीकरण के आवेश में जिन बुद्धिजीवियों ने परंपरा-विरोध की उग्र लाइन चुनी, वे साधारण जनता से सामान्य तौर पर विच्छिन हो गये। और अंतत: साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण की दिशा में बढ़े। इसी तरह आधुनिकीकरण-विरोध की उग्र लाइन पर चलने वाले पंरपरावादी भी सामंतवाद की हिफाजत के लिए साम्राज्यवाद पर निर्भर हुए। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सभी तत्त्व साम्राज्यवादी लक्ष्यों को सिद्ध नहीं करते थे, इस प्रक्रिया के मानवीय तथा जनतांत्रिक तत्त्व नवजागरण के उत्प्रेरक थे। इसी तरह परंपरा के सभी तत्त्व सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद के लक्ष्यों को सिद्ध नहीं करते थे। इस प्रक्रिया के मानवीय तथा जनतांत्रिक तत्त्व नवजागरण के उत्प्रेरक बन रहे थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, अपनी विवेकशील वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों तरफ की अच्छी चीजें चुनकर भारत को आत्मपहचान तथा स्वत्व की एक नयी राह दिखा रहे थे। इनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र थोड़ा भिन्न इसलिए कहे जा सकते हैं कि वे बाकी दोनों की तरह अंग्रेजी राज की चाकरी से दबे नहीं थे। वे अधिक उन्मुक्त वातावरण में काम कर रहे थे। इसलिए अपने समकालीनों में आधुनिकीकरण के प्रति किसी से कम आग्रही न होते हुए भी सबसे स्पष्ट साम्राज्यवाद- विरोधी भारतेंदु ही थे।

अपने नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा व भवति' में डिरोजियोपंथियों के दृष्टिकोण 'संसार का सार मदिरा और मांस है' से एक अलग लाइन लेते हुए भारतेंदु ने नशे का जो विरोध किया है, सो किया ही, उन लिबरलों पर भी उन्होंने व्यंग्यात्मक प्रहार किया, जो औपनिवेशिक सुधारवाद के समर्थक थे। यमराज की सभा में चित्रगुप्त सूचना देते हैं, "सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार ऑफ इंडिया की पदवी मिलती है।" भारतेंदु सिर्फ उन्हीं लिबरलों या आधुनिकीकरण प्रेमियों के समर्थक थे जो अंग्रजों के चित्तानुसार उदारता न रखकर, 'स्वत्व निज भारत गहै' की विचारधारा में विश्वास रखते थे। जो अंग्रेजों के चित्तानुसार बैठते और खड़े होते थे, ऐसे बुद्धिजीवियों तथा रूढ़िवादियों - दोनों का विरोध भारतेंदु ने किया। उपनिवेशवाद के संदर्भ में दोनों के रूप में उन्हें भयानकता नज़र आयी - "इधर नयी रोशनी के युवक कहते हैं -'दिल्लीश्वरों वा जगदीश्वरों' सुनते-सुनते जी थक गया। ..... उधर प्राचीन लोग कहते हैं, हमारे यहां तो 'सर्वदिय भयो नृप: लिखा ही है, जिनता बन सके इनका आदर करो" (मानसोपायन)। उस युग के आधुनिकतावादी और प्राचीनतावादी दोनों तरह के लोगों के पास उपनिवेशवाद के समर्थन का अपना-अपना तर्क था, जिससे तंग आकर

भारतेंदु ने निष्कर्ष निकाला कि भारतवासियों में सत्ता की खुशामद का संस्कार बहुत पुराना है। 'अंग्रेज स्तोत्र' मुकरियों आदि में भारतेंदु की साम्राज्यवाद-विरोधी भावना स्पष्ट है, यह नवजागरण में एक नये सारतत्त्व के प्रवेश की सूचना है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतेंदु ने अनेक स्थल पर 'जीवौ सदा विक्टोरिया रानी' जैसी बातें लिखी हैं, पर यह उनका मूल कथ्य न होकर कौशल है। भारतेंदु का मुख्य कथ्य भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक दुर्दशाओं तथा इनसे मुक्ति से संबंधित है। 'जीवौ सदा विक्टोरिया रानी' के समस्यापूर्ति वाले पद को ही लें, उसमें ऐसी पंक्तियाँ भी हैं "दीन भये बलहीन भये, धनहीन भये सब बुद्धि हिरानी, ऐसी न चाहिए आपु के राज प्रजागन क्यों मछरी बिनु पानी।'' अंग्रेजी राज पर इतना बड़ा प्रहार उस युग के किसी दूसरे नवजागरण कर्मी ने किया, इसमें संदेह है। निश्चय ही भारतेंदु के काम में अंतर्विरोधों की कमी नहीं है, पर इनके प्रति चौकस रहते हुए उन्होंने अपनी चेतना का हमेशा विकास किया। 1880 के बाद उनके साहित्य और विचारधारा में एक मोड़ आया। 'विजय वल्लरी' (1882) तथा 'विजयी विजय वैजयन्ती' (1884) में पुराने कौशल को सुरक्षित रखते हुए भी कहीं भारतमाता से आग्रह नहीं है कि वह सुधार के लिए रानी विक्टोरिया या राजकुंवर से बातचीत करे, अपना दुखड़ा सुनाये। इसकी जगह भारत की ऐतिहासिक गौरव गाथाएं प्रस्तुत हैं, जो संकेत देती हैं कि भारत का इतिहास किसी के आगे रोकर दुखड़ा सुनाने का नहीं है, संघर्ष का है।

रिपन के कुछ सुधारों के बावजूद 1880 के बाद का भारत गुस्से से खौल रहा था। पिछले दशक के दकन का किसान-विद्रोह (1875) तथा बंगाल के समदर्शी गुट द्वारा स्वायत्त शासन की मांग (1876) से अंग्रेज़ सरकार घबराई हुई थी। 1882 में बंकिमचंद्र ने 'बंदे मातरम्' की रचना की। इसी लाल भारतेंदु ने 'अंग्रेज स्तोत्रं' लिखा। दो साल बाद एक गांव बलिया में उन्होंने ललकारा, "बंगाली, मरहट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान - सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी- जिसमें तुम्हारे यहां बढ़े। तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे, वह करो। भाइयों, अब तो नींद से चौंकों, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो, वैसी ही किताब पढ़ो वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत करो'' (क) भारतीय जातियों की राष्ट्रवादी एकता, (ख) स्वदेशी तथा (ग) निज भाषा की उन्नति भारतीय नवजागरण के वे तत्त्व हैं, जो राजा राममोहन राय के समय के नवजागरण में नहीं थे। शिक्षा कारीगरी तथा उद्योग के विकास की बात राममोहन भी कहा करते थे। पर इसमें 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से प्रेरणा लेकर जो नये तत्त्व जुड़े, वे काफी

महत्त्वपूर्ण हैं। भारत को माता के रूप में देखा जाने लगा, 'मदर कल्ट' पैदा हुआ। भारतीय समाज के औपनिवेशिक दमन की प्रतिक्रिया में ही भारतमाता का बिंब बना। एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति की नींव पड़ी, जो जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के ऊपर थी।

स्वेदशी आंदोलन तथा राष्ट्रीय बुर्जुआजी के विकास में नवजागरण प्रमुख रूप से सहायक हुआ। गांधी ने विदेशी के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रसार का जो नारा दिया, वह गुजरात तथा हिंदी प्रदेश में 19वीं शताब्दी में ही मौजूद था। जहां तक भाषा का सवाल है, दयानंद सरस्वती, केशवचंद्र सेन, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे अहिंदी भाषी नवजागरण कर्मियों ने थोड़ा और आगे बढ़कर व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक हित में हिंदी पर खास बल दिया। इन्होंने भारत के आधुनिक जीवन में हिंदी की भूमिका एवं महत्व का रेखांकन किया। एक दूसरी ही लहर थी उस जमाने में, जो उच्चतर राष्ट्रीय लक्ष्यों से पैदा हुई थी। नवजागरण कर्मी नीचे के तबकों से जुड़ रहे थे। भारतेंदु बलिया के किसानों को आशा भरी निगाहों से देख रहे थे, इसका क्या अर्थ है? उनकी नवजागरण-दृष्टि के मूल आधार में देश के साधारण ग्रामीण हैं, पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग नही। विद्यासागर तथा विवेकानंद की भांति उन्होंने साधारण ग्रामीणों में ही आस्था व्यक्त की (जातीय संगीत) और कहा कि इन लोगों में चेतना लाने की कोशिश करनी चाहिए। 1880 के भारतेंदु के विचारों में जो विकास आया, उसको ध्यान में रखे बिना उनका समग्र पुनर्मूल्यांकन असंभव है।

भारतेंदु के वैचारिक विकास का ही परिणाम है कि 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में दयानंद सरस्वती (1824-83) तथा केशवचंद्र सेन (1834-84) पर उनकी टिप्पणी बहुत विवेकपूर्ण है। इससे पता चलता है कि उन्होंने अपने युग के नवजागरण को ऐतिहासिक विच्छिन्नता में नहीं, समग्र विकास में देखा है। वे खुद न आर्य समाजी हुए न ब्रह्मसमाजी, पर दोनों की सुधारवादी भूमिका की उन्होंने प्रशंसा की। दयानंद सरस्वती को उन्होंने खरी-खोटी सुनाई तथा ब्रह्म समाजियों के अर्ध ईसाईपन की आलोचना की। इन सुधारवादियों ने नयी चुनौतियां तो स्वीकार कीं, लेकिन भारतीय परंपरा को उसकी समग्रता में नहीं देखा। उनमें से एक ने केवल वेद तथा दूसरे ने केवल वेदांत को परम माना। एक तरह से उनकी आधुनिक सुधार चेतना में वैदिक या वेदांती पुनरुत्थानवाद का असर बहुत अधिक है।

भारतेंदु ने भारत की परंपरा को निरंतरता में देखा था। तभी, जब स्वर्ग में दो दल हो गये, वह लिबरल दल में केवल दयानंद सरस्वती तथा केशवचंद्र सेन को रख कर संतुष्ट नहीं हुए। उनकी परंपरा खोजते हुए भारतेंदु की निगाह भक्ति आंदोलन के महान

मानवतावादियों की ओर भी गयी। इन्होंने फैंटेसी की भाषा में लिखा कि लिबरल दल में दयानंद तथा केशवचंद्र सेन के पक्ष में "चैतन्य प्रभृति आचार्य, दादू, नानक, कबीर प्रभृति भक्त ज्ञानी लोग थे। '' लिबरल लोगों के नवजागरण को भारतेंदु ने ऐतिहासिक विकास में देखा, इसका रिश्ता भक्ति आंदोलन से स्थापित किया। लेकिन इसका केवल यही मतलब है कि भक्ति आंदोलन के दौरान भी सीमित स्तर पर विवेकपरक ज्ञान का प्रस्फुटन हुआ था–मीरा, चैतन्य महाप्रभु, दादू, गुरुनानक, कबीर, तुलसी आदि भक्तों ने अखंडित मानवता की पीड़ा व्यक्त की थी और अनेक सामंती संकीर्णताओं का विरोध किया था। ये सामंतवाद के संपूर्णत: विरोधी थे तथा पूंजीवादी आदर्शों के प्रवक्ता थे, ऐसी बात नहीं है। इसलिए भक्ति आंदोलन को यूरोपीय रेनसां के स्तर पर रखना (रामविलास शर्मा) भक्ति आंदोलन का अतिमूल्यन है और भारतीय नवजागरण को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना नहीं है। इस संबंध में केवल यह निर्धारित करना चाहिए कि भक्ति आंदोलन सामंती ढ़ांचे के भीतर का ही एक आध्यात्मिक मानवतावादी जागरण है, जिसके प्राक्-जनतांत्रिक तत्त्वों को 19वीं सदी में नया विकसित रूप मिला। इस प्रकार भारतीय नवजागरण में नयी चुनौतियों के कारण जहां कुछ नये तत्त्व पैदा हुए, यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उसमें एक नैरंतर्य भी विद्यमान है।

चिंता का विषय है कि कुछ आलोचक 19वीं सदी के भारतीय नवजागरण का अस्तित्व ही नकारते हैं। यह कहकर कि आज के युग की सारी बुराइयों की जड़ नवजागरणकालीन समाज है, अथवा यह सवाल उठाते हैं कि नवजागरण के पहले क्या हमारा समाज सोया हुआ था, क्या पहले भी अनेक बार लोगों में जागरण नहीं आया था ! पुनरुत्थानवादियों और आधुनिकतावादियों की ओर से ये कोशिशें अधिक हो रही हैं, जिनके प्रति हमें सावधान रहना चाहिए। वे लोग पूरी 19वीं सदी तथा 20वीं सदी के लगभग दो दशकों के ऐतिहासिक भारतीय जागरण का निषेध कर रहे हैं, ताकि धर्मोन्माद, पृथकतावाद, आंचलिकतावाद, वर्णवाद तथा अंग्रेजियत और नव उपनिवेशवाद को फिर से पनपने का अवसर मिले। हमारे लिए चुनौती यह है कि हिंदी प्रदेशों में, जहां नवजागरण बहुत अधूरे रूप में आया, आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष के कार्यक्रम के साथ नवजागरण के अधूरे काम को भी कैसे संयुक्त किया जाये, क्योंकि इसके बिना आर्थिक-राजनैतिक मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

भारतेंदु ने हिंदी प्रदेश के सामाजिक पिछड़ेपन पर काफी बेचैनी प्रकट की थी। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ अतीतवाद या परंपरावाद का भी विरोध किया था। वह हिंदी प्रदेश के लोगों को आपसी बैर और रूढ़िवाद के पंजे से मुक्त कराना चाहते थे। इसलिए

उन्होने एकता और वैज्ञानिक दृष्टि पर लगातार जोर दिया। वह वैष्णव थे, लेकिन उन्होंने भक्ति को निजी घटना से ऊपर नहीं माना। उनका सामाजिक सरोकार विस्तृत था। वैष्णव होने के बावजूद उन्होने कुरानशरीफ का अनुवाद करना शुरू किया। पांचों पैगंबरों की जीवनी लिखी। सिलेक्ट कमिटि में चैतन्य महाप्रभु के साथ गुरुनानक को भी रखा। 1873 में बंगाल में अकाल पड़ा तो भारतेंदु विचलित हुए तथा इसे अंग्रेजी सरकार के ही शोषण का एक रूप माना। उनका जितना ध्यान नये साहित्यिक रूपों और विधाओं पर था, लोककथाओं और लोक तत्त्वों पर भी था। जितना शिक्षित वर्ग पर था, किसान वर्ग पर भी था। वह भारतीय समाज का मुख्य अंतर्विरोध पहचानते थे, तभी उनके साहित्य का भारतीय जनता के सामंतवाद-साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से बहुत घनिष्ठ संबंध है।

सुधारवाद शोषण-दमनमूलक व्यवस्था का एक अमोघ कवच है। लंबे काल के जन असंतोष को शांत करने के लिए 1858 में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था ने फैसला लिया कि कुछ सुधार करने होंगे। साम्राज्यवादी व्यवस्था की तरफ झुकाव रखनेवाले विशिष्ट वर्ग का ख्याल था कि भारतीय समाज ब्रिटिश साम्राज्यवाद का तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारतीय समाज का पूरा 'मजा' तब तक नहीं ले पायेगा, जब तक भारतीय समाज कठोर धार्मिक परंपराओं से जकड़ा हुआ है। इसलिए राजा राममोहन राय ने 16वीं शताब्दी के आरंभ में ही 'सुधारवाद' का रास्ता दिखाया था। प्रथम राष्ट्रीय विद्रोह का कोई संबंध उपर्युक्त सुधारवाद की कोख से न था, बल्कि इसकी छत्रछाया में काम करने वाले सर सैयद अहमद जैसे व्यक्तियों ने 1858 के विद्रोह का विरोध किया था। इस विद्रोह को कुचलने के बाद अंग्रेज़ी राज के पांव जम गये, लेकिन सुधारों की ज़रूरत इसने तल्खी से महसूस कर ली और विक्टोरियाई सुधारवाद की, जो वस्तुत: 'औपनिवेशिक सुधारवाद' का सरकारी रूप था, परंपरा विकसित हुई। 21वीं सदी की देहरी पर विदेशी पूंजी को खुला आमंत्रण एवं नयी आर्थिक नीति से उपर्युक्त औपनिवेशिक सुधारवाद की तुलना की जा सकती है।

सुधारवाद का एक दूसरा रूपभेद है, 'क्रांतिकारी सुधारवाद'। औपनिवेशिक सुधारवाद उपनिवेशवाद के हक में चलता है, क्रांतिकारी सुधारवाद जनता के जनतांत्रिक संग्राम के हक में। औपनिवेशिक सुधारवाद अंधा होता है, यह सारगर्भित राष्ट्रीय परंपराओं को रौंदता चलता है, और हमेशा विशिष्ट वर्ग को तुष्ट करता है। क्रांतिकारी सुधारवाद दृष्टिसंपन्न होता है, यह राष्ट्रीय परंपराओं से विकासशील संबंध रखता है और हमेशा साधारण कृषक-मजदूर वर्ग के हित में काम करता है। औपनिवेशिक सुधारवाद लोगों को परजीवी बनाता है और एकांगी नवजागरण लाता है, जबकि क्रांतिकारी सुधारवाद लोगों को आत्मसचेत करता है और समग्र नवजागरण लाता है। भारतेंदु ने 1857 के विद्रोह की असफलता तथा

देश के शासन पर अंग्रेजी की मजबूत राजनैतिक-सैनिक पकड़ का जब अच्छी तरह अहसास कर लिया, तब धारणा बनाई कि अंग्रेज़ी राज को सैनिक रास्ते से हटाना संभव नहीं है, क्योंकि अंग्रेज़ों की सेना बहुत विशाल और आधुनिक है। उनके सामने एक ही रास्ता था, व्यापक उपनिवेशवाद-विरोधी संग्राम के लिए क्रांतिकारी सुधारों का प्रचार कर भारतीय समाज को गतिशील ढांचा देने का और सुधार भी इस प्रकार करने का कि इसका फल भारतीय जनता का जनतांत्रिक संघर्ष चखे, उपनिवेशवाद नहीं। भारतेंदु के समग्र नवजागरण के दृष्टिकोण की मूल प्रेरणा यही है। आज दूसरे नवजागरण के दौर में एक वैसी ही चेष्टा की जरूरत है।

भारतेंदु राजनीति को उपेक्षा से नहीं देखते थे और आधुनिक युग के आर्थिक-सांस्कृतिक विकास में इसकी भूमिका को पर्याप्त महत्त्व देते थे। उन्होंने साहित्य और राजनीति में संबंध माना। उनके साहित्य का तीन-चौथाई हिस्सा राजनीति-आधारित है, उसमें साम्राज्यवाद-सामंतवाद का मखौल है। इसलिए भारतेंदु के सुधारवाद की सबसे बड़ी खूबी है कि उसके पीछे एक स्पष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण है। वह नयी रोशनी के बौद्धिक गुलामों के स्वर में दिल्लीश्वर वायसराय को जगदीश्वर नहीं कह सकते थे, यह देखते हुए भी कि इस तरह के लोग धार्मिक अंधविश्वास के विरुद्ध हैं तथा सामाजिक सुधार ला रहे हैं। इनके सामाजिक सुधारवाद का ढंग कैसा है, इसे भारतेंदु ने स्पष्ट किया है 'भारत दुर्दशा' में। पुस्तकालय की बैठक के एक दृश्य में, देश का सुधार करने के लिए नयी रोशनी के लोग इकट्ठे हैं। ये बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। एक देसी साहब कहते हैं-'क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।'बैठक में एक कवि भी हैं। भारत दुर्दैव के मुकाबले देशप्रेमियों की फौज भेजने के स्थान पर वह हाथ मटकाकर यह कहना चाहते हैं-'मुए, इधर न आइयो! इधर जनाने हैं।' एक पत्रिका के संपादक भी खूब फरमाते हैं- 'एजूकेशन की सेना बनायी जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायं।' इन्हीं हालातों पर भारतेंदु ने एक देसी साहब से कहलवाया-'मगर जब कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।' उस समय के नवशिक्षित सुधारवादियों की साम्राज्यपरायणता, कायरता तथा बतौलाबाजी को उघाड़कर भारतेंदु ने वस्तुतः यही कहना चाहा है कि क्रांतिकारी दृष्टि के बिना सच्चा सुधार संभव नहीं है।

उनका एक संकेत और है। देसी साहबों से उनका आशय हिंदी प्रदेश के सुधारवादियों से है, जबकि 'भारत दुर्दशा' में इनके अलावा एक सुधारवादी बंगाली तथा दूसरा महाराष्ट्री है। इन सबके माध्यम से वह बंगाल-महाराष्ट्र की सामाजिक स्थिति तथा हिंदी प्रदेशों की

सामाजिक स्थिति का अंतर भी दिखाते हैं। 'भारत जननी' (1877) में यह अंतर एक पाद टिप्पणी में और अधिक स्पष्ट हो जाता है-'बंग भाषा में एका और उत्साह का प्रवेश भी दिखाया गया है, किंतु इस देश में अभी न एका है, न उत्साह। इस हेतु उनका सर्वांग यहां नहीं लाये।' इन पंक्तियों में भारतेंदु ने वस्तुत: हिंदी प्रदेश का अनुभव ही व्यक्त किया है कि बंगाल की तरह यहां एका और उत्साह नहीं है। गोकि 'भारत दुर्दशा' की भांति 'भारत जननी' का अंत निराशावादी नहीं है, लेकिन इसे पढ़कर लगता है कि हिंदी प्रदेश में नवजागरण के कार्य की दुष्करता का अंदाजा भारतेंदु को था। तभी भारतमाता अपने बेटों को उठाना चाहती है। पर एक को उठाती है तो दूसरा सोता है और दूसरे को उठाती है तो पहला सोता है। इसी भांति सबको भारत माता ने उठाया, किंतु सब के सब पूर्ववत सो गये' (भारत जननी)। व्यापक सामाजिक जड़ता और कूपमंडूकता के कारण हिंदी नवजागरण का कार्य रेगिस्तान में नदी ले जाने की तरह था।

जनता को तबाह करने तथा उसकी संघर्ष शक्ति छिन्न-भिन्न करने के लिए साम्राज्यवादी तरह-तरह से तत्पर रहते हैं। 'भारत दुर्दशा' में भारतेंदु ने इस पर भी गौर किया-''फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता–इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिलामिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अंत में भिन्नता गयी। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना-पीना, सब एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य। देखें आ ही के क्या करते हैं।'' आज जिन साम्राज्यवादी साजिशों के परिणामस्वरूप मध्य वर्ग अंतर्विभाजित है, मजदूर वर्ग अंतर्विभाजित है, देश, परिवार और लोग अंतर्विभाजित हैं, उन साजिशों की पहचान भारतेंदु को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अनुभव से हो चुकी थी। उसी समय उन्होंने जनता को सावधान भी कर दिया था।

भारतेंदु ने अंग्रेजी राज का सिर्फ एक वरदान माना–शिक्षा। वह विलायत की प्रशंसा इसलिए करते थे कि वहां विद्या का प्राबल्य है, वहां के समाज में जनतंत्र की झलक है। इसलिए वह अंग्रेजों में भी दो तरह के लोग देखते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनमें पश्चिम के अंतर्विरोधों की समझ थी। वे वहां की मानवीय, वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक उपलब्धियों का लाभ भारतीय जनता तक पहुंचाना चाहते थे–''विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अंगरेज राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन अब गये, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना। विद्या की चर्चा फैली, सबको सबकुछ कहने–सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से

नयी-नयी विद्या और कारीगरी आयी। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भांग के गोले, ग्राम गीत, वही बाल्य विवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्म पत्री की विधि!'' जबकि जन्मपत्री जैसी चीजें वर्तमान आधुनिक समाज में अभी तक चल रही हैं, शिक्षितों के मध्य भी भूत-प्रेत-जिन की धारणा विद्यमान है, भारतेंदु ने अपने जमाने में इन अंधविश्वासों का जमकर विरोध किया। जोखिम उठाकर भी जो उन्होंने लिखा – 'हिंदुओं का शास्त्र पंसारी की दुकान है' जातिप्रथा की भी खिल्ली उड़ाई 'सबै जाति गोपाल की' लिखकर। वह धर्म में परिष्करण चाहते थे, ताकि इस रास्ते से राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के विकास में जो बाधाएं उत्पन्न होती हैं, वे दूर हों। उन्होंने निरूपित किया, समाज की उन्नति का मूल धर्म है।जहां का धर्म परिष्कृत नहीं, वहां का समाज उन्नत नहीं, दिल्ली सल्तनत तथा मुगल शासन में हिंदुओं पर अत्याचार हुए, इसका उन्हें रंज था, फिर भी सांप्रदायिकता उन्हें छू तक नहीं गयी थी। सभी संप्रदाय और वर्ग के लोगों के प्रति आदर रखते हुए अंतत: वह चाहते थे कि लोग रूढ़ियों को त्यागें और आधुनिक जीवन अपनाए। समग्रता में यह कबीर की परंपरा का आधुनिक विकास था।

आधुनिक शिक्षा की वजह से ही यह चमत्कार हुआ। पर इसके दोषों को ऐसा नहीं है कि भारतेंदु नहीं समझते थे। उन्होंने मुख्य दोष यही देखा कि अंग्रेजी राज ने शिक्षा का अर्थ संकुचित कर दिया है। इसका सीमित लक्ष्य है साम्राज्यवाद के चाकर तैयार करना, उस पर हालत यह है कि 'तीन बुलायें तेरह आवें। दूसरा दोष है वैचारिक परजीविता, जो जितना अधिक शिक्षित है, वह बौद्धिक तौर पर उतना ही अधिक गुलाम है। नयी रोशनी के ऐसे लोग कायर और स्वार्थी हैं।

भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया, लेकिन ऐसी स्त्री-शिक्षा का नहीं, जो स्त्री को निर्लज्ज बनाती है।'नील देवी' की भूमिका में उन्होंने सिर्फ इन्हीं संदर्भों में भारतीय स्त्रियों को आगे आने का आह्वान किया–''और बातों में जिस भांति अंगरेज स्त्रिया सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज संभालती हैं, अपने संतान गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को गृहदासता और कलह ही में नहीं खोतीं''। स्त्री को घर की दासता और कलह से आज़ाद कर सक्रिय राष्ट्रीय-सामाजिक कर्मी बनाने की परिकल्पना 19वीं शताब्दी के नवजागरण का एक प्रमुख आयाम है।

भारतेंदु को अपने जमाने में एक नयी चीज का ज्ञान हुआ था, 'स्वत्व' का। 'स्वत्व' 19वीं सदी के नवजागरण की एक मुख्य खोज है। हम साफ देखते हैं कि भारतेंदु आधुनिकीकरण

के समर्थक थे, पर 'स्वत्व' की कीमत पर नहीं। क्योंकि वह उन सुधारवादियों की तरह नहीं थे, जिन्हें समाज सुधार की चकाचौंध से अपने 'स्वत्व' तथा जाति और देश के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की ज़रा भी फिक्र नहीं थी। भारतेंदु के नवजागरण का स्वप्न इंगलैंड के आधुनिक समाज के जनतांत्रिक जागरण और भारत की गौरवशाली परंपरा के बीच रचनात्मक संवाद का परिणाम है, किसी आत्मविसर्जनवाद का परिणाम नहीं।

ब्रिटेन की जनतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था का कोई चिह्न भारत की औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था में नहीं था, सुधारों के बावजूद। सभी सुधार छद्मवेशी थे। जिन दिनों औपनिवेशिक लाइन पर चलने वाले सुधारवादी देशवासी अंग्रेजों की न्यायशीलता के आगे मत्था टेकते थे, भारतेंदु ने 'कविवचन सुधा' (13 अगस्त, 1874) में क्षुब्ध होकर लिखा था, 'कोई नहीं सुनता, अंधेर नगरी है। व्यर्थ न्याय और आज़ादी देने का दावा है। सब स्वार्थ साधते हैं।' अपने प्रहसन 'अंधेर नगरी' में उन्होंने औपनिवेशिक सामंती व्यवस्था की विसंगतियों को उभारा था तथा अपने जमाने के तथाकथित न्याय और आज़ादी की इतनी दूरंदेशी से खिल्ली उड़ाई कि वह प्रहसन आज भी हमें मनोरंजन देने के साथ आत्मसचेत करता है। अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक-सामंती शासन व्यवस्था आंदोलनों के दबाव से कभी बहुत मज़बूर हो जाती थी, तभी किसी सामाजिक सुधार में हाथ डालती थी, अन्यथा कहीं से उसकी दिलचस्पी भारतीय सामाजिक ढांचे को गतिशील बनाने एवं इसमें न्याय और आज़ादी की स्थापना करने में न थी।

भारतेंदु ने 'विषस्य विषमौषधम' (1876) में दिखाया कि बड़ौदा नरेश मल्हार राव को हटाने के बाद जब सीधा अंग्रेज़ी राज स्थापित हो गया, तब भी पुरोहित भंडाचार्य खुश थे, क्योंकि विद्या तर्कबुद्धि, विज्ञान के साधनों से लैस होने के बावजूद अंग्रेजी राज ने धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों पर कोई अंकुश नहीं लगाया और भारतीय संदर्भ में सामाजिक विशेषाधिकार पिछड़ापन दूर करने में दिलचस्पी न ली। इसी तरह वर्तमान समय में भी विज्ञान और राजनीति का समाज से ऐसा कोई संबंध नहीं पैदा किया जाता, जिससे हमारा समाज रूढ़ियों, पाखंडों और आध्यात्मिक चमत्कारवाद की अवधारणाओं से मुक्त हो जाये।

'विषस्य विषमौषधम्' के भंडाचार्य वस्तुतः उन धार्मिक पाखंडियों के आचार्य हैं, जिनकी करतूतों के आगे भक्त हृदय भारतीय जनता निढाल थी। भंडाचार्य कहते हैं, 'अंगरेज ! राम और युधिष्ठिर का राज्य इस काल में प्रत्यक्ष कर दिखाया। अहा हा ! (ऊपर देखकर) क्या कहा ? कहो और क्या चाहते हो ? भला और क्या चाहिए, हमारा भंडपना जारी ही रहा.....!'' ऐसे ही उद्धरणों के संदर्भ में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जैसे आलोचकों ने कहा कि भारतेंदु राजभक्त थे। जबकि इस उद्धरण का आशय सिर्फ यह है कि मल्हार राव दूध

की मक्खी की तरह निकाल फेंके गये और अंग्रेजों ने अपने हाथ में सत्ता ले ली, तब भी समाज में भंडाचार्य का धार्मिक पाखंड जारी रहा। सत्ता बदली, व्यवस्था नहीं।

भारतेंदु को इसका अहसास था, कि एक तरफ ताकत है और दूसरी तरफ सच्चाई। परंतु वह राजा हरिश्चंद्र की तरह सच पर अटल थे। उनका एक मुख्य लक्ष्य था धर्म और सत्य की परम एकता की खोज। राजा हरिश्चंद्र की तरह उनका विश्वास था कि एक दिन धर्म और सत्य पर अडिग रहने की साधना रंग लायेगी, कष्ट दूर होंगे। इसी से आकर्षित होकर उन्होंने 'सत्य हरिश्चंद्र (1875) लिखा, धर्म का सच्चा रूप स्पष्ट करने के लिए। सत्यवादी हरिश्चंद्र सें ही उन्हें नैतिक बल मिला। वह फैली कुरीतियों के संदर्भ में डंके की चोट पर कह सके, देखी तेरी काशी लोगों देखी तेरी काशी।'' 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक से उन्होंने कर्तव्य और सच्चाई पर अड़ना सीखा, जबकि उस जमाने में कई लोग जरा-जरा से स्वार्थ के लिए तुरंत डिग जाते थे। एक दूसरी बात भी थी, भारतवासियों का राज्य भी तो उनके हाथ से छल और प्रपंच की उसी प्रक्रिया से छिना था, जिस प्रक्रिया में राजा हरिश्चंद्र का। उनके सत्यवादी व्यक्तित्व ने भारतेंदु के नैतिक पक्ष का निर्माण किया था, जिसके बल पर उन्होंने भंडाचार्य जैसे पाखंडियों से लोहा लिया। पाखंडियों ने धर्म का रूप विकृत कर दिया था। भारतेंदु का ऐसे पंडित-पुरोहित वर्ग से प्रबल विरोध था। वह कर्मकांड के स्थान पर व्यापक प्रेम की अनुभूति को महत्व देते थे। जिस प्रकार रीतियुगीन दरबारी संस्कृति का विरोध करते थे, धार्मिक पाखंड का भी तिरस्कार करते थे। इसकी कीमत चुकानी पड़ी लोक बहिष्कार झेल कर। इससे मर्माहत होकर भारतेंदु ने अपने बारे में प्रकारांतर से एक बार कहा था, "कहेंगे सबै ही रैन नीर भरि भरि, पाछे प्यारे हरिश्चंद्र की कहानी रह जायगी।''

इस प्रकार भारतेंदु का अंतत: यही कटु अनुभव था कि अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज में न न्याय और आज़ादी के पश्चिमी जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की, न रूढ़ियों से टकराकर बुद्धिवादीकरण पर वस्तुत: कोई ज़ोर दिया।

बिना एक पैनी राष्ट्रीय-सामाजिक दृष्टि के अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का इतना सधा अनावरण संभव न था। भारतेंदु ने यह अनावरण एक राजनीतिक नहीं, साहित्यकार की हैसियत से किया था और एक सुधारवादी के रूप में उनके प्रयासों का स्वरूप भी व्यक्तिगत था, संगठित नहीं। फिर भी इससे स्पष्ट हो जाता है कि असंगठित स्तर पर ही सही, हिंदी प्रदेश में नवजागरण की भावना का न केवल बिकास होने लगा था, बल्कि अपने ढ़ांचे में वह भावना एकांगी न होकर समग्रतावादी थी। भारतेंदु ने अपने क्रांतिकारी सुधारवाद की परिकल्पना बलिया के ही भाषण में इस प्रकार प्रस्तुत की थी, "सुधारना भी ऐसा होना

चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर मे, काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश में उन्नति करो।'' सभी प्रदेशों में रहने वाली विभिन्न जातियों की सब स्थितियों में सुधार भारतीय नवजागरण की एक नयी अवधारणा थी। सुधारवाद की इस दृष्टि के साथ राष्ट्रवाद का भी आग्रह था।

भारतेंदु के बहुत पहले से इस देश में सांस्कृतिक एकता थी, लेकिन सम्मिलित आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अस्तित्व और इस अस्तित्व की चेतना के अभाव में राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा का सुस्पष्ट राजनैतिक निर्माण नहीं हो पाया था। भारत में राष्ट्रीय चेतना के राजनैतिक निर्माण की परिस्थितियां पश्चिमी देशों से भिन्न थीं। इसलिए यहां भारतीय जनता का साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी संघर्ष ही जो शिक्षा, विकसित आर्थिक-सामाजिक विनियम एवं आवागमन के नये साधनों के प्रसार के कारण व्यापक होता गया, 'राष्ट्रीय चेतना' के राजनैतिक निर्माण का मुख्य कारक था। भारतेंदु में देश की सांस्कृतिक एकता का बोध आरंभ से था और वह आरंभ से देशभक्त थे। पर जब उन्होंने अध्ययन और यात्राओं के जरिये नये अनुभव प्राप्त किये, उनके देशप्रेम में राष्ट्रवाद भी हिलोर लेने लगा।

भारतेंदु ने अपनी नगरी काशी का वर्णन करते हुए इसे जिस अनोखे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा, आज हम उस दृष्टिकोण से पूरे देश को देख सकते हैं – "जहां द्रविड़, मगध, कान्यकुब्ज, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, गुजरात इत्यादि अनेक देश के लोग परंपरा में मिले हुए अपना-अपना काम करते दिखते हैं और वे एक-एक जाति के लोग जिन मुहल्लों में बसे हैं वहां जाने से ऐसा ज्ञात होता है मानो उसी देश में आये हैं, जैसे बंगाली टोले में ढाका, लहौरी टोले में अमृतसर का और ब्रह्मघाट में पूना का भ्रम होता है'' (काशी के छायाचित्र, 1874)। राष्ट्रीय एकता तथा जातीय विशिष्टता की इतनी सुंदर अवधारणात्मक उपस्थिति एक खास संकेत है कि कैसे भारतीय राष्ट्र का सपना देखा था भारतेंदु ने। उसमें आज की भाँति एकता और निजी विशिष्टता की टकराहट नहीं थी, क्योंकि साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी संघर्ष व्यापक रूप से सतह पर उभरने लगा था। केंद्र और राज्य या राष्ट्रीय एकता और जातीय विशिष्टता में संबंध केवल तभी डगमगाता है, जब साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के नये-नये रूपों के खिलाफ एकबद्ध संघर्ष को निहित स्वार्थी तत्त्वों द्वारा सतह के नीचे दबाकर खत्म करने या फोड़ने का प्रयास होता है।

भारतेंदु भारतवर्ष की उन्नति का अर्थ साधारण लोगों की उन्नति लगाते थे। इसलिए उनके सुधारवाद में गरीबों के जीवन में सुधार पर विशेष बल था। बंकिमचंद्र ने 1878

में 'साम्य' शीर्षक एक लेख में कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण व्यक्त किया था, "पददलित लोगों को इस पृथ्वी पर सुखी होने का उतना ही अधिकार है जितना तुम लोगों को है। उनका सुख छीनने की कोशिश मत करो। याद रखना वे भी तुम्हारे भाई हैं, तुम्हारे समान हैं।" ईश्वरचंद्र विद्यासागर और विवेकानंद का भी यही आह्वान था। हिंदी प्रवेश में भारतेंदु के नवजागरण का लक्ष्य भी यही था, क्योंकि उनकी दृष्टि पश्चिम भक्त सुधारवादियों की भांति जिस प्रकार साम्राज्यपरायण न थी, विशिष्ट वर्ग-केंद्रित भी नहीं थी। सुधार के विचारों को लोक गीत-संगीत के माध्यम से प्रचारित करने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा था, "जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, वह सार्वदेशिक होगी और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षण से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को, इस प्रकार जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है" (जातीय संगीत)। जोकि भारतेंदु ने नाटक का विकल्प चुना, पर उन्होंने आवश्यक संकेत दे दिया कि सुधारवाद की जरूरत मूलत: किस वर्ग के चित्त का संस्कार बदलने के लिए है और इस काम में लोककला के रूप कितने सहायक हैं। अपने नाटकों में खास उद्देश्यपरक ढंग से उन्होंने स्वांग, नौटंकी, प्रहसन जैसे लोक-नाट्य रूपों का ही अधिक इस्तेमाल किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 1857 की चेतना को सांस्कृतिक-वैचारिक नवजागरण का रूप तो दिया ही, उसके राजनैतिक सारतत्त्व को कुंठित किये बिना साहित्य एवं समाज को क्रांतिकारी सुधारवाद का रास्ता भी दिखाया, ताकि 'कविवचन सुधा' उद्घोषणा के अनुसार 'स्वत्व निज भारत गहे'। हर तरह का जोखिम उठाकर उन्होंने 'कविवचन सुधा' में यह आशा भी व्यक्त की कि 'जिस तरह अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ, वैसे ही भारतवर्ष स्वाधीनता लाभ कर सकता है।' अमेरिका की उपनिवेशवाद-विरोधी स्वातंत्र्य युद्ध में विजय (1783) तथा उसके एकता एवं पुनर्निर्माण के संघर्ष (1850-76) ने भारतेंदु को उसी प्रकार अभिप्रेरित किया था, जिस प्रकार बीसवीं शताब्दी में रूस पर जापान की विजय (1905) तथा रूस की नवंबर क्रांति (1917) ने व्यापक भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को अभिप्रेरित किया। हम पाते हैं कि एक व्यापक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतेंदु ने भारतीय स्वत्व, आत्मपहचान तथा स्वंतत्रता की जैसी खोज की, वह अपने में विशिष्ट है, क्योंकि समग्र नवजागरण का उनका संदेश भारतीय जनता के गहरे चित्त से निकलकर सामने आया था। इसके पीछे एक दीर्घ ऐतिहासिक संघर्ष था। किंतु देश के राजनैतिक-सांस्कृतिक जीवन में 1885 का वर्ष भारतेंदु हरिश्चंद्र के संघर्ष की परंपरा के विकास का वर्ष न होकर, विपर्यय का वर्ष था। धन्यवाद, यह दृश्य देखने के लिए भारतेंदु जीवित न थे।

2. उचित उपदेश का मर्म

रमेश चन्द्र शाह

वाग्विभव की-खासकर, कवित्व-शक्ति की लोकव्यापी और लोकोत्तर संभावनाओं की जैसी संतुलनकारी पकड़ और पहचान इस देश की सभ्यता में अनायास प्रतिफलित हुई है वैसी शायद ही कहीं अन्यत्र हुई हो। इस बात को देख पाने के लिए न तो अन्य संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति के बारे में कोई बढ़-चढ़-कर दावा पेश करने की ज़रूरत है, न अन्य साहित्यों की तुलना में भारतीय साहित्य के बारे में। प्रत्येक सभ्यता के अपने पूर्वग्रह होते हैं। कवि और कवित्व के प्रति कुतूहल और पर्युत्सुकी भाव तो सभी के मन में रहता है; किन्तु चूँकि कविता केवल मानव-संवेदन को विकसित करने का स्वयं साध्य रूपी साधन ही नहीं है, उसे प्रयोजन विशेष के लिए सीधे-सीधे प्रभावित करने का उपकरण भी बनाया जा सकता है, इसीलिए जब कोई समुदाय सभ्यता की दिशा में आत्म-सजग होने लगता है, तब लगता है उसे तय करना पड़ता है कि उसकी संरचना और व्यवस्था में इस कवित्व की जगह क्या होगी। उदाहरण के लिए यूरोपीय सभ्यता के दो प्रमुख घटकों को ही लें – क्या ऐसा नहीं लगता कि यहूदी परम्परा में यह कवित्व शुरू से ही धर्मतत्व का अनुयायी होते हुए भी उसके सिर पर चढ़के बोलता रहा है – उसे स्थितप्रज्ञता की बजाए एक आवेशधर्मी वाग्मिता की ओर खींचता हुआ? दूसरी ओर, यूनानी सभ्यता के एक महत्वपूर्ण मोड़ पर प्लेटो को अपने आदर्श गणतंत्र से कवियों को निर्वासित करना पड़ता है। प्लेटो में भी तो, कहते हैं, जन्मजात कवित्व था। क्या कारण है कि उसने गद्य की तरह राह चुनी? क्या कारण है कि उसके अन्तर्घट में पैठा कवि मनीषी बनने के लिए अपने कवित्व से ही पल्ला झाड़ लेना जरूरी समझने लगा ? क्या कवित्व अनिवार्य रूप से सत्य-दर्शन के आड़े आने वाली चीज़ है? क्या वह संवाद (डायलॉग) और संगीति (सिम्पोज़ियम) की सभ्यतापोषक प्रवृत्ति को आदिम एकालाप या प्रलाप की अराजकता में ढकेल देता है? क्या इसीलिए कवि की जगह सभ्यता के केन्द्र में नहीं, परिधि में ही कहीं होनी चाहिए? स्वायत्त किन्तु बहिष्कृत: सम्माननीय किन्तु शंका योग्य: जीवन या जीवनमुक्ति के साधन की तरह नहीं, बल्कि प्रसाधन की तरह; श्रवणीय और सेवनीय, किन्तु किसी मित्र या गुरु की तरह नहीं, बल्कि एक मन्त्रसिद्ध ओझा या मानसोपचारक की तरह।

अकारण नहीं, कि यूरोप के इतिहास में धर्म और दर्शन और साहित्य ने जल्द ही अपनी-अपनी स्वायत्त धुरियाँ पकड़ लीं। स्वायत्त गति के अपने फ़ायदे होते हैं और अपने नुकसान भी। उसमें विकास की गति तेज़ होती है: तीखापन और सफ़ाई आती है; विशेषीकरण और ध्रुवीकरण होता है। मगर दर्शन तो दर्शन ही है। उसे आपने ज्योंही

धर्म और साहित्य से तोड़कर एक सर्वतन्त्र-स्वतंत्र फलसफे की तरह छोड़ा कि **फिर यह अश्वमेध के घोड़े की तरह धर्म और साहित्य को भी रौंदकर आगे बढ़ेगा और दिग्विजयी** होकर भी वापस नहीं लौटेगा। तर्क-बुद्धि की दिग्विजय की भी कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है? दर्शन की धर्मनिरपेक्ष स्वायत्त गति का आधुनिक विज्ञान में परिणत होना अनिवार्य था और उसी रफ़्तार से पहले धर्म का और फिर धीरे-धीरे साहित्य का सिकुड़ना भी। धर्म तो इस दौड़ में पिछड़ते-पिछड़ते अप्रासंगिक ही हो गया और कविता से उम्मीद की जाने लगी कि वह धर्म की जगह ले लेगी। वैसा तो ख़ैर नहीं हुआ मगर आधुनिक पश्चिमी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा-और सबसे संवेदनशील हिस्सा दरअसल पश्चिम की चेतना के क़ेन्द्र में ही पैदा हो गए एक बड़े भारी उजाड़ को बसाने की कोशिश ही है। विडम्बना यह है कि जहाँ कभी साहित्य और दर्शन दोनों को धर्म के अतिसंगठित एवं अति-आचारी संस्थान से लड़ना पड़ा था अपनी आज़ादी और स्वायत्ता के लिए, वहाँ अब साहित्य को अकेले ही सारी लड़ाई लड़नी पड़ रही है: एक नहीं, दो-दो मोर्चों पर अब उसके दो-दो दुश्मन हैं और दोनों के चेहरे बदले हुए हैं।

हिन्दुस्तान में धर्म, दर्शन और साहित्य के बीच विवेक तो किया गया और खूब किया गया पर इस हद तक नहीं, कि तीनों एक दूसरे से इस कदर छिटक जाएँ। उसने शुरू से सबको साथ लेकर चलने की ज़िद या कहिए, मुसीबत मोल ले ली। 'उच्छृंला: कवय:, - हमारे पुरखों को भी पता था; पर इसमें उन्हें ख़तरा नहीं, अमूल्य अवसर दीखा। कवि स्वयंभू है तो क्या हुआ! इसीलिए बल्कि इसी कारण तो वह मनीषी और परिभू भी हो सकता है और होता ही है। दर्शन तो भासता ही मन्त्र के जरिए है: उसे अपने उद्‌गम से इतना दूर भी क्यों छिटकने दिया जाय कि वह सिर्फ़ कुछ दिमाग़ी क़िस्म के लोगों का आपसी मामला बनके रह जाए और बाक़ी सारी प्रजा को निरा उपभोक्ता बनाके धर दे। ऋषि ही क्यों न हो, उसकी अन्तर्दृष्टि का सुफल तो सभी तक पहुँचना चाहिए। जो पूरी जाति को दार्शनिक बनाके न छोड़े, वह दर्शन ही क्या! रही धर्मबुद्धि, सो वह तो कवित्व के योग से ही लोक-व्यापी हो सकती है। बिना वेद रटे भी अगर करोड़ों जन हजारों वर्षों तक अपने अन्तर्बाह्य जीवन को अपनी धार्मिक संस्कृति के उच्चतम आविष्कारों से अनुप्राणित रख सकते हैं तो इसका सर्वाधिक श्रेय किसको है - उन्हीं को न, जिन्होंने **रामायण, महाभारत, गीता** और **पंचतन्त्र, जातक** और **धम्मपद,** मानस और पदावलियाँ, सूक्त और स्तोत्र रचे? यह सब क्या काव्य नहीं है, साहित्य नहीं है और यह सब क्या धर्म और दर्शन भी नहीं है ? पश्चिम के ठेठ आधुनिक साहित्य में धर्मदृष्टि और तथाकथित धर्मनिरपेक्ष मानववादी दृष्टि के बीच जिस तरह का विग्रह उठ खड़ा हुआ, वह क्या हमारी परम्परा और हमारी आधुनिकता दोनों के लिए निरर्थक नहीं है? जिस

अन्तर्विरोध के चलते पश्चिम की सभ्यता में तथाकथित 'मैडिटेटिव थिकिंग' तथाकथित 'कैल-कुलेटिव थिंकिग' के सामने उत्तरोत्तर आत्मसमर्पण करते हुए अन्ततः उसी में विलीन हो गयी, उसे क्या उपनिषद् और हितोपदेश के बीच यथावत् रोपा जा सकता है। क्या प्रकृति और संस्कृति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, देवता और मनुष्य के बीच, धर्मतंत्र और राज्य के बीच, प्रवत्ति और निवृत्ति के बीच, जीवनबोध और मुक्ति-बोध के बीच, एक पुरुषार्थ और दूसरे पुरुषार्थ के बीच हिन्दुस्तानी अनुभव ने उसी तरह के विवेक और उसी तरह के सम्बन्ध विकसित किए हैं जिस तरह के यूरोप के इतिहास ने? यदि नहीं, तो हम अपने जीवन और अपने साहित्य का मूल्यांकन अपने ही जातीय अनुभवों के आधार पर क्यों नहीं करते? इसी तरह, जैसे यूरोपियन विद्वानों ने हमारे वाङ्मय की व्याख्या और विवेचना अपने मानदण्डों से की है, उसी तरह हमने भी स्वयं उनके साहित्यिक-दार्शनिक, और धार्मिक ग्रन्थों की विवेचना अपने अनुभव के मानदण्डों से क्यों नहीं की या कि क्यों नही करते? क्या अपने भूतभूर्व शासकों के साथ दो सौ साल पुराने सम्बन्ध की यही इकतरफा परिणिति हमें क़बूल है? क्या अपने लम्बे इतिहास के दौरान हर आक्रान्ता या जिज्ञासु विदेशी के साथ हमने इसी तरह का रिश्ता बनाया था? अगर ऐसा होता तो क्या हम जीवित भी रह सकते थे एक सभ्यता, एक जीवन दृष्टि के रूप में ?

औरों की आशा है त्याज्य,
जहाँ नहीं वह, वहीं स्वराज्य।
है आदान एक अपमान,
कर न सकें यदि हम प्रतिदान।

पराया मोह : मैथिलीशरण गुप्त

यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो राष्ट्रकवि की ये पंक्तियाँ ही बीसवीं सदी के भारतीय समाज की परोपजीवी दुर्बलता को रेखांकित करने को काफ़ी हैं। कहते हैं, कवित्व भी अपने ऊँचे आसन से उतरकर उद्बोधनात्मक और उपदेशात्मक बनने को तभी विवश होता है, जब समाज का अंतःसत्व क्षीण हो जाता है। गर्वोन्नत और सहज आक्रामक सभ्यता के सामने कुचले पड़े बुद्धिजीवियों के लिए यह कहना तो बड़ा आसान है कि 'हमारे यहाँ यह नहीं है, वह नहीं है' याकि 'फलाँ-फलाँ चीज़ काव्य नहीं है, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है।' किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उनकी अभिलाषाओं का महान् काव्य सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभा का फल नहीं हुआ करता; उसके लिए महान् समाज और महानकाल का भी संयोग ज़रूरी होता है। और यह भी, कि स्वयं उनकी अपनी बुद्धि और आचरण इन दोनों जरूरतों के , दोनों संभावनाओं के आड़े आता है। यदि राजा काल का कारण होता है तो

बिना स्वराज पाए आखिर काल भी कैसे अनुकूल हो जाएगा ? और यदि-जैसाकि गीता के कवि का कहना है -'समाज के श्रेष्ठ जन जैसा करते हैं, उसी का इतर जन अनुकरण करते हैं' - तो फिर समाज का बौनापन भी इतर जन का नहीं, उसके बुद्धिजीवियों का ही बौनापन साबित होता है कि नहीं? तब फिर हम किसकी शिकायत किससे कर रहे है? कवि-और भावी राष्ट्रकवि -तो 'जन' और 'अभिजन' के बीच वैसी विभाजक रेखा भी नहीं खींचकर चलता था। वह तो समूचे राष्ट्र को -सभी को - बुद्धिजीवियों को और समाजधर्माओं को भी आत्मोद्बोधन के ही स्वर में सम्बोधित करता है उपदेश देना तो सचमुच-गुप्तजी के ही शब्दों में 'कवि का काम नहीं है।' किन्तु क्या किसी राष्ट्र के जीवन में, उसके विशेष 'आपत्तिकाल' में सचमुच ऐसी घड़ी नहीं आती जब कवि को एक दोहरे स्तर पर सक्रिय होना पड़ता है :'मृत जाति' को संजीवनी देने वाली 'रस-सुधा' के स्तर पर भी; और उस स्तर पर भी, जिसे उसने 'उचित उपदेश का मर्म' कहा है। पहला स्तर वह है, जिस पर **रामचरितमानस** लिखा गया था-भक्तिकाल के पुनर्जागरण में। जिस पर **साकेत** और **जयभारत** की रचना होती है-उसके बाद के उन्नीसवीं सदी के अधूरे पुनर्जागरण में। जहाँ कवि को सीधे अपने पाठक को सम्बोधित करने की जरूरत नहीं होती-जहाँ वह एक यथेष्ट प्रतिरूप के जारिए, अपने द्वारा नए सिरे से रचे गए एक जातीय स्मृति के प्रतीक चरित्र के जरिए अपनी बात कहता है और इस तरह कहता है कि वह एक व्यक्ति की बात न होकर एक समूची निर्वैयक्तिक परम्परा की आवाज बनकर हमारे भीतर गूंजने लगती है :

मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया
गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ आया
मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया

साकेत : अष्टम सर्ग

हाँ, और दूसरा स्तर यह है जहाँ से हमें सीधे रास्ते चलते ही आवाज देके बुलाना पड़ता है: बताना पड़ता है साफ़ सीधे, कि मामला क्या है और हमें क्या करना है:

हमें बनाने को बेधर्म
होते है कैसे क्या कर्म?
करके उनका उचित विचार,
करो यत्न पूर्वक प्रतिकार

ऐसा नहीं कि गुप्तजी काव्य से मिल सकने वाले लोकोत्तर आनन्द को नकारते हों। याकि उसे सामाजिक दुरवस्था को सुधारने के लिए अपेक्षित उत्साह को जगाने का साधन भर मानते हों। इतना ही, कि भारतेंदु की तरह वे जिस एक तथ्य को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते, वह है – 'भारत-दुर्दशा'। उन्हें उस तरह काव्य के सौन्दर्य-लोक से, उसके लोकोत्तर आयाम से कोई विरोध नहीं है। हिन्दू की भूमिका में जो 'स्वर्गीय कवित्व' पर छींटाकशी की गई है, उसके मूल में केवल उनकी एक शंका है और वह यह, कि कहीं यह नई छायावादी प्रवृत्ति देश के राजनीतिक और वैचारिक स्वराज्य की खातिर लड़े जा रहे संग्राम के बीचोंबीच खड़े अर्जुन का मोह तो नहीं है। जहाँ तक उस संग्रह की कविता का प्रश्न है, वह तो **भारत-भारती** की ही मूल प्रतिज्ञा को और अधिक एकाग्र आलोचना के साथ निबाहने का उपक्रम ही है।

प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है
अब भी हमारी अस्ति है, यद्यपि अवस्था शोच्य है।

भारत-भारती

भारत-भारती की ही क्यों, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समूचे कृतित्व की मूल प्रतिज्ञा और प्रस्थान-बिन्दु क्या है, यह कोई मुझसे पूछे तो मैं इन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करूँगा। कोई कहता है कविता 'जीवन की आलोचना' है : कोई उसे 'जीवन के परदे के पीछे छुपे एक और जीवन का मर्मोद्घाटन' मानता है। इसी एक शताब्दी में हमने कवियों-कलाकारों को विरोधी ध्रुवों पर परस्पर विपरीत बातें करते सुना है : 'जीने का काम। अरे, वह तो अपने अपने नौकर-चाकरों के लिए छोड़ दिया है। हमारा सरोकार कला है, कला।' ..... जीवन के केन्द्र से खदेड़ा हुआ कवि जहाँ अपने विक्षोभ में स्वयं जीवन से ही मानों एक मौलिक प्रतिशोध लेने को इस तरह के लटके अपनाता है, वहीं उसी जीवन में ही रही उथल-पुथल के आतंक और सम्मोहन से अपने मर्म में बींधा जाकर वह बरबस ही चीख़ पड़ता है ..... 'ए टेरिबल ब्यूटी इज़ बॉर्न ..... ए टेरिबल ब्यूटी इज़ बॉर्न....।' वह एक भयानक सौन्दर्य को अपनी आँखों के सामने जन्म लेते हुए, आकार ग्रहण करते हुए देखता है और पाता है कि जीवन और संसार अब पहले जैसा नहीं रहा; सहसा एकबारगी बदल गया है। कदाचित् वह और उसका कर्म भी।.... केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए/उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए'..... बात तो ठीक है। मगर यह उचित उपदेश का मर्म भी आख़िर कहाँ से आएगा : परम्परागत आस्थाओं से ? इतिहास की छलनाओं से ? अपने प्रत्यक्ष अपमान और दलन की आत्म-ग्लानि से? गुप्तजी के काव्य को ही क्यों, उनके परवर्त्ती साहित्य को भी हमें इस दृष्टि से भी देखना चाहिए।

गुप्तजी रहीम कवि पर विद्वावर थे। वे **रामचरितमानस** पर भी विद्वावर थे : भक्तिकालीन पुनर्जागरण का 'हीरो' स्वयं उनका भी 'हीरो' क्योंकर न होता! आखिर वे भी तो एक दूसरे पुनर्जागरण के पुरोधाओं से घिरे हुए थे। क्या तुलसी का काल भी वैसा ही, 'आपत्तिकाल' न था? उन्हें महाकाव्यों में ही नहीं, गीता में भी अपने मतलब की कविता दिखाई दे जाती थी। एक नवजात भाषा और संवेदना में अनुवादक की भूमिका निबाहना भी उतना ही प्रेरणातलब और उतना ही जानलेवा होता है जितना मौलिक लेखन का काम। दोनों की सीमारेखाएं कब कहां मिल जाती हैं, कहाँ अलग हो जाती हैं, कहना कठिन हो जाता है। गुप्तजी ने एक तरफ़ उमरख़ैयाम की हाला को अपनी खड़ी बोली के अनगढ़ कुल्हड़ों में ढाला और दूसरी तरफ़ 'पलासी का युद्ध' बँगला कानों से सुनकर हिन्दी कानों को सुनाया। बिना आनन्द की प्रेरणा के कोई कवि महज़ कर्तव्य भावना से ऐसी जहमत मोल लेगा - यह सोचना महज़ सिरफिरापन है। किस क़दर जनवादी था अपना राष्ट्रकवि और किस क़दर कलावादी। पचीस बरस पहले मुझे बच्चन की **मधुशाला** में ज्यादा मज़ा आता था। पचीस बरस बाद अब मुझे गुप्तजी का **उमर** अधिक आनन्दप्रद जान पड़ता है। ऐसा अनुभव क्या औरों को भी होता होगा? याकि यह मेरी ही सुरुचि का स्खलन है, मेरी ही बुद्धि का प्रमाद है?

और **मेघनाद-वध** काव्य! भला इस वैष्णव कवि को - इस मर्यादावादी रामोपासक कवि को क्या पड़ी थी कि वह एक ऐसे कवि को हिन्दी में लाने के लिए महीनों-बरसों खपाता जिसने डंके की चोट पर कहा कि 'आइ डेस्पाइज राम एण्ड हिज़ रैबल' (मैं राम से और उसके आततायी वानर-दल से घृणा करता हूँ) और जिसके बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी कहना पड़ा था कि 'इसमें कोई महद्नुष्ठान नहीं, वैसा महच्चरित्र नहीं। इसके पात्रों में अनन्य साधारणता नहीं, अमरता नहीं। वे हमारे सुख-दुख के साथी नहीं हो सकते, हमारे कार्यों के प्रवर्तक-निवर्तक नहीं हो सकते। फिर इसे महाकाव्य कैसे कहा जाय?'

ऐसे काव्य को गुप्तजी ने अपनाया, तो इसका कोई ठोस कारण तो होना चाहिए। कोई ऐसी प्रेरणा तो होनी चाहिए जो कवि की व्यक्तिगत रीझ-बूझ और मान्यताओं को भी लाँघ कर उसे अपने साथ चलने के लिए विवश कर दे। वह क्या है? इस अनुवाद की भूमिका में गुप्तजी ने जो कारण दिए हैं, उनमें से एक तो यह है कि वे इसके काव्यगुण पर मुग्ध थे ('मनुष्य का मन कुछ विचित्र होता है। वह बहुधा अपनी योग्यता का विचार भी भुला देता है। जिस वस्तु पर वह जितना मुग्ध होता है उसे अपनाने के लिए उतना ही आग्रही भी होता है...') और दूसरा यह, कि वे हिन्दी में अतुकान्त कविता की अमित्राक्षर छन्द की संभावनाओं को फलते-फूलते देखा चाहते हैं। ये दोनों ही कारण अपने आप में

पर्याप्त लगते हैं पर मन में प्रश्न उठता है : इस मुग्धता के साथ-साथ माइकेल के कथ्य के प्रति जो स्वाभाविक विकर्षण अनुवादक के मन में है, उसका क्या? आखिर इसी मुग्ध अनुवादक का यह भी तो कहना है कि 'हम लोगों ने भारती वर्षीय कवियों द्वार वर्णित रामचरित बहुत पढ़ा सुना है। अब राक्षसों के कवि की कृति भी तो हमें देखनी चाहिए।' क्यों देखनी चाहिए ? मेघनाद-वध की उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही आदरणीयता से गुप्तजी अन्त में जो निष्कर्ष निकालते हैं उसी को अपने काम के यथेष्ट औचित्य और कारण के रूप में प्रस्तुत करते हैं - यह कहते हुए कि 'अन्ततः सर्वधारण गुण के ही पक्षपाती होते हैं। दोषों की ओर उनका आग्रह नहीं होता। बस, अनुवादक के लिए यहाँ एक भरोसे की बात है।' क्या गुप्तजी के पाठक-और आज के पाठक के लिए भी-यह उतने ही भरोसे की बात है?

मुझे ऐसा लगता है कि पहले के समय में अपने युग की प्रेरणाओं से भरपूर प्रतिकृत होते हुए भी हर कवि के लिए उनके प्रति पूरी तरह चेतन-जागरूक होना न तो संभव था, न आवश्यक । किन्तु अब आज के जमाने में इतिहास और वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि के अभूतपूर्व दबावों के फलस्वरूप स्थिति बदल गई है। अब हम कवि से बहैसियत कवि के, अधिक जगरूक और अधिक निष्कवच भाव-बोध की अपेक्षा करने लगे हैं। दिए हुए सामाजिक आदर्शों से प्रेरित होने वाले कवि की अपेक्षा हम उस कवि की बात अधिक सुनते हैं जो अपनी प्रश्नाकुल संवेदना के बूते अपनी मूल्य-चेतना को परिवेश में व्याप्त अराजकता और मूल्यमूढ़ता से उबारने का संघर्ष करता दीखे। बिना इस वैयक्तिक संघर्ष के, बिना मूल्यों के इस पूनर्मूल्यांकन जैसी छटपटाहट के हम, कवि की जीवन-चेतना और मूल्य-दृष्टि से आश्वस्त नहीं हो पाते। यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा हमें प्रसाद का कवित्व अपनी जीवनानुभूति के कुछ अधिक करीब का लगने लगता है। उसकी आस्था भी शायद इसीलिए हमें जोख़म में निखरी हुई आस्था प्रतीत होने लगती है। इतना ही नहीं, काल-क्रम में आगे जाकर, हमें यह प्रश्नाकुल आस्था भी एक नई अव्यवस्था से आक्रान्त प्रतीत होने लगती है और तब नए संतुलन की खोज के लिए एक अज्ञेय या मुक्तिबोध की ज़रूरत पड़ने लगती है।

गुप्तजी के काव्य को लेकर आज के पाठकों के मन में कई तरह के सवाल उठा करते हैं। उनकी राष्ट्रीयता किंवा भारतीयता को लेकर; उनकी धर्मदृष्टि को लेकर; कलात्मक अथवा साामजिक-राजनीतिक कसौटियों पर उनके अवदान की परख को लेकर। उनके 'उचित उपदेश के मर्म' को लेकर ऊपर जो प्रश्न उठाया गया, वह भी इन्हीं के मेल में उठाया गया था। क्या हम उस युग को, उसके मूल द्वन्द्व और परिस्थिति-परिवेश को समझे

बिना उनके किए-धरे को समझ सकते हैं, उसके साथ न्याय कर सकते हैं? मौलिक के साथ-साथ अनूदित कृतित्व को भी महत्व देना हमें क्यों ज़रूरी लगा होगा? खासकर **मेघनाद-वध** के सन्दर्भ में इतने विस्तार में जाने की ज़रूरत क्यों महसूस होती है? मुझे ऐसा लगता है कि उस युग के वातावरण का, उस युग के सोच-विचार और भाव-बोध का एक ऐतिहासिक महत्त्व भर नहीं है : जिसे मैंने अन्यत्र अधूरा पुनर्जागरण कहा है, उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया का वृत्त अभी तक पूरा नहीं हुआ। पूर्व-पश्चिम की टकराहट का वह स्वातंत्र्य -पूर्व सन्दर्भ स्वातंत्र्योत्तरयुग में मैथिलीशरण गुप्त की कविता के निमित्त से एक नया अर्थ और नयी प्रासंगिकता ग्रहण कर लेता प्रतीत होता है। **मेघनाद-वध** का प्रसंग उसके एक ऐसे आयाम को उभारता है जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े सटीक ढ़ग से परिभाषित किया है: इसी अनुवाद की पुस्तक में गुप्तजी ने उसका भी हवाला दिया है और वह अत्यन्त विचारोत्तेजक है : अपनी दो परस्पर विरोधी सी प्रतीत होने वाली स्थापनाओं में वह बीसवीं सदी के भारत और भारतीय साहित्य को हमारी काव्य परम्परा और उसमें आ गए विचलन, दोनों दृष्टियों से झलकाता है। मैंने ऊपर सवाल उठाया था कि गुप्तजी को यह अनुवाद करने की प्रेरणा क्यों हुई होगी? मुझे लगता है, गुप्तजी के अवचेतन में भी इस नई कृति के प्रति आकर्षण और विकर्षण का कुछ वैसा ही द्वन्द्व रहा होगा जैसा रवीन्द्रनाथ के मन में। यह दूसरी बात है कि उस द्वन्द्व को -उसके तर्क को -गुप्तजी ने नहीं, रवीन्द्रनाथ ने सचेत आलोचनात्मक अभिव्यक्ति दी है। चूँकि वह अभिव्यक्ति इस युग के भाव-बोध के मूल्यवान् दस्तावेजों में से एक लगती है, इसलिए मैं उसे विस्तार से यहाँ उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर पा रहा हूँ। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि दोहरी है। पहले वे **मेघनाद-वध** के महत्व को अस्वीकार करने का तर्क (और बेहद वज़नदार तर्क) देते हुए कहते हैं :

जिस प्रकार हम इस दृश्यमान् जगत् में निवास करते हैं, उसी प्रकार एक और जगत् अलक्षित भाव से हमारे चारों तरफ़ रहता है। दीर्घकाल से बहुत से कवि मिलकर हमारे उस अदृश्य जगत्-की रचना करते आ रहे हैं । ... यदि हम वाल्मीकि, व्यास आदि के कवित्व जगत् में जन्म न लेकर भिन्नदेशीय कवित्व-जगत् में जन्म लेते तो हम भिन्न प्रकृति के लोग होते। हमारे साथ कितने लोग अदृश्य भाव से रहते हैं, हमारे विचार और कर्म उनसे कितने नियन्त्रित होते हैं, इसे हम जान भी नहीं सकते। इन्हीं सब अमर सहचरों की सृष्टि करना महाकवि का काम है। माइकेल मधुसूदनदत्त ने हमारे अन्तर्जगत में कितने नए अधिवासियों को भेजा है? यदि नहीं भेजा है तो उनकी किस रचना को महाकाव्य कहा जाय ?

यह एक सटीक और अकाट्य आलोचनात्मक तर्क है। किन्तु रवीन्द्र-नाथ यहीं पर नहीं अटक जाते। उनकी जागरूक और दूरदर्शी संवेदना-बुद्धि उन्हें तस्वीर के उस दूसरे पहलू का भी जायजा लेने को विवश करती है तो विकर्षण के साथ एक दुर्निवार्य आकर्षण भी उपजाता है - हमारे मन में - हमारे बावजूद:

यूरोप से आए नूतन भावों के संघात ने हमारे चित्त को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख अलग रहने की चेष्टा क्यों न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण करके इस सत्य को प्रकाशित किए बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती -यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या और कृत्रिम कहा जायगा। 'मेघनाद-वध' काव्य में -केवल छन्दोबन्ध और रचना-प्रणाली में ही नहीं, उसके भीतरी भावों और रसों में भी - एक अपूर्व परिवर्तन है। कवि ने राम-लक्ष्मण के विषय में हमारे मन में बहुत दिनों से जो एक बँधा हुआ भाव चला आ रहा था, स्पर्धापूर्वक उसका शासन तोड़ दिया है। धर्म्मभीरु स्वभाव का त्याग, दैन्य और आत्मनिग्रह आधुनिक कवि के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता। वह स्वत: स्फूर्त शक्ति की प्रचण्ड लीला के बीच में आनन्द-बोध करता है।

क्या यह सच नहीं है? पचास सालों के अन्तराल के बाद क्या यह सचाई पहले से भी ज्यादा मुखर और तीव्र नहीं हुई है? यह नहीं, कि रवीन्द्रनाथ इस 'आधुनिकता' पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाते - उसे आत्मसर्पण कर देते हैं। नहीं, उनका स्वर स्वागत में बिछा हुआ आत्महीन स्वर कदापि नहीं है : उसमें विषाद है, संशय है आन्तरिक प्रतिरोध भी है; किन्तु वे यथार्थ से नहीं कतराते। उनकी दूरदर्शी दृष्टि भावी के संकेत पढ़ सकती है :

यूरोप की शक्ति अपना अपूर्व ऐश्वर्य लिए पार्थिव महिमा की चोटी पर खड़ी होकर हमारे सामने आविर्भूत है ..... इसी शक्ति-स्तवगान के साथ आधुनिक काल में रामायणी कथा के एक नए बाँधे हुए तार ने भीतर ही भीतर स्वर मिला दिया है, यह किसी व्यक्तिविशेष के ध्यान में आया? देशव्यापी आयोजन हो रहा है। दुर्बल होने के अभिमान के कारण 'इसे हम स्वीकार नहीं करेंगे' कहकर भी पद-पद पर स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहे हैं -इसीलिए रामायण का गान करने जाकर भी इसके स्वर की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

यह महज़ इकहरे स्वागत का उत्सवी स्वर है कि स्थिति का यथार्थदर्शी स्वीकार और उसमें अन्तर्निहित चेतावनी? अकारण नहीं, कि इस अनुवाद की भूमिका में गुप्तजी ने रामकृष्ण परमहंस की उस टिप्पणी का हवाला भी देना ज़रूरी समझा है जो उन्होंने

माइकेल मधुसूदन-दत्त के विरोधियों को लक्ष्य करके लिखी थी। .. 'तुम्हारे देश में यदि कोई कुछ नयाकाम करता है तो तुम उसकी हँसी उड़ाकर उसका अपमान करते हो। यह नहीं देखते कि वह क्या कहता है या क्या करता है।' तो कवीन्द्र रवीन्द्र ही क्यों उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण का सबसे असन्दिग्ध स्त्रोत, हमारी आध्यात्मिक संस्कृति की परम्परा का सबसे नया और सबसे विलक्षण प्रतिनिधि भी जिस 'कृति' के सर्जनात्मक मूल्य और मौलिकता पर अपनी मुहर लगा रहा हो तब फिर उस नएपन से हिन्दी के कवि के लिए **-भारत-भारती** के कवि के लिए बिदकने की गुंजाइश की कहाँ रह जाती है? फिर तो उसका रचनात्मक आचरण स्वभावत: उसी दृष्टिकोण से निर्धारित होगा जो **भारत-भारती** में शिक्षितों को लक्ष्य करते हुए व्यक्त किया गया है:

ज्ञानानुभव से तुम न निज साहित्य को वंचित करो।
पाओ जहाँ जो बात अच्छी, शीघ्र ही संचित करो।

इन दो स्वरों के अतिरिक्त और भी तो कई स्वर थे – बीसवीं सदी के आरम्भ के उस युग के भाव-बोध को बनाने वाले-उनके साथ इस कवि का कहाँ तक मेल बैठता है, यह हम यथास्थान देखेंगे। यहाँ पर हम केवल एक दूसरे तथ्य की ओर-जो भाषा गुप्तजी को मिली-बल्कि स्वयं जिस भाषा की रचना ही उन्हें करनी पड़ी अपनी काव्य-रचना के साथ-साथ, अपनी काव्य-रचना के जरिए ही, उस पर भी थोड़ा ग़ौर कर लेना चाहेंगे। इस टिप्पणी के साथ, कि **भारत-भारती** के कवि की दृष्टि भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उपरोक्त दृष्टि के समान आगे की ओर ही देखने वाली है, वह भी अपने 'कालज्ञ विवेक से यही जानती-मानती है कि....'विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं; अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।'...

साहित्य के सन्दर्भ में पश्चिम के पहले ही तगड़े प्रभाव को लक्ष्य करती हुई और भारतीय साहित्य के लिए इस चुनौती के अर्थ को रेखांकित करती हुई रवीन्द्रनाथ ठाकुर की टिप्पणी का हवाला हमने अभी-अभी दिया है। आज हमारे कवियों-विचारकों और राजनेताओं का दृष्टिकोण इस बारे में क्या है? हिन्दी-प्रदेश का और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का भी। टैगोर या गाँधी के जमाने की तुलना में उसमें क्या अन्तर पड़ा है? क्यों अब हमारे मन में कोई दुविधा कोई द्वन्द्व नहीं रहा? इस बारे में हमारी जागरूकता का स्वरूप क्या सचमुच बदल गया है? क्या अब इतिहास के इस मोड़ पर पूरब-पश्चिम की शब्दावली का प्रयोग **करना** ही एक निरर्थक वाग्जाल में उलझना है - इसलिए कि हम परम्परागत भारत में **नहीं**, बीसवीं सदी के भारत में रह रहे हैं, जिसकी समस्याएँ बिलकुल अलग हैं और इसीलिए **समाधान** भी?

चलिए, हमने मान लिया कि बीसवीं सदी का हिन्दुस्तान ऐतिहासिक राजनीतिक निर्णयों से उपजा हुआ एक अलग ही हिन्दुस्तान है जिसकी पृष्ठभूमि अंग्रेजी पढ़े-लिखे प्रबुद्ध वर्ग के पुरुषार्थी नेतृत्व में लड़े गए स्वतंत्रता संग्राम से बनती है। इस नए हिन्दुस्तान की निर्णायक घटनाओं में कम से कम एक घटना ऐसी है जिसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। और वह है हज़ार साल पुरानी हिन्दी का खड़ी बोली हिन्दी के रूप में आमूलचूल कायाकल्प। जिन परिस्थितियों और ज़रूरतों के तहत यह कायाकल्प हुआ, और सबकी भागीदारी से हुआ-वे क्या थीं? एक वाक्य में उन सबको समेट कर कहें, तो वह ज़रूरत थी- आधुनिक युग की चुनौती के सम्मुख हिन्दुस्तान के शरीर और मन का पुनर्जन्म। ऐसी भाषा-जो न कुछ में से उगे और सब कुछ को धारण कर सके। ऐसी भाषा, जो सारा पुरानापन, बासीपन झाड़ दे- जो इतिहास की उथ्रल-पुथल से गुज़र कर उससे उत्तीर्ण होकर निकली हमारी जातीय अस्मिता का प्रतीक हो। जो इतनी अकिंचन दीखे कि लगे, स्मृतिहीन है, सपाट है, सिर्फ एक सेतु है सबको आपस में जोड़ने के लिए। किन्तु जो इसी कारण नए युग की संवेदना को वहन करने के लिए सबसे सक्षम साबित हो। ऐसी भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का दायित्व मैथिलीशरण गुप्त और उनकी पीढ़ी के कवियों पर आया।

मानो हमने इस तरह अनजाने ही एक समवेत निर्णय लिया कि हम लुटे-पिटे लोगों को यहाँ से शुरू करना है- इस कालगति से उपजे संभावनापूर्ण शून्य से। मानो हम अभी-अभी जनमे हैं और हमारे ऊपर पाँच हजार सालों की संस्कृति का नहीं, केवल सौ-डेढ़ सौ सालों के इतिहास का ही बोझ है। मानों हमें सब कुछ शुरू से शुरू करना है। सारे पाप अभी धो डालने हैं – बिना विगत पुण्य की स्मृतियों की गठरी उठाए क्योंकि यदि वे वास्तव में पुण्य थे तो पुनर्जन्म से नष्ट नहीं होंगे-अपने आप हमारे ऐतिहासिक पुरुषार्थ के जरिए हमारे खाते में जुड़ेंगे। हमें जीर्णोद्धार नहीं चाहिए था; नया जन्म चाहिए; एकदम नया चोला। हमने मानो संकल्पपूर्वक छोड़ दिया उस पुराने मध्ययुगीन चोले को। नया चोला-हिन्दी का चोला-धारण करके ही हमने आधुनिक युग में अपनी जगह बनाने के लिए प्रवेश किया।

हम एक सपाट भूमि पर खड़े थे क्योंकि हमें एकजुट होना था, एकप्राण होना था। राष्ट्रीय़ जीवन की नई बुनियाद डालनी थी। और हमारा कवि-हमारी इस नई हिन्दी का एक प्रकार से आदि कवि-इस 'यंग इण्डिया' के 'नवजीवन' की मशाल लिए हमारे साथ-साथ ही चल रहा था-हमसे आगे तो नहीं, हमारे साथ-साथ। और वह हमारी अपनी आवाज़ में हमको हमारे मन की बात बता रहा था कि हमें करना क्या है?.....

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें साथ मिलकर ये समस्याएँ सभी . . . .।

भारत-भारती सन् 1911 में छपी थी। 1909 में छपा **हिन्द स्वराज** कह रहा था-'यह समय प्रायश्चित और शोक का है और मातम के वक़्त मौज़-शौक़ नहीं होते।' याद आ रहा है, कुमारस्वामी से किसी ने विदेश में पूछा था-'प्राचीन भारतीय कला का गुणगान तो ठीक है, किन्तु आधुनिक भारतीय कला क्या है, इस पर भी तो कुछ कहिए।' कुमारस्वामी ने बेहिचक जवाब दिया था-'खद्दर। हाँ खद्दर में मैं आधुनिक भारतीय कला की समस्त संभावनाओं के दर्शन करता हूँ। आज के भारत को बस यही रंग शोभा देता है। यहीं से नए रंग कमाए जाएँगे-यहीं से नए रंग जन्म लेंगे-हमारे जायज़ और स्वाभाविक रंग।'

भारत-भारती के समान कोई कविता लोकप्रिय हुई होगी-एकाएक विश्वास नहीं होता। एक पूरी पीढ़ी ने इससे प्रेरणा पाई-मात्र साहित्यिक प्रेरणा नहीं, जीने की, कुछ सोचने-करने की प्रेरणा। इसका मतलब यही न हुआ कि वह सचमुच **भारत-भारती** थी और उसने हिन्दी को-हिन्दुस्तान के पुनर्जन्म की इस संकट की घड़ी में जन्मी हिन्दी को-सचमुच **भारत-भारती** बना दिया था।

फिर क्यों सन् 1927 में-**भारत-भारती** के प्रकाशन के कोई पन्द्रह वर्ष उपरान्त हमारे राष्ट्रकवि को **हिन्दू** लिखने की ज़रूरत आ पड़ी? हिन्दू पुनर्जागरण का काव्य-फल **भारत-भारती** और सत्याग्रह-युग की उपज **हिन्दू**। यह कैसा विपर्यय है? क्या **भारत-भारती** में कुछ छूटा रह गया था? क्या **हिन्दू** भी उसी ढंग की चीज़ है जिसे हम 'समाज का दर्पण' अथवा 'जीवन की आलोचना' कहकर पुकारते हैं? क्या वह दूसरा दर्पण पहले वाले दर्पण से ज्यादा निर्मल और निर्दोष है?

लगने को गुप्तजी के आख्यान-काव्य और प्रबन्ध काव्य भी महज़ पौराणिक इतिवृत्त नहीं लगते। जीवन की आलोचना वहाँ भी है। फिर भी यह सवाल तो मन में उठता ही है कि इतने सारे प्रबन्ध काव्यों के रचयिता को क्या ज़रूरत पड़ी थी कि वह **भारत-भारती** ही नहीं, **हिन्दू** जैसी कविता भी लिखे। क्या यह अतिरिक्त आलोचना है? अगर हाँ, तो इसकी जरूरत क्यों पड़ी?

भारत-भारती में जहाँ 'सीतापते-सीतापते' की पुकार है, वहीं उसी की प्रतिध्वनि में 'गीतामते' भी है। भूमिका में कृष्ण को भी स्मरण किया गया है। **हिन्दू** की भूमिका में यह स्मरण एक नया मूल्य ग्रहण कर लेता है; गुप्तजी पूछते है: 'इस तरह की तुकबन्दियों के

लिए साहित्य के शारदा-मन्दिर में कोई स्थान है या नहीं?' उत्तर में स्वयं ही कहते हैं : 'वह हो या न हो, परन्तु इनका एक आदर्श होना ही चाहिए। न तो इनमें महाकाव्यों का अनुकरण है और न बिहारी सतसई आदि कोष-काव्यों का। रीति-ग्रन्थों की श्रेणी में भी ये नहीं। विनय-पत्रिका जैसी भी नहीं। काव्यों की पंक्ति में बैठने का इन्हें कोई अधिकार नहीं। न सही, परन्तु इनका भी एक आदर्श होना चाहिए। क्या वह आदर्श गीता हो सकता है?'

परन्तु गीता तो एक दार्शनिक काव्य है, जिसे आधुनिक कवि टी.एस.एलियट ने दांते की डिवाइन कामेडी का पार्श्ववर्ती माना है। क्या **हिन्दू** भी उस तरह का दार्शनिक काव्य है?

निश्चय ही नहीं। किन्तु **गीता** भी तो एक प्रसंग-प्रेरित कविता ('ऑकज़न पोएम') है – दार्शनिक कविता होने से भी पहले। हर सार्थक कविता एक वक्तव्य होती है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु ग्योएटे से लगाकर अधुनातन कवि तक सभी का यह कहना है कि हर सार्थक कविता एक 'ऑकेज़न', कविता ही होती है: किसी विशेष जीवन-स्थिति और प्रसंग की चोट से उद्भूत। **भारत-भारती** तथा उससे भी अधिक **हिन्दू** और कुछ नहीं तो 'ऑकेज़न पोएम' तो है ही। उनकी दार्शनिकता इसी में है कि वे हमें कुछ दिखाती हैं – एक समूची प्रजा को अपनी हालत का पता देती हैं: उसकी अपने को ही देखने वाली आँख बनती है। और यह आँख हिन्दी में खुलती है: उस सपाट भाषा में, जिसने अपनी सात्विक कठोरता में अवधी और ब्रजभाषा के संगीत की संयुक्त विरासत को भी फ़िलहाल भुला दिया है याकि गिरवी रख दिया है- ऋणमुक्त होने तक। उसे वह सब कुछ मानो अपने निजी पुरुषार्थ के बूते नए सिरे से अर्जित करना है। नितान्त नई परिस्थितियों से जूझते हुए।

विनयशीलता और स्वाभिमानी अक्खड़पन कवियों में एकसाथ दिखाई देना अचरज की बात नहीं है। 'कवि न होउं नहिं वचन-प्रवीनू, सकल कला सब विद्याहीनू' के साथ 'नाना पुराणनिगमागमसम्मत' के ठोस दावे की संगति बखूबी निभती देखी गई है। **भारत-भारती** आज के किन्हीं कवियों को-गुप्तजी, प्रसाद, निराला और अज्ञेय से समृद्ध पीढ़ी को-भले ही 'किंचित्कविता' लगे, उसके पीछे कितनी बलवती प्रेरणा, रही होगी, यह ऐतिहासिक कल्पनाशक्ति के जोर से ही नहीं, उन लाखों करोडों लोगोंकी सहज बुद्धि से भी जाना जा सकता है जो तब और अब भी उससे उन्मेषित होते हैं। साथ ही, उसके पीछे कितनी खोजबीन, कितना अध्ययन-निरीक्षण रहा होगा, यह तो उसकी पाद-टिप्पणियों से ही प्रकट है। पुराने इतिवृत्त को नया करके फिर से नए सन्दर्भ के साथ रचने की कल्पना-शक्ति के बिना तो **साकेत** और **जयभारत** क्या, **पंचवटी** की भी रचना संभव न थी। पर **भारत-भारती** और **हिन्दू** में एक नए की तरह का 'रस' है, जिसकी कोई परम्परा पहले से मौजूद नहीं।

यह एक नई तरह का पद्य ही नहीं, नए तरह का कवित्व भी है जिसकी उद्‌बोधनात्मक सपाट-बयानी में भी एक अभूतपूर्व स्फूर्ति है, 'विट' यानी वाग्वैदग्ध्य है, अक्षय विनोदवृत्ति है, सूक्ति सरीखी स्मरणीयता है। इन गुणों के कारण, छंद-शिल्पगत स्फूर्ति तथा अप्रत्याशित अर्थोत्तेजनकारी उद्‌भावना-समृद्धि के कारण ही इनमें आज भी ताज़गी बनी रह सकी है। अन्यथा, समय-सेवा करके ये कब की झर चुकी होतीं। अगर इनमें अभी भी झुर्रियाँ नहीं पड़ीं तो इसका कारण इनके तथाकथित कथ्य की प्रासंगिकता में ही नहीं, इनके शिल्प की जीवनी-शक्ति में भी होना चाहिए। उस जीवनी-शक्ति में, जिससे किसी नवजात भाषा का खून बढ़ता है, अंगों में लोच और सामर्थ्य बढ़ती है: वह लाघव-स्फूर्त पद्य और वह सब चीज़ों की ख़बर रखने वाला परम कौतुकी, लेकिन परमगंभीर कवित्व सधता है, जो उस भाषा के कवियों को ही नहीं, गद्यकारों को भी चलना सिखाता है। वह व्यंग्य, जिसकी मार साम्प्रतिक भी है और दूरव्यापी भी। वह सूक्तिकौशल, जो संस्कृत के सुभाषितों से भी होड़ लेता है और नए ज़माने के आलोचना के सूत्र भी गढ़ता चलता है। अपनी प्रत्युत्पन्नमति के बूते।

गौरव जताने में यहाँ उत्साह का लगता पता।
बस, वाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता।।

कितने प्रयोग-प्रदीप इस अनुदारता से हैं बुझे

न्यायालयों में भी निरन्तर घूस खाते हैं हमीं
रक्षक पुलिस को भी यहाँ भक्षक बनाते हैं हमीं।

बस कागज़ी घुड़दौड़ में है आज इति-कर्तव्यता
भीतर मलिनता हो भले ही, किन्तु बाहर भव्यता।

शिक्षे! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी
लो मूर्खते! जीती रहो, रक्षक तुम्हारे हैं धनी।।

है अन्ध सा अन्तर्जगत् कवि-रूप सविता के बिना।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सु-कविता के बिना।।

हमारे औसत राष्ट्रीय चरित्र का आज किया जा सकने वाला मूल्यांकन क्या **भारत-भारती** के मूल्यांकन से बहुत भिन्न होगा? क्या आज भी वह बात नहीं बोलती? ये तो केवल कुछ नमूने हैं, **भारत-भारती** की विवेक-बुद्धि और कर्तव्य-बुद्धि और उसी में से उपजी आलोचना याकि व्यंग्य-कला के नमूने। प्रसंगवशात् यहाँ यह लक्ष्य कर लेना भी उपयोगी होगा कि परवर्ती कविता पर भी **भारत-भारती** का खासा ऋण दीखता है: निराला और दिनकर और जाने कितने कवियों की जाने कितनी कविताओं में **भारत-भारती** की अनुगूँज समाई हुई है और यह अकारण नहीं है: बहुत कम रचनाओं को इस तरह भविष्य के कवियों का सन्दर्भ ग्रन्थ बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और **भारत-भारती** उन्हीं उपजाऊ रचना-भूमियों में गिनी जाएगी। बहुत कम रचनाओं को इस तरह कवि के जीवनकाल में ही भाषा की सहज 'श्रुति' और 'स्मृति' बन जाने का अवसर मिलता है।

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

इस नींद में क्या-क्या हुआ, यह भी तुम्हें कुछ ज्ञात है?
कितनी यहां लूटें हुईं, कितना हुआ अपघात है।

मैं कभी-कभी अपने-आप से पूछता हूँ कि अज्ञेय जैसे कवियों का मैथिलीशरण गुप्त के प्रति जो आकर्षण है, वह क्या महज़ लोकाचार है? उत्तर मिलता है, नहीं, वह एक सहज आकर्षण है। युग-परिवर्तन के अनुरूप स्वातंत्र्य और दायित्व के नए संतुलन की नई कल्पना, नई खोज के साथ अज्ञेय के यहाँ भी वही ज़िद है- शिवत्व-बोध और सौंदर्य-बोध दोनों को अपने कवि-कर्म से निबाहने की। दरअसल समूची भारतीय कविता की ही ऐसी ज़िद ऐसी निष्ठा रही होनी चाहिये-गुप्तजी या अज्ञेय के यहाँ ही क्यों। **भारत-भारती**, जैसा कि हमने लक्ष्य किया, एक 'ऑकेज़न' रचना थी-गुप्तजी के ही मुहावरे में 'आवश्यकता की पुकार को श्रवण करके' लिखी गई थी। क्या अब **भारत-भारती** दुबारा लिखी जाएगी? दुबारा जैसा कभी कुछ नहीं होता; न जीवन में, न साहित्य में। हिन्दी भाषा और कवित्व अर्धशताब्दी के भीतर ही कहाँ से कहाँ पहुँच गए- सो किसके पुण्य-प्रताप से? मैथिलीशरण गुप्त के ज़माने के बाद, बल्कि उनके ज़माने में ही जयशंकर प्रसाद का ज़माना आया। फिर अज्ञेय का ज़माना आया वह भी गुप्तजी के जीवन-काल में ही।.... और अब फिर से क्या एक तरह से एक दूसरे स्तर पर सपाटबयानी का ही ज़माना नहीं

आ गया? यह किस आवश्यकता की पुकार का उत्तर है? जिस 'जाति-गंगा में डुबकी लगाके' राष्ट्रकवि ने अपनी कविताएँ रचीं और उन्हें 'तुकबन्दी' कहा, उस जाति-गंगा में और आज के हमारे जनवादी कवि के 'जन' में कैसा क्या सम्बन्ध है, कैसा क्या अन्तर है? वह सम्बन्ध और अन्तर किन अर्थों में और किस सीमा तक रचनात्मक है, काव्य-संभव है? कहीं उसका कोई अंश वैसा तो नहीं, जिसे **भारत-भारती** के कवि और **हिन्द-स्वराज** के लेखक ने लगभग एक साथ ही लक्ष्य किया था: 'जिन लोगों के नाम पर हम बात करते हैं, उन्हें हम पहचानते नहीं। न वे हमें पहचानते हैं।' (**हिन्द स्वराज**) . . . . और . . . . देखो हटा कर असलियत से वह घटाती है हमें'. . . . (**भारत-भारती**)। लगता है, हिन्दी काव्य-संस्कृति की ही नहीं, हिन्दी आलोचना की भी कुशल इसी में है कि इस प्रश्न को अनदेखा न किया जाए।

3. कामायनी एवं पुनर्विचार

गजानन माधव मुक्तिबोध

श्रद्धा की अवतारणा हेतुमूलक है, प्रसादजी ने मनु की मुक्ति के लिए ही मानो उसको उठाया हो। यद्यपि श्रद्धा में प्रारम्भ से लगाकर अन्त तक आदर्शवाद ही आदर्शवाद (अन्त में आध्यात्मिक जीवनोपदेश और दर्शन) दिखायी देता है, किन्तु स्थिति-भेदानुसार उसके चरित्र में अन्तर तो आता ही जाता है, भले ही हम उस अन्तर को विकास न कह पायें। किन्तु नि:सन्देह, विशेष अर्थ में, उसे विकास भी कहा जा सकता है। इसी बात की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

कथानक में अपने प्रथम अवतरण-काल में श्रद्धा जीवन के वास्तविक निर्माणात्मक पक्ष का सन्देश लेकर आयी है। जब वह मनु को विषण्ण, उदास तथा एकाकी देखती है, तो सहज उसके मुँह से मनु को लक्ष्य कर यह निकल पड़ता है:

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की नि:शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश?
दु:ख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।

× ×

काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

यह श्रद्धा के चरित्र का प्रारम्भिक रूप है। यद्यपि वह आगे चलकर अद्वैतवादिनी-रहस्यवादिनी हो जाती है, किन्तु इस समय जीवन की निर्माणात्मक प्रतिभा का उल्लास और आनन्द उसके हृदय में है। अतएव मनु का उदासीन रूप उसे खटकता है। वह चाहती है कि मनु उदासीनता का कीचड़ अपने हृदय से धोकर निकाल दे। इसीलिए वह निराशात्मक व्यर्थता ही भावना और कष्ट को बुरा समझती है, तथा जीवन की निर्माण प्रवृत्तियों के

आनन्द का सन्देश उसे सुनाती है। अतीत की स्मृतियों से ग्रस्त मनु से वह कहती है:

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर,
देव गन्धर्व असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

पुरातनता के मैले-कुचैले वस्त्रों को उतारकर वास्तविक जीवन-निर्माण की ओर मनु को उन्मुख करते हुए श्रद्धा कहती है:

एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।

श्रद्धा प्रारम्भ में किस प्रकार भौतिक सुख-समृद्धि की प्रगल्भ प्रेरणा तैयार करती है, यह देखते ही बनता है। बहुत ही मार्मिक सहानुभूति से वह मनु की स्थिति की विशेषताएँ समझती हुई कहती है:

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार,
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ,
खोजते भी न कहीं अवलम्ब,
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब।

और आगे :

समर्पण लो सेवा का भार
सजल संसृति की यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

फिर कहती है :

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल,
विश्व फिर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

मनु के लिए यह सन्देश कितना महान है:

डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

× ×

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

वस्तुत:, देखा जाय तो हमारा भारतीय राष्ट्रवाद इन्हीं आशा-आकांक्षाओं को लिये हुए, अपनी अवस्था-विशेष में, इस प्रकार प्रकट हुआ। उसी का सबल मधुर स्पन्दन श्रद्धा की वाणी में उद्घाटित हुआ है। उस राष्ट्रवाद की (उसी के सन्दर्भ से हमारे पूँजीवाद की) वह एकाकी विषण्ण स्थिति दूर हुई, और भारतीय जनता ने, बहुत आत्मविश्वास, गम्भीर मनोबल तथा मानव-भविष्य में आस्था प्रकट करते हुए, मुक्ति-संघर्षों की मंजिलें नापने के लिए अपने विराट भुजदण्ड बढ़ाये। उसके प्रथम आत्मविश्वास की सांस्कृतिक झलक न केवल कामायनी में, वरन् प्रसादजी के अन्य साहित्य में भी मिलती है।

किन्तु, राष्ट्रवाद की तीव्रता के साथ ही हमारे समाज में एक ऐसे वर्ग का भी उत्थान हुआ, जिसकी प्रवृत्तियाँ ऐसी नहीं थीं कि उससे कुछ अधिक आशा की जा सके। प्रसादजी का व्यवसाय वैश्य- व्यवसाय था। उसकी यथार्थताओं से खूब परिचित होना उनके लिए स्वाभाविक ही था। उनकी व्यावसायिक जीवन-यापन-पद्धति ने उनको उस वर्ग के अन्तर्भेद की क्षमता प्रदान की। उन्होंने जाना कि वह वर्ग आज भी दो वृत्तियों की प्रधानता रखता है - प्रभुत्व-भावना और विलासाकुलता। जनता के ज़ोर से, यह वर्ग राजनैतिक क्षेत्र में अधिक-से-अधिक सक्रिय हो रहा था। राष्ट्रवादी संघर्ष बढ़ते जा रहे थे। किन्तु प्रसादजी उसके वर्ग-यथार्थ के सम्बन्ध में तो मार्क्सवादी शब्दावली का भले ही प्रयोग न करें, वे इतना तो जानते ही थे कि यह वर्ग - यह शासक वर्ग-अत्याचारी वर्ग है। अपने इस मत का प्रमाण उन्हें जापान, जर्मनी, ब्रिटेन, अमरीका के उग्र राष्ट्रीयतावादी साम्राज्य-वाद के जीवन-तथ्यों में प्राप्त हुआ। प्रसादजी समकालीन साम्राज्यवादी अन्तर-राष्ट्रीय घटना-चक्रों से प्रभावित थे। अतएव उन्होंने सामान्यीकरण पद्धति से मनु-जैसे चरित्र का निर्माण कर डाला, जिसमें उन्होंने प्रभुत्व-भावना, आत्मछल तथा विलासाकुलता और इन सबके भीतर नवीन अहंवाद (व्यक्तिवाद) की प्रस्थापना की। मनु उनके वर्ग का, उस वर्ग के स्वयं प्रसादजी का, अपनी कमज़ोरियों का तथा व्यक्तिवाद-पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का, (भारतीय पैमाने पर, भारतीय भूमि में), वर्ग-प्रतिनिधि बना। अपने सम्बन्ध में तथा जगत् के सम्बन्ध में जितना प्रसादजी का ज्ञान था, उसके अनुसार उन्होंने मनु-चरित्र की सृष्टि की। चूँकि वह एक वर्ग का-ऐसे वर्ग का जो शासक वर्ग है (या भारत में शासक वर्ग बनने जा रहा है) तथा जो वर्ग ब्रिटिश तथा यूरोपीय पूँजीवाद की पद्धति पर अपनी संस्थाएँ, अपने नियम-विधान, अपनी रूप-रचना बनाता चला जा रहा है—[प्रतिनिधि है] उस वर्ग द्वारा निर्मित नयी समाज-रचना, नयी सभ्यता की समीक्षा करना प्रसादजी का (कामायनी में) सबसे बड़ा हेतु रहा। उन्होंने सबसे बड़ा काम यह किया कि नये व्यक्तिवाद को (यहाँ तक कि रोमैण्टिक व्यक्तिवाद को) उसकी वास्तविक शासकवर्गीय भूमिका से सम्बद्ध किया, पूँजीवादी वर्ग से सम्बद्ध किया।

किन्तु, साथ ही, उनका यह कार्य असंगतियों से परिपूर्ण है। ये असंगतियाँ उनके जीवन की विशेष सीमाएँ हैं। वे स्वयं जनता से दूर रहे, जैसा कि शासक वर्ग ग़रीब जनता से दूर रहता है। अतएव **कामायनी** में प्रस्तुत जीवन-समीक्षा-चित्रों के अन्तर्गत शोषक-शासक वर्ग के विरुद्ध जनता की अन्तिम विजय में अपनी आस्था प्रकट न कर सके।

जिस शोषक-शासक वर्ग और उसके व्यक्तिवाद को उन्होंने जाना-पहचाना उस शोषक वर्ग और जनता के बीच तो खाई थी ही, स्वयं उस शोषक वर्ग और प्रसादजी के बीच भी खाई पड़ गयी थी। उस शासक वर्ग की मूल प्रवृत्तियों में तो उनकी पैठ थी, किन्तु उसके विचारों से प्रसादजी का कोई मेल नहीं था। उस उठते हुए पूँजीवादी वर्ग की भीतरी दुष्ट-वृत्तियों की अनुभूति होने के बावजूद, वे जनता के संघर्ष-पक्ष से न बोलकर उस पक्ष से बोलने लगे, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' का बुद्धिवाद-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, यन्त्र-विरोधी पक्ष का युटोपियनिज़्म कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा इड़ा से विदा लेते समय मनुपुत्र को केवल इतना कह देती है:

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय।
इसका तू सब सन्ताप-निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सबकी समरसता का प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

निश्चय ही, यहाँ समरसता का अर्थ वर्ग-मैत्री और हृदय-परिवर्तन से अधिक नहीं है। वह एक उदार-मतवाद (लिबरलिज़्म) है। मनु की तानाशाही के अनन्तर इस उदार-मतवाद का विशेष राजनैतिक अर्थ तो है ही।

सारांश यह कि इस शासक-वर्ग की जो आलोचना उन्होंने की, वह अत्यन्त स्पष्ट तथा तीव्र होते हुए भी क्रान्तिवादी समीक्षा नहीं थी। प्रसादजी वास्तविक वर्ग-सम्बन्धों को जानते नहीं थे। वे इतिहास के मूल विकास-नियमों से परिचित नहीं थे, यद्यपि द्वन्द्वों की सत्ता मानते थे। जैसे, उन्होंने स्वयं 'इड़ा' सर्ग में लिखा है:

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूलमन्त्र।

किन्तु सभ्यता-समीक्षा का, समाज-समीक्षा का, उनका दृष्टिकोण एक ओर सामन्ती-औपनिवेशिक प्रभाव-छायाओं का, तो दूसरी ओर, उदार-मतवादी पूँजीवाद का छोर छूता था। वे कहाँ तक प्रगतिशील थे और कहाँ तक प्रतिक्रियावादी, यह प्रश्न हम अगले प्रसंगों में उठायेंगे।

प्रसादजी की विश्व-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है। अतएव उपर्युक्त चर्चा यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। केवल एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। वह यह कि जनता और शोषक-शासक वर्ग से (जिसके व्यक्तिवाद का प्रसादजी ने चित्रण करना चाहा है) अपनी दूरी के कारण प्रसादजी ने फ़ैण्टेसी का माध्यम चुना। ठीक यथार्थवादी चित्र तो कदाचित वे परिपक्व रूप से चित्रित नहीं कर सकते थे। सफल उपन्यासकार वे थे भी नहीं। अपने विषय से सम्बन्धित जीवन-तथ्यों को निर्मित करने वाली सामाजिक शक्तियों की जानकारी के अभाव में, तथा उन जीवन-तथ्यों के प्रति भाववादी दृष्टि के कारण, वे उन तथ्यों की चित्रावली को वैज्ञानिक रूप से निबद्ध, गुम्फित तथा अंकित कर ही नहीं सके। उदाहरणतः, श्रद्धा ने जिस मानवता की विजय की घोषणा की थी, उसके निर्माण के प्रयत्न इड़ा-पूर्व श्रद्धा के कार्यकाल में ही आरम्भ हो जाने चाहिए थे। किलात और आकुलि के सहचरत्व से मानवता निष्पन्न नहीं हुई थी। यदि प्रसादजी को मनु तथा श्रद्धा को आदि-मानव और आद्या-मानवी के रूप में ही प्रस्तुत करना था, तो फिर समाज-विकास के प्रारम्भिक इतिहास को ध्यान में रखकर करना था और मानवता की विजय की घोषणा की आवश्यकता ही नहीं थी। वस्तुतः, सारस्वत सभ्यता तक आने के लिए आदि-मानव को हज़ारों वर्ष बीते हैं। यदि ऐतिहासिक मनु की कथा ही कहनी थी, तो आधुनिक पूँजीवादी समाज की ह्रास-ग्रस्तता तथा उग्र व्यक्तिवाद के प्रवृत्ति-मण्डलों को, आधुनिक तथ्यों को तथा सभ्यता-समीक्षा को, उसमें निहित करने की आवश्यकता नहीं थी। तात्पर्य यह कि **कामायनी** आदि-मानव की कथा है ही नहीं। वह ऐतिहासिक काव्य भी नहीं है। वह एक आधुनिक काव्य है, जिसमें आधुनिक समस्या है, जिसको एक कथा-फ़ैण्टेसी के विशाल चित्र-फलक में अंकित किया गया है। निश्चय ही, यदि इस प्रकार आधुनिक समस्या को प्रस्तुत करना था तो उस समस्या की पार्श्वभूमि तथा उसके विकास-क्रम को संगठित रूप से, हर बात का ध्यान रखते हुए ही, प्रस्तुत करना था। किन्तु प्रसादजी ने ठीक छायावादी कवि की स्वयं-गति द्वारा ही (अपने विषय के निरूपण, प्रतिपादन, चित्रण की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर) **कामायनी** प्रस्तुत की है।

किन्तु इस अभाव के पीछे प्रसादजी का अकौशल इतना नहीं है, जितना कुछ विशेष-जीवन-तथ्यों से भागना, जिसमें उनकी छायावादी अन्तर्मुख अभिरुचि का भी बड़ा हाथ है-जो अभिरुचि उनकी व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता के द्वारा काटी-छाँटी-तराशी गयी है।

किन्तु, इस तराशने में केवल शब्दों को हटाया नहीं जाता, वरन् उन अर्थ-चित्रों को हटाया जाता है जो उस अभिरूचि के अनुकूल नहीं होते। फलतः, अस्पष्ट खण्डित अंश तथ्य ही उपस्थित होते हैं। तथ्यों के प्रति जो प्रगाढ़ अनुभूति चाहिए, वह उपस्थित होते हुए भी सारी

विचारधारा, सारी अभिरुचि उसके प्रतिकूल दौड़ पड़ती है। फलस्वरूप उनका मूल्यांकन ठीक-ठीक नहीं हो पाता, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका चित्रण भी वस्तु-सामंजस्य तथा क्रम-संगीत लेकर नहीं होता, वरन् उलट-पुलट और उलझा हुआ होता है। इसके उदाहरण पाठक के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं।

श्रद्धा पशुओं के बलिदान से विरक्त होकर मनु कें प्रति यह कहती है:

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है,
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा,
अन्तर्दाह परम से।
उद्वेलित हैं उदधि लहरियाँ,
लोट रहीं व्याकुल-सी।
चक्रवाल की धुँधली रेखा,
मानो जाती झुलसी।
जगतीतल का सारा क्रन्दन,
यह विषमयी विषमता।
चुभनेवाला अन्तरंग छल,
अति दारुण निर्ममता।

सवाल यह है कि ऐसा कौन-सा बड़ा भारी युद्ध हो गया है कि जिससे यह कहा जाये कि 'विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है अपने आप विषम से'। किलात, आकुलि और मनु पशुओं की हत्या करते या आख़िर कितनी कर सकते थे। और स्थिति ही ऐसी थी कि वे अपनी उदर-पूर्ति तथा आत्म-रंजन के लिए कोई मार्ग भी देख नहीं रहे थे। मज़ा यह है कि उन दिनों, जैसा कि प्रसादजी ने चित्रित किया है, कृषि का भी जन्म नहीं हुआ था। तो ऐसी स्थिति में श्रद्धा का आदर्शवादी शब्द-प्रवाह समझ में नहीं आता। या तो प्रसादजी पागल थे या श्रद्धा। किन्तु दोनों में से एक भी पागल नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रसादजी जब श्रद्धा द्वारा यह कहलाते हैं, तब उनके सामने आधुनिक सामाजिक-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-तथ्य हैं। बुद्धि तो ऐसे प्रश्न कर रही है, जो कदाचित् बुद्ध के मन में भी नहीं उठे होंगे। बुद्ध ने संसार के दुख-दैन्य को देखा और अपने विशेष मार्ग द्वारा इस दुख-दैन्य से छुटकारा पाने की प्रेरणा दी। किन्तु श्रद्धा तो यह पूछती है

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों ?

निश्चय ही प्रसादजी के सम्मुख मात्र बलिपशु नहीं, वरन् साक्षात् मानवी बलिपशु हैं जिनका रक्त पीकर ही किसी के कपोलों में लालिमा जाग उठी है। अगर प्रसादजी के सम्मुख अपना युग न होता, तो श्रद्धा प्रसादजी के भाव-विचार-आदर्शों की प्रतिनिधिरूपिणी न हो पाती। और अगर उनके सामने आधुनिक जीवन-तथ्य नहीं थे, तो श्रद्धा की सारी बातें, आदिकालीन परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए, शुद्ध प्रलाप ही कही जा सकती हैं। प्रसादजी स्वयं अपने पात्रों को सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु यह सांकेतिक अभिव्यक्ति है काहे की? प्रसादजी उन पात्रों को अपनी दार्शनिक विचारधारा के प्रतीक मानते हैं। किन्तु उनके पात्र, जैसे कि वे चित्रित किये गये हैं, दार्शनिक विचारधारा के आधार-स्वरूप रहनेवाली वास्तविक जीवन-प्रवृत्तियों को सूचित और निर्देशित कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि यह नहीं देखा गया कि जिन बातों को ध्यान में रखकर पात्रों का सूत्र-संचालन कराया जा रहा है, वे बातें ठीक-ठीक सम्बद्ध होकर उभरी हैं या नहीं। फलतः, यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि **कामायनी** मात्र एक मनोवैज्ञानिक काव्य है। मनोविज्ञान किसी वस्तु-विषय को, कुछ जीवन-तथ्यों को, लेकर ही उपस्थित होता है, या कहीं आसमान से चू पड़ता है? वे जीवन-तथ्य क्या हैं? वे वास्तविकताएँ क्या हैं? इनके प्रति आलोचकों ने उपेक्षा तो बरती ही, स्वयं प्रसादजी ने, अपनी विचारधारा द्वारा निर्णीत प्रतीकत्व का उन पर आरोप कर, भ्रम को और भी अधिक घनीभूत कर डाला। फलतः, **कामायनी** के सम्बन्ध में समीक्षा-चिन्तन स्पष्ट नहीं हो पाया, निखर नहीं पाया। भ्रम को घनीभूत करने का बहुत कुछ श्रेय-प्रेय (उत्तरदायित्व) प्रसादजी पर भी है।

तात्पर्य यह है कि पात्रों के द्वारा जो विचार प्रकट कराये गये हैं, उनकी मात्रा तथा स्वरूप के अनुसार न तो जीवन-तथ्यों को चित्रित किया गया है, न जीवन-तथ्यों को इस प्रकार सूचित-संकेतित किया गया है कि वे विचारों की समुचित पार्श्वभूमि में उपस्थित हो सकें। मेरा मतलब खासकर 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्ग से है। वास्तविकता तो यह है कि उपर्युक्त दो सर्गों में प्रसादजी के कल्पना-चित्रों के पीछे जीवन के वे तथ्य हैं; जिनके प्रति उनके मन में नित्य प्रतिक्रियाएँ होती रहती थीं। नहीं तो इन पंक्तियों का क्या अर्थ है? श्रद्धा कहती है:

कल ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा,
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा!
और किसी की फिर बलि होगी

किसी देव के नाते;
कितना धोखा! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके !
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्जवल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत, बची क्या शवता !

क्या उपर्युक्त पंक्तियों में बलिपशुओं के प्रति बौद्ध-करुणा ही का भाव है या कुछ और? इसके उत्तर में जब मनु यह कहता है कि -

तुच्छ नहीं है अपना भी सुख
श्रद्धे ! वह भी कुछ है

तो वह जवाब देती है :

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।

सुख को अपने में केन्द्रित कर व्यक्ति न तो संसार को सुखी कर सकता है, न स्वयं वह सुखी रह सकता है। अगर कलियाँ सारा सौरभ अपने में बन्द कर लें, और मकरन्द-बिन्दु सरस होकर उसको वितरित न करें, तो क्या होगा? वे स्वयं ही खिल नहीं सकतीं। खिलीं कि सौरभ भागा, मकरन्द ढुलका। किन्तु, खिल न सकने के कारण उनकी जीवन-सफलता की भी तो हानि हुई। श्रद्धा कहती है :

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुलकर तो ये मर लें।
सुखें, झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे;
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे!

मनु के सम्बन्ध में श्रद्धा के सम्मुख यह प्रश्न ही क्यों उठा? प्रश्न इसलिए उठा कि मनु नयी मानवता की रूप-रचना करने जा रहा है। इसलिए प्रश्न यह है कि उसकी नयी मानवता एक-दूसरे को खा जाने के सिद्धान्त पर बनेगी, या सबके सुख के लिए बनेगी? यह सवाल है श्रद्धा के सामने।

इस सन्दर्भ से देखा जाये तो मनु-प्रणीत सभ्यता-आरम्भ के बारे में यह प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त है :

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों !

श्रद्धा के अन्त:करण में अपनी प्रथम महत्वपूर्ण मानव-विजय-घोषणा का उल्लास अब शेष नहीं रह गया। नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। वह सोचती है कि ऐसी कौन-सी मानवता है जो एक-दूसरे के खा जाने के आधार पर ही बनी हुई है। यह वस्तुत: मानवता ही है या शवता। वह कहती है :

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से।

मानवता के सम्बन्ध में सोचते-सोचते वह इस वस्तु-तथ्य पर उतरती है :

यह विराग सम्बन्ध हृदय का,
कैसी यह मानवता।

निश्चय ही, श्रद्धा की यह भावना बौद्ध करुणा-भाव की कल्पना से मापी नहीं जा सकती। यद्यपि यह सच है कि बलिपशुओं की हत्या के विरुद्ध बौद्ध करुणा-भाव ने पर्याप्त जागृति उत्पन्न की, तथा उस ऐतिहासिक घटना-सत्य की प्रभाव-छाया न केवल **कामायनी** में,

वरन् प्रसादजी के अन्य नाटकों में भी पायी जाती है। प्रश्न यह है कि यदि केवल बौद्ध करुणा की स्थापना प्रसादजी का उद्देश्य होता, तो श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यों और लम्बे वक्तव्यों के औचित्य के लिए वैसी शक्तिशाली प्रसंगात्मक पार्श्वभूमि भी प्रस्तुत की जाती। किलात, आकुलि, मनु द्वारा नियोजित पशु-वधों की संख्या, वस्तुत:, इतनी अधिक हो ही नहीं सकती कि हम यह कह सकें कि विश्व आतंक-त्रस्त है, और यह मानवता कैसी है कि जिसमें हृदय का विराग सम्बन्ध है। विशेषकर मनु जब कृषि-प्रणाली तक पहुँचा ही नहीं है(वह आरम्भ ही नहीं हुई है), तब यदि बह शिकार खेलकर उदर-पूर्ति और आत्मरंजन की सामग्री के लिए लालायित रहता है, तो इस स्थिति में 'विश्व', 'मानवता' आदि बृहत सत्ताओं के सम्बन्ध में सोचने का कोई औचित्य ही प्रस्तुत नहीं होता है, न वह स्वाभाविक ही है। फलत:, हमको इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि श्रद्धा के मन्तव्यों और वक्तव्यों के पीछे कुछ ऐसे वस्तु-तथ्य हैं जो मात्र संकेतित हैं, अपने मूलरूप में उपस्थित नहीं ।

वे वस्तु-तथ्य हैं उस समाज के, जिसकी रूप-रचना हुई तो थी बड़े आदर्श रखकर, जिसकी स्थापना हुई तो थी ऊँचे लक्ष्यों से, जिसका उन्नयन हुआ तो था बहुत प्रेरणापूर्वक, किन्तु अन्तत: वह निकला विषमता-ग्रस्त! श्रद्धा इस विषमता पर आँसू बहा रही है। मनु तो केवल इतना कहता है :

आकर्षण से भरा विश्व यह,
केवल भोग्य हमारा

इसका जवाब श्रद्धा देती है :

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन;
नूतन यज्ञ रचेगा !
और किसी की फिर बलि होगी,
किसी देव के नाते।

श्रद्धा किस नये परिवर्तन की बात कर रही है? स्पष्ट बात यह है कि मनु की नयी मानवता के निर्माण में जितना खूब बहा है, उसे देखकर श्रद्धा यह कहती है कि अगर कोई नया परिवर्तन हुआ तो फिर और खून बहेगा। और भी हजारों मारे जायेंगे, रक्तपात होगा। वह किसी दूसरे आदर्श के नाम पर होगा।

क्या जाने कोई साथी बन,
नूतन यज्ञ रचेगा!

शाब्दिक अर्थ करने से भावार्थ यहाँ लुप्त हो जायेगा। 'यज्ञ' का व्यापक भाव ही ग्रहण करना चाहिए।

और 'परिवर्तन' का अर्थ? कौन-सा परिवर्तन? काहे का परिवर्तन ? 'परिवर्तन' का अर्थ भी हमको यहाँ व्यापक करना होगा। 'परिवर्तन' का अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार मनु नयी मानवता बना रहा है, उस प्रकार कोई और व्यक्ति मानवता-निर्माण के प्रयत्न करेगा। किन्तु वह करेगा कब? मनु को हटाने के बाद!

अगर मनु को हटाने के कार्य को नहीं किया गया, तो फिर वह 'परिवर्तन' नहीं हुआ, चाहे और कुछ हो। इसीलिए श्रद्धा कहती है :

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा!

'परिवर्तन और 'बचेगा' शब्द पर जोर दीजिए। अधिक-से-अधिक परिवर्तन का अर्थ किया जा सकता है प्रलय। अगर प्रलय हुआ तो फिर कौन बचेगा! अर्थात् मनु, श्रद्धा आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

किन्तु; निश्चित ही, अगर आप **कामायनी** की कथा को फ़ैण्टेसी मानते हैं, तो प्रलय को भी इस फ़ैण्टेसी का अंग ही मानना होगा, और तब प्रलय का अर्थ किया जायेगा भयानक विप्लव और क्रान्ति, समाज-रचना में आमूल परिवर्तन।

अगर आपने उपर्युक्त अर्थ स्वीकार नहीं किया तो आपको श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यों और वक्तव्यों की औचित्य-संगति के लिए वैसी शक्तिशाली वास्तविक पार्श्वभूमि के अभाव का सामना करना पड़ेगा। तो फिर आपको इस निष्कर्ष पर आना होगा कि प्रसादजी के काव्य में मात्र मनोवैज्ञानिकता है; किन्तु जिन तथ्यों के प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, वे तथ्य तथा उनकी शक्ति की मात्रा, जिसके अनुपात में इतनी तीव्र सबल मानसिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई हैं, आपके दृष्टि-क्षेत्र से बाहर ही रहेंगी, क्योंकि वस्तुत: वे जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत ही नहीं किये गये हैं कि वे उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का वास्तविक औचित्य प्रस्थापित कर सकें। वास्तविक जीवन-तथ्यों को ओझल रखकर, उनके प्रति की गयी मात्र मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा प्रक्रियाओं का चित्रण करना, छायावाद की प्रमुख विशेषता है। छायावाद में भाव-पक्ष का चित्रण किया जाता है, विभाव-पक्ष का नहीं। प्रस्तुत किये गये मनोवैज्ञानिक चित्रों से ही आपको यह अनुमान लगाना पड़ता है कि वे तथ्य कौन-से होंगे,

जिन्होंने कवि के मन पर (पात्र के मन में) इतनी सबल संवेदनाएँ जाग्रत और संचालित कीं। **कामायनी** छायावादी काव्य है। इसलिए कवि ने **कामायनी** के चित्रण में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह बहुत बार इतनी अल्प होती है कि जब तक आप प्रसादजी की प्रमुख प्रवृत्तियों को ध्यान में नहीं रखते तब तक उनका अर्थ नहीं लगाया जा सकता। सर्वप्रधान तथा मूलभूत बात यह है कि प्रसादजी के सामने उनके समय का साक्षात् जीवन था, उस जीवन ने उनके सम्मुख जो तथ्य रखे थे उनके प्रति उन्होंने सबल संवेदनात्मक-विचारात्मक प्रतिक्रियाएँ की थीं। प्रसादजी चित्रक थे, अपने सामने उपस्थित साक्षात् जीवन के चित्रक। किन्तु वे उस काल में उत्पन्न हुए थे जिसमें उन्हें बंगाल आदि अधिक विकसित प्रान्तों तथा विदेशों से फैली हुई भाव-विचाराधाराएँ प्राप्त हुई थीं। तत्कालीन समाज की विकासावस्था की कड़ी के एक अंश बनकर, वे पुरातन को नवीन संस्करणों में और नवीन को पुरातन-नवीन के सम्मिश्र संस्करणों में स्वीकार करते जा रहे थे। भारतीय साहित्य में वह युग ही वैसा था। एक ओर अद्वैतवाद, गांधीवाद, दूसरी ओर रवीन्द्र भावधारा, और तीसरी ओर ब्रिटिश, फ्रेंच, अमरीकी, जर्मन, जापानी साम्राज्यवाद, प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय घटनाचक्र, देश के भीतर राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, भूख ग़रीबी, गोलियां, इत्यादि। इसके साथ आप संयोजित कीजिए प्रसाद का सांस्कृतिक-सामाजिक वर्ग-चरित्र, उनकी भाव-विचार पद्धति, उनकी निबिड़ अन्तर्मुखता, उनकी कल्पनाशीलता, तथा छायावादी प्रकृति से उत्पन्न विशेष साहित्यिक अभिरुचि तथा, स्वयं छायावाद और उसकी अभिव्यक्ति की सीमाएँ, तथा साथ ही प्रसादजी की जिज्ञासा, अन्वेषण-शीलता, जीवन की समस्याओं की तीव्र अनुभूति तथा उनका समाधान प्राप्त करने की भयानक छटपटाहट और इतनी उलझनों और समस्याओं के अद्वैतवादी-आदर्शवादी समाधान के अलावा, अन्य भूमिका की प्राप्ति के अभाव का वास्तविक जीवन-तथ्य।

फलतः, वे एक विशाल फैण्टसी के कैनवास पर समस्याएँ चित्रित करने लगे, जीवन-तथ्यों को संकेतित-सूचित करने लगे। उन्होंने जीवन-तथ्यों को अस्पष्ट रखा, किन्तु उनके प्रति की गयी मानसिक प्रतिक्रियाएँ रूपकों और उपमाओं द्वारा प्रस्तुत कर दीं।

यह है वास्तविक स्थिति जिसके प्रसादजी एक अंग हैं। यह है वह वास्तविक स्थिति जिससे **कामायनी** उत्पन्न हुई। इसको भूलकर, हम **कामायनी** का आकलन-अवगाहन कर ही नहीं सकते।

इस पार्श्वभूमि को ध्यान में रखकर ही आप इन पंक्तियों का अर्थ-महत्त्व समझ सकते हैं :

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से,

फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।
सघन धूम मण्डल में कैसी
नाच रही यह ज्वाला।
तिमिर-फणी पहने है मानो,
अपने मणि की माला।
जगती तल का सारा क्रन्दन,
यह विषयमयी विषमता।
चुभनेवाला अन्तरंग-छल,
यह दारुण निर्ममता।
जीवन का सन्तोष अन्य का,
रोदन बन हँसता क्यों।
एक एक विश्राम प्रगति को,
परिकर-सा कसता क्यों।
दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा।
कौन उपाय? गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा।

यदि श्रद्धा की ये मानसिक प्रतिक्रियाएँ केवल बलिपशु के लिए ही होतीं, तो यह सवाल ही न उठता कि वह बलिपशु दुर्व्यवहार कैसे भूल जायेगा, और उसके मन में उत्पन्न अत्याचारी के प्रति घृणा का विष प्रेम के अमृत में कैसे परिणत होगा, और इस घृणा के विष को प्रेम के अमृत में परिणत करने का उपाय क्या है, और उस दुर्व्यवहार को बन्द करने का मार्ग क्या है। इस प्रकार के प्रश्न केवल पशुओं के लिए उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बलिपशु की घटना मात्र एक रूपक है। प्रसादजी के सम्मुख अगोचर रूप में वास्तविक राष्ट्रीय- **अन्तर्राष्ट्रीय**, सामाजिक-राजनैतिक तथा व्यक्तिगत जीवनक्षेत्र में लोभ-लालच, अहंकार, मुनाफा, शोषण, अत्याचार, दमन और लूट-खसोट का विभ्राट खड़ा हुआ है, और उसके **कारण** आपस में एक-दूसरे के लिए हिकारत, घृणा, बदले की भावना, आतंक, भय, **मिथ्या** का आश्रय, दमन और रक्तपात के विशाल दृश्य दिखायी दे रहे हैं। उनके सम्बन्ध में श्रद्धा **की क्षोभपूर्ण संवेदनात्मक** जिज्ञासा उपर्युक्त वाक्यों में प्रकट हुई है।

इस भयानक यथार्थ की संवेदनात्मक अनुभूति के कारण ही, प्रसादजी कल्पना-चित्र पर कल्पना-चित्र उपस्थित करते जाते हैं। अगर यह यथार्थ प्रसादजी के सम्मुख न होता तो वेदकालीन मनु के यथार्थ से इतनी भाव-प्रबलता, इतनी तीव्रता, इतने कल्पना-चित्र प्रस्तुत ही न होते। उदाहरणत:,

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।

अपने स्वयं के अन्तर्दाह से, अपने ही गर्भ के भीतर ज्वालामुखियों के कम्पन से, विश्व आतंक-त्रस्त है। यह कल्पना-मूर्ति किस यथार्थ के सादृश्य पर खड़ी की गयी है? विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच तथा समाज के भीतर जो आत्म-विरोध पैदा हो गया है, वह आत्म-विरोध, परस्पर-विरोध ही वह ज्वालामुखी है, वह अन्तर्दाह है, जिसके कारण स्वयं समाज का, विश्व का, कण-कण आतंक-त्रस्त है। प्रसादजी ने जिस प्रकार विश्व-स्थिति का आकलन किया है, उसी प्रकार का यह समष्टि-चित्र भी उपस्थित किया है। निश्चय ही, जिन तथ्यों में भावोत्तेजना होती है, वह सदृश वस्तुओं की कल्पना भी कराती है। फलत:, इन सदृश वस्तुओं की योजना से उन्हीं तथ्यों का स्वरूप-बोध भी होता है जिनसे भावोत्तेजना उत्पन्न होती है। छायावादी काव्य में उत्तेजित भाव तथा सदृश वस्तुओं की योजना तो रहती है, किन्तु जिन तथ्यों से भावोत्तेजना होती है उनको सामान्यत: ओझल कर दिया जाता है। तथ्यों को ओझल करके मात्र भाव-चित्र प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। इससे अस्पष्टता तो आती ही है, भाव-प्रेरक तथ्य की ओर केवल अन्त:साक्ष्य की सीढ़ियों से पहुँचना पड़ता है। कभी-कभी, बीच-बीच में, ये सीढ़ियाँ खण्डित भी होती हैं, किन्तु क्रम की लकीर समझ में आ जाती है। बीच-बीच में, कभी-कभी, दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ नदारद होती हैं, फलत: एकदम चौथी या पाँचवीं सीढ़ी चढ़ना पड़ता है। **कामायनी** के लिए तो यह बात एकदम सही है।

जो हो, प्रसादजी ने श्रद्धा को अपने जीवन-चिन्तन का प्रतिनिधि बना रखा है। फलत:, प्रसादजी की वास्तविकताओं को समझे बिना उन जीवन-तथ्यों को समझना भी बहुत बार मुश्किल हो जाता है, जिनके प्रति भाव-विचार व्यक्त किये जा रहे हैं।

'ईर्ष्या' सर्ग **कामायनी** की कथा का एक महत्त्वपूर्ण सर्ग है। मनु श्रद्धा से असन्तुष्ट होकर उसे छोड़ देते हैं। इस सर्ग में कृषि का भी यत्किंचित् आभास मिलता है। श्रद्धा शलियाँ

बीनती है, अन्न इकट्ठा करती है। वास्तविक, कृषि-कर्म का यहाँ भी कोई चित्र नहीं है। श्रद्धा को पशु-हत्या अच्छी नहीं लगती। वह अब तकली भी चलाने लग गयी है। (शायद वह लकड़ी की तकली हो), लौहकर्म का कहीं भी आभास नहीं है। श्रद्धा अपने इस छोटे जीवन से सन्तुष्ट है, जिससे मनु असन्तुष्ट हैं। मनु विस्तार चाहते हैं - कर्म-विस्तार, जीवन-विस्तार।

जीवन-विस्तार की इच्छा रखने में मनु की कोई ग़लती नहीं है। ग़लती है उस पद्धति में, जिसके द्वारा जीवन-विस्तार कार्यान्वित हो जाने की स्थिति की कल्पना की गयी है। श्रद्धा को त्यागकर जिस स्थान पर मनु बैठे हुए थे, वहाँ इड़ा न आती तो ? मनु ने तो कभी सोचा भी नहीं था कि उन्हें इड़ा मिलेगी। उनके भाग्य से जिस प्रकार श्रद्धा मिल गयी, उसी तरह इड़ा भी। किन्तु यह निश्चित थोड़े ही था। अतएव मनु द्वारा श्रद्धा-परित्याग जिस प्रकार एक घोर अहंवादी कार्य है, उसी प्रकार श्रद्धा द्वारा छोटे-से जीवन-क्षेत्र को अपने जीवन का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र समझ लेना भी मूर्खता है।

व्यक्तिवादी के लिए अपनी अभिलाषा अपने-आप में स्वयं-सन्निहित औचित्य भी रखती है। उसके लिए इच्छा स्वयंसिद्ध औचित्य भी अपने साथ लेकर उभरती है। निश्चय ही, मनु ने श्रद्धा को कोई सहायता नही पहुँचायी। श्रद्धा ने पर्णकुटी बनायी। उसमें मनु के योग का कोई जिक्र नहीं, यानी मनु ने वस्तुत: कोई योग नहीं दिया। तकली लेकर वह सूत कातने लगी, तो मनु तो उसकी अन्वेषणशीलता पर, उसकी कर्मण्यता पर, गर्व होना चाहिए था। वह गर्भवती थी, उसका भी उसे कोई ख़याल न रहा - और वह-बड़े मजे में श्रद्धा को छोड़कर चल दिया।

साथ ही, श्रद्धा को भी यह मालूम होना चाहिए कि कोई पति अपनी स्त्री से लम्बी नसीहतें रोज़-बरोज़ नहीं सुन सकता। मूल बात यह है कि मनु और श्रद्धा के पारस्परिक जीवन में मनु का ध्यान श्रद्धा से उठकर मृगया आदि साहसिक कार्यों की ओर लगातार बढ़ रहा था। श्रद्धा को यह बुरा लगता होगा (किन्तु प्रसादजी ने यह नहीं कहा है, न इसे श्रद्धा अपने मुँह से कहती है - उसको बुरा लगना स्वाभाविक तो है)। श्रद्धा मनु को उसकी पशु हत्या के विरुद्ध लगातार पाठ पढ़ाती रही। होना तो यह चाहिए था कि मनु को समझकर उसको पाठ पढ़ाया जाता। हुआ यह है कि जिन बातों की ओर निरन्तर वह आकर्षित था, उन्हीं पर श्रद्धा अपनी आदर्शवादी शब्दावली से आक्रमण करती थी (अगर प्रसादजी मनु को थोड़ा और बुद्धिमान बनाते तो वह भी आदर्शवादी बात कर सकता था।) फल इसका यह हुआ कि मनु ने श्रद्धा-परित्याग किया।

प्रसादजी ने इस कलह का चित्रण उचित रीति से नहीं किया है। इसका फल यह हुआ कि उसकी असलियत एकदम छूट गयी है। साथ ही मनु ने श्रद्धा-परित्याग का जो एकदम ज़ोरदार क़दम उठाया, उसकी सबल कारण भूमिका बन नहीं पायी।

प्रसादजी को श्रद्धा के जीवन के प्रति स्वयं मोह है। छोटा-सा पर्ण कुटीर, वह वन-जीवन, उसकी वे प्रशान्त आभाएँ, वह एकान्त। पूँजीवाद सभ्यता के नगर-जीवन की वास्तविकताओं से ऊबकर वनोन्मुख होने, तथा वहाँ सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने की इच्छा कार्यान्वित करनेवाला अमरीकी चिन्तक थोरो भी इसका एक नमूना है। वनोन्मुख होने की इच्छा प्रसादजी में ही नहीं, पूँजीवादी सभ्यता के एक विशेष काल में अनेक साहित्यिकों में जाग्रत हुई । यह एक तरह से अपनी साक्षात् वास्तविकताओं से पल्ला छुड़ाने का एक भाववादी तरीक़ा रहा है, और प्रसादजी में यह कम नहीं है। फलतः, वन तथा ग्राम के आत्म-सन्तुष्ट, आत्मपूर्ण जीवन के प्रति उनमें भी बहुत मोह है। वनवासी ऋषियों के आदर्श से संचालित होकर ही श्रद्धा द्वारा उन्होंने पशु-हत्या के विरोध में अपना स्वर गुंजित किया। साथ ही, उन्होंने मानवता के सम्बन्ध में नये प्रश्न उठाकर, तथा श्रद्धा द्वारा उन्हें मुखर बनाते हुए, वन-जीवन की समस्या-शून्यता (वे समस्याएँ जो प्रसादजी के मन में हैं) तथा उनके आत्म-सन्तुष्ट जीवन के प्रति अपना मोह प्रकट किया है। इसमें क्या आश्चर्य कि आगे चलकर जो प्रश्न तथा समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनका चरम समाधान हिमालयीन अंचलों में ही किया जाता है, और वह भी श्रद्धा के हाथों होता है।

साथ ही, इसमें भी क्या आश्चर्य है कि यह श्रद्धा प्रसादजी के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। उन आदर्शों का भौतिक स्वरूप क्या है? आत्म-सन्तोषपूर्ण सुसंगत जीवन, जिसकी संगति समुद्र की संगति नहीं, एक छोटे-से पोखर की संगति है। उसका कार्यक्षेत्र विशाल विश्व-प्रसार का कर्मक्षेत्र नहीं है। फल यह होता है कि जब प्रश्न उत्पन्न होते हैं, समाज के, विश्व के, राष्ट्र के, तो समाधान कराया जाता है अपूर्व एकान्तवादी सामरस्य से। मनुष्य की इच्छाओं का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर दीजिए, और उसको वे साधन उपलब्ध कर दीजिए कि जिनसे वह दो जून खा सके और तन ढाँप सके, तो ऐसे सज्जन का जो सामंजस्य होगा, जो अपने आस-पास के जीवन से उसकी संगति होगी, वह अपने-आप में भले ही श्लाघ्य हो, किन्तु सबके लिए न तो वह आकर्षण की वस्तु हो सकती है, न वह सबके लिए आदर्श ही है। श्रद्धा और उसके विधाता प्रसाद भले ही उस जीवन की संगति के दृष्टिकोण से आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं और उसकी मूलभूत समस्याओं की आलोचना कर डालें किन्तु उन समस्याओं का वे वैज्ञानिक समाधान नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि उस छोटे-से एकान्त जीवन में, सामरस्य के सिद्धान्त की दृष्टि से

वर्तमान वास्तविकताओं की आलोचना, उस दृष्टि की वैज्ञानिकता तथा औचित्य सिद्ध नहा करती। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हिमालयीन अंचल में बैठकर सारे विश्व से तादात्म्य अनुभव करना छोटा-सा जीवन नहीं है, जैसा कि श्रद्धा का था, तो इसका उत्तर यह है कि जिन समस्याओं को प्रसादजी ने उठाया है, उनका यह कोई उत्तर नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि स्वयं प्रसादजी ने भी उन समस्याओं का कोई उत्तर नहीं दिया। केवल एक जनरल (सामान्य) बात कह दी है कि, 'सबकी समरसता कर प्रचार।'

चूँकि प्रसादजी के पास उन समस्याओं का कोई उत्तर न था, इसीलिए श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पर चली गयी, तथा उन समस्याओं से जूझने का काम इड़ा तथा मनु-पत्र पर छोड़ दिया। और रास्ते में मनु को इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के त्रिपुर बतलाये, जिनमें न केवल परस्पर-विरोध था, वरन् आत्म-विरोध भी था। और फिर उनके समन्वय-सामरस्य की बात करके श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पहुँच गयी।

सच्ची बात तो यह है कि प्रसादजी अपने ही द्वारा उठायी हुई समस्याओं का निराकरण नहीं कर पाते थे। लेकिन श्रद्धा स्वयं इन समस्याओं की स्वीकृति तो बराबर करती आयी है। जैसे वह 'श्रद्धा' सर्ग में ही कहती है :

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

इस विषमता की स्वीकृति के बावजूद, वह यह कहती है :

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त

प्रारम्भ में श्रद्धा इसी आशावाद से आयी थी तथा अपनी अर्ध-भारतीय अर्ध-हेगेलीय शब्दावली में, उसे प्रकट कर रही थी।

किन्तु जब समस्याएँ उत्पन्न होती हैं (वास्तविक जीवन की भीतरी समस्याएँ) तब न पाश्चात्य, न पौर्वात्य, कोई भाववाद (आइडियलिज्म) काम में नहीं आता। किन्तु श्रद्धा आध्यात्मिक सामरस्य का सिद्धान्त लेकर चलती है। उससे समाज और राष्ट्र की वास्तविक समस्याएँ, वास्तविकता के आधार पर, हल नहीं हो सकतीं।

श्रद्धा को प्रसादजी ने हृदय के सब गुण दे दिये हैं, केवल दो गुण हीं नहीं दे पाये - कर्म और बुद्धि। क्यों नहीं दे पाये? इसका एक उत्तर तो यह है कि वे श्रद्धा को श्रद्धा-भाव का प्रतीक मानते थे। किन्तु श्रद्धा-भाव आख़िर किसी-न-किसी बात में तो होगा। श्रद्धा तो कुछ लोगों की हिटलर में भी थी। तो क्या वे भी श्रद्धावादी हुए? नहीं, श्रद्धा का अर्थ है प्रसादजी के भाववादी अद्वैत में, सामरस्य के सिद्धान्त में, श्रद्धा। किन्तु इस सामरस्य का अर्थ क्या है?

श्रद्धा कहती है :

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण - जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।

अर्थात्, "वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एकरस रहनेवाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार; व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखायी पड़ता है और उसमें उठनेवाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि-समूह बिखरते हुए दिखायी देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठनेवाली दुख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख-स्वप्न भंग होते रहते हैं। अत: तुम्हें क्षणिक सुख-दुख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए।"

-विजयेन्द्र स्नातक।

प्रसादजी मुख्यत: कवि-मनीषी थे। उनके वाक्यों की शैव-दार्शनिक व्याख्या करना ज्यादती है। हाँ, यह सही है कि उन्होंने उस दर्शन से कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण किये। किन्तु कवि-दृष्टि के सम्मुख जीवन-तथ्यों के अनुसार उन्होंने उसमें नये अर्थ भर दिये।

हम इस सामरस्य का व्यावहारिक रूप ही क्यों न देखें। हिमालय में बैठे श्रद्धा-समन्वित मनु कहते हैं :

सबकी सेवा न परायी,
वह अपनी सुख-संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण,
द्वयता ही तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता,

सबको ही स्पर्श किये-सी।
सब भिन्न परिस्थितियों की,
है मादक घूँट पिये-सी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय में बैठकर श्रद्धा-मनु 'सबकी सेवा' कर रहे हैं। अगर 'मैं' की चेतना सर्वाश्लेषी होकर अनगिनत भिन्न परिस्थितियों की मादक घूँट पिये है, तो दुनिया का कल्याण हो चुका! एक ही साथ स्टालिन और हिटलर का मज़ा आ गया। एक ही साथ मैकार्थी, विनोबा और माओ-त्से-तुंग का आनन्द आ गया! भई, यही अभेदानुभूति है? फिर किसी का पक्ष लेने की बात सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक धरातल पर उठती ही कहाँ हैं ? क्योंकि-

चेतना समुद्र में जीवन,
लहरों-सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निम्रित आकार खड़ा है।

अगर इस सैद्धान्तिक भूमि से देखा जाये तो नैतिक और अनैतिक का प्रश्न ही नहीं उठता। यह इसलिए कि :

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल।
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

विश्व के सम्बन्ध में केवल यही परिकल्पना है कि वह अपने सुख-दुख से पुलकित है।

किन्तु जहाँ संघर्ष है, द्वन्द्व है, वहाँ समरसता का आदेश यह है कि मैत्री कर लो, क्योंकि पक्ष लेने की बात ही नहीं उठती। इसीलिए तो प्रसादजी कहते हैं :

श्रमभाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें।

वह शासकों की आतंकवादिता की निन्दा ज़रूर करते हैं, किन्तु श्रमिक वर्गों पर भी नाराज़ हैं कि उनको गर्व हो गया है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह हुआ कि जैसा चलता है वैसा चलने दो, उपद्रव मत करो।

वर्ग-विभाजन के बारे में प्रसादजी के खयाल अजीब हैं। वह समझते हैं कि मानो किसी व्यक्ति ने या कई व्यक्तियों ने मिलकर वर्ग-निर्माण, वर्ग-विभाजन आदि किया हो। इसलिए इड़ा कहती है :

मेरे सुविभाजन हुए विषम

और श्रद्धा कहती है :

चेतनता का भौतिक विभाग -
कर, जग को बाँट दिया विराग।

अर्थात् 'चिति का स्वरूप' यह तो नित्य जगत् है, उसका भौतिक विभाग कर तुमने उन भागों का वितरण किया है। अपने बारे में श्रद्धा कहती है :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

समझ में नहीं आता कि किस प्रकार श्रद्धा लोक-अग्नि में तपी है। कम-से-कम कामायनी में, श्रद्धा के चरित के अन्तर्गत तो ऐसी कोई घटना अथवा प्रवृत्ति के विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किये गये हैं, जिनसे हम यह कह सकें कि श्रद्धा वस्तुत: सेवा तथा त्याग के द्वारा जनता का उद्धार कर रही है।

किन्तु, अगर मान भी लिया जाये कि श्रद्धा व्यक्तिश: सेवा करती आ रही है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रसादजी ने जो वास्तविक समस्याएँ उठायी हैं, उनके सम्बन्ध में श्रद्धा ने निराकरणात्मक कोई विशेष स्थिति अपनायी हो, या उनके अनुसार कोई कदम उठाया हो। साथ ही, यह सच है कि व्यक्तिगत सेवा से सामाजिक अन्तविरोधों की समस्याएँ, व्यक्तिवाद की समस्याएँ, दूर नहीं होतीं।

मनु के प्रति श्रद्धा का रुख आवश्यकता से अधिक उदार है। श्रद्धा इड़ा से -

बोली, 'तुम से कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।''
X X
मनु के मस्तक की चित अतृप्ति
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।

इड़ा को जीवन की अन्धानुरक्ति कहकर श्रद्धा ने छुट्टी पा ली। किन्तु मनु के सम्बन्ध में उसके मन में केवल स्नेह है, और कुछ नहीं। क्यों ?

क्या यह श्रद्धा का प्रधान दोष नहीं है? क्या यह सच नही है कि उसके मन में मनु के दोषों को ढाँकने की वृत्ति है? यह एकदम सत्य है कि स्वयं श्रद्धा के चरित्र में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य नहीं है। उसके बारे में श्रद्धा केवल इतना ही कहती है

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुंज गली।
वह भोला इतना नहीं छली
मिल जायेगा, हूँ प्रेम-पली।

मनु के प्रति उसके प्रेम की सीमा यही है कि उसका स्नेह मनु की सीमाओं को - उसके अपराधों को - इतना भूल जाता है कि वह यह भी नहीं देखती कि जिस मनु ने इड़ा तथा सारस्वत सभ्यता के सम्बन्ध में इतना घोर अपराध किया है, उसको अपने किये पर वास्तविक पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मनु पुन: इड़ा-श्रद्धा-सम्मिलन स्थान से भाग खड़ा होता है। किन्तु श्रद्धा उसे खोजती पहुँच जाती है।

तब इड़ा के बारे में मनु कहता है

वह इड़ा कर गयी फिर भी छल।

इड़ा ने मनु के साथ छल किया या मनु ने इड़ा के साथ ? मनु का यह कितना घोर अन्याय है ! उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।

इसका जबाव तो श्रद्धा खूब ही देती है। वह कहती है :

बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन;
अपराध तुम्हारा वह बन्धन -
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन-
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक!

समझ में नहीं आता कि जो मनु साफ़-साफ़ यह कहता है कि इड़ा ने उसके साथ छल किया है (जबकि वह स्वयं इड़ा का घर्षण कर रहा था, प्रजा पर जिसने अग्निवर्षा की थी), उस मनु का अपराध किस प्रकार नष्ट हुआ? वह अपराध-बन्धन किस प्रकार मुक्ति के रूप में परिणत हुआ? श्रद्धा तो यह कहती है कि हे मनु! अब तुम्हें उस सम्बन्ध में डंक (पीड़ा) लगना ही नहीं चाहिए। यह कैसी उल्टी बात है !

क्या यह पक्षपतापूर्ण श्रद्धावाद अपने प्रियपात्र व्यक्तिवादियों के अपराधों को ढाँक नहीं रहा? क्या श्रद्धा इस स्थान पर स्वयं, व्यावहारिक रूप से, व्यक्तिवादिनी नहीं है? स्पष्ट बात यह है कि उसमें स्वयं इच्छा, क्रिया और ज्ञान का सामंजस्य नहीं है।

यद्यपि श्रद्धा की यह बात हम मानते हैं कि :

यह विष जो फैला महा विषम
निज कर्मोन्नति से करते सम;
सब मुक्ति बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम;
गिर जायेगा जो है अलीक,
चलकर मिटती है, पड़ी लीक।

किन्तु, इस कर्मोन्नति में श्रद्धा का योग कहाँ है? मनु का योग कहाँ है? हृदय में शुभ-भावनाएँ और शुभाकांक्षाएँ रखना एक बात है और उनको संगठित, सुसंयोजित रूप से कार्यान्वित करना तथा इस सम्बन्ध में नेतृत्व प्रदान करना दूसरी बात है।
श्रद्धा अपने बारे में भले ही यह कहे कि :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

किन्तु इसका कोई वास्तविक जीवन-उदाहरण कामायनीकार ने प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुत: वह है ही नहीं। इसका कारण यह है कि श्रद्धा स्वयं लोक-व्यक्ति नहीं है, उसका भीतरी प्रवृत्ति-मण्डल ही ऐसा नही है। श्रद्धा एक प्राइवेट इण्डिविजुअल है, अपने-आप में सीमित उसका व्यक्तित्व है। वह स्वयं व्यक्तिवादिनी है, तथा उसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा के सामंजन्य और सन्तुलन का सर्वथा अभाव है। यद्यपि उसमें हृदय के सभी गुण हैं, अर्थात् उसका प्रेम उच्च धरातल पर स्थित है, किन्तु वह धरातल ऐसा नहीं है जो सर्वथा उचित हो। जो स्त्री मानवता की बात करे, किन्तु जो सामजिक कर्मक्षेत्र की ओर लोक-व्यक्ति के रूप में कार्य न करे जो स्त्री अपने प्रेमी के प्रेम में उलझकर उसके घनघोर अपराधों को न केवल भूल जाये, वरन् उनको टाल दे, वह स्त्री मानवता का क्या उद्धार करेगी? उसमें कर्म तथा ज्ञान-विवेक तथा उत्तरदायित्व-भावना का अभाव है।

वस्तुत: देखा जाये तो श्रद्धा नारी-जाति का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। नारियाँ विवाहिता होने पर (इस सम्बन्ध में यह जानने योग्य बात है कि श्रद्धा अविवाहिता है) जितना विवेक, उत्तरदायित्व तथा व्यावहारिक उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक बातों का ज्ञान रखती हैं,

श्रद्धा के पास इतना भी नहीं है। श्रद्धा मनु को क्षमा भले ही कर दे, किन्तु उसकी अनैतिक कार्यवाहियों को नैतिक बनाने का स्वाँग तो न करे!

श्रद्धा-इड़ा-सम्मिलन स्थल से भाग उठने के पहले ('निर्वेद' सर्ग में) मनु सोच रहे थे :

श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख यह कलुषित काया।
और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर,
क्या इनका विश्वास करूँ?

प्रतिहिंसा-प्रतिशोध दबाकर,
मन ही मन चुपचाप मरूँ।

इसी बात को ध्यान में रखकर 'दर्शन' सर्ग में मनु कहता है

वे श्वापद-से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बाल-वीर।

इड़ा और सारस्वत सभ्यता की जनता, जिनके प्रति मनु ने अपराध किया था, उनके सम्बन्ध में (यह बात) मनु कहता है।

मनु के अनुसार सारस्वत जन श्वापद से हिंसक अधीर हैं और इड़ा तो छल कर गयी है:

वह इड़ा कर गयी फिर भी छल।

मनु की इस भूमिका के तुरन्त अनन्तर श्रद्धा कहती है

प्रिय ! अब तक हो इतने सशंक;
देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन,
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा वह बन्धन,
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन,
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

हम पहली दो पंक्तियाँ लेंगे। प्रश्न यह है कि सारस्वत सभ्यता के निर्माण में मनु ने जो योग दिया है, उसके बदले में उसी सभ्यता का ध्वंस तो नहीं किया जा सकता, अपनी अहंग्रस्त इच्छाओं से संचालित मनु के अपराध तो ऐसे भयानक अपराध हैं, जिनके बारे में श्रद्धा को कोई कदम उठाना चाहिए था अथवा, कम-से-कम, मनु को उसकी भूल का विश्लेषण कर घनघोर पश्चात्ताप द्वारा उसको कुछ प्रधान नैतिक मानदण्डों का साक्षात्कार करवाना चाहिए था। लेकिन नहीं, प्रेम के वशीभूत होकर हमारी आदर्शमती श्रद्धा, जो मनु के आखेटक-जीवन में पशु-हत्याओं के प्रश्न की आड़ में मानवता के प्रश्नों को उठाती है, वही श्रद्धा इस समय कहती है कि,

अपराध तुम्हारा वह बन्धन
लो बना मुक्ति.....

यह अपराध स्वयं मुक्ति कैसे हो गया? मनु को तो अपने किये पर पश्चात्ताप तक नहीं, फिर यकायक मनु मुक्त कैसे हुए? इस सम्बन्ध में स्वयं श्रद्धा कहती है कि मुक्त वे इसलिए हुए कि -

.....अब छोड़ स्वजन
निर्वासित तुम.....

अर्थात् तुम निर्वासित हो चुके हो; अब छोड़ो वह पिछली झंझट। जब तुम स्वजनों को छोड़, आये हो, तो अब तुम्हें उन बातों को याद कर दुखी होने की ज़रूरत ही क्या है। खुश हो जाओ :

.....क्यों लगे डंक?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि श्रद्धा ने मनु को भी क्षमा कर दिया है, और इस प्रकार क्षमा कर दिया है कि मानो उन पिछली बातों का कोई महत्त्व ही न हो। ध्यान में रखने की बात है कि मनु ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया है। वह अभी भी दूसरों के उसके प्रति किये गये तथाकथित अपराधों (जैसा कि वह समझता है) के बारे में सोच रहा है, अपने अपराधों के बारे में नहीं। श्रद्धा मनु का अपराध तो स्वीकार करती है, किन्तु मनु से यह नहीं कहती कि वह अपने घनघोर अपराध स्वीकार करे। वह तो मनु को इस परिस्थिति की याद दिलाती है कि उसके अपराधों ने उसे पिछली परिस्थितियों से छुटकारा भी दिला दिया है, इसलिए अब वह मुक्त है, और इस छुटकारे में मनु को खुश होना चाहिए।

तॉलस्तॉय के रिसरेक्शन उपन्यास का नायक अपने किये अपराधों पर पश्चात्ताप कर जिसके प्रति अपराध किया गया है उसकी कष्ट-मुक्ति के लिए-दुखों से उद्धार के लिए-आकाश-पाताल एक कर देता है। अगर वह मानवता की बात करता है, तो समझ में आती है।

किन्तु हमारी श्रद्धा मनु को अपने अंचल में दुलराती है। मनु को अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं होता, और फिर भी उसे दुलराती है। इसीलिए मनु (उपर्युक्त उद्धरण के अनन्तर) कहता है :

तुम देवि ! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार;

हे सर्वमंगले, तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;

कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में ही रहती।

तो जी हाँ, यह क्षमा की फ़िलॉसफ़ी है। नारी का घर्षण कीजिए; जनता पर गोलियाँ चलाइए, हमारे आदर्शवादी श्रद्धावादी साधु-सन्त और उनके चेले-चपाटी सब क्षमा कर देंगे। किन्तु क्षमा किनको करेंगे? जो गोली चलाते हैं उनको, जनता पर जो शासक अत्याचार करते हैं उनको। यह है कामायनीकार का श्रद्धावाद, जिसने हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद के हाथ मज़बूत किये।

यह आकस्मिक बात नहीं है कि जब श्रद्धा इड़ा से मिलती है तब वे लोग, जो घायल पड़े हैं, उनकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करती। उस ओर वह प्रवृत्त है, बतलाया ही नहीं गया। वह इड़ा से इस सम्बन्ध में चर्चा भी नहीं करती, न मरों के प्रति कोई सहानुभूति ही व्यक्त करती है। प्रजा ने जो विद्रोह किया उसके पक्ष में, अथवा उस जनता के पक्ष में, श्रद्धा की सहानुभूति नहीं जागती, इतना अत्याचार देख श्रद्धा के मर्मस्थल पर कोई चोट नहीं होती।

वह श्रद्धा जो 'श्रद्धा' सर्ग में मानवता-विजय की कामना की घोषणा करती है, जो 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्ग में बलिपशु की हत्या की आड़ में मानवता के प्रश्नों को उठाती है, वही श्रद्धा 'दर्शन' सर्ग में जनता की बात नहीं करती। यह है श्रद्धा का मानवतावाद ! जब

वह वास्तविकता के धरातल पर आयी, तब टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गयी। वह मात्र एक निरीह पत्नी बन गयी। मनु को उसने अपने में भर लिया जबकि वहीं कहीं आसपास

अभी घायलों की सिसकी में जाग रही थी मर्म-व्यथा,
पुर-लक्ष्मी खग-रव के मिस कुछ कह उठती थी करुण कथा।

हमें निस्सन्देह श्रद्धा के पत्नीत्व पर कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि वह 'मानवता', 'लोक-अग्नि' आदि की फ़ालतू बातें बन्द कर दे।
क्योंकि वह यह कहती है :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

कामायनी में एक स्थल पर भी इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वस्तुत: श्रद्धा प्रसन्न होकर लोक-अग्नि में अपनी आहुति देती है। अपने घर्षण का जो घाव इड़ा को लगा, उसके बारे में श्रद्धा उससे सहानुभूति प्रकट नहीं करती, तथा जो दुख हुआ है उसके बारे में वह कहती है:

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,

जलती छाती की दाह रही।

मज़ेदार बात यह है कि मनु के कारण सारस्वत सभ्यता में जो इतना विभ्राट हुआ, जो रक्तपातं हुआ, तो वहाँ श्रद्धा ने सहानुभूति, कोमलता, मानवता आदि का आदर्शवाद नहीं उठाया, वरन्, इड़ा पर वर्ग-विभाजन का आरोप लगाते हुए यह कहा:

चेतनता का भौतिक विभाग-
कर, जग को बाँट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शतशत,
कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
संगीतपूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग जाग'।

विश्व के सुख और दुख में विभिन्न परिस्थितियों में एकरस होकर डूबी रहने वाली समरसता ('सब भिन्न परिस्थितियों की, है मादक घूँट पिये-सी' - 'आनन्द' सर्ग), तथा जड़ और चेतन के भीतर अद्धैत चेतना का यह दर्शन (श्रद्धा का दर्शन अथवा श्रद्धावाद); अपने व्यावहारिक पक्ष में किस प्रकार समझौतावादी है, यह उपरिलिखित विश्लेषणों से स्पष्ट हो गया होगा। जो दर्शन विश्व के सुख और दुख में एकरस होकर डूबे रहने का सन्देश देता है, वह बुरे के, शोषक के, अमंगल के, विरोध का, पराजय और विनाश का सन्देश, तथा जनता के संघर्ष, विजय और विकास का सन्देश, नहीं दे सकता।

दूसरे यह सन्देश, यह दर्शन स्थित्यात्मक है, गत्यात्मक नहीं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि वन-जीवन के एकान्तवास में अपने गृहिणीत्व (वह विवाहिता न थी) को चरितार्थ करनेवाली, तथा अपने घर में बैठकर मानवता के प्रश्न को उपस्थित करनेवाली, श्रद्धा मानवता की वास्तविक स्थिति-परिस्थितियों में सामना होते ही, वस्तुत: दार्शनिक पलायन करती है, और मनु को लेकर हिमालय की ओर निकल जाती है। श्रद्धा का आदर्श ही स्थित्यात्मक है। फलत:, मनु का श्रद्धा के सम्बन्ध में यह कहना है :

तुम फूल उठोगी लतिका-सी
कम्पित कर सुख सौरभ तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।

मनु ने श्रद्धा का जो उपर्युक्त चरित्रांकन किया है वह वस्तुत: सत्य है। अपने घर की पर्णकुटी की चहारदीवारी में आत्म-तृप्त जीवन की स्थायिता चाहनेवाली श्रद्धा हिमालय की ओर ही मनु को ले जा सकती है - वास्तविक सारस्वत सभ्यता के पुनरुद्धार-कार्य की ओर उसको उन्मुख नहीं कर सकती ।

श्रद्धा-सरीखे जनों की गतिहीन स्थायिता तथा एकान्तवाद का वही दर्शन है जिसे हम एक शब्द में 'कूटस्थ ब्रह्म' का दर्शन कह सकते हैं। श्रद्धा-जैसे जनों के आदर्श का चरित्रांकन मनु ने एक जगह बहुत खूबी के साथ किया है। वह कहता है :

देखे मैने वे शैल श्रृंग
जो अंचल हिमानी से रंजित,
उन्मुक्त; उपेक्षा भरे तुंग।
अपने जड़ गौरव के प्रतीक
वसुधा का कर अभिमान भंग
अपनी समाधि में रहें सुखी

बह जाती हैं नदियाँ अबोध।
कुछ स्वेद बिन्दु उनके लेकर
वह स्तिमित नयन गतशोक-क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी
चाहता नहीं इस जीवन की।
मैं तो अबाधगति मरुत सदृश
हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग।
प्रति पग में कम्पन की तरंग।
- वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

मनु स्वयं श्रद्धा-जैसे जनों और उनके आदर्शों की गतिहीन स्थित्यात्मकता की जड़ता समझता था।

निश्चय ही श्रद्धा के स्थित्यात्मक एकान्तवादी चरित्र से उत्पन्न यह स्थित्यात्मक व्यक्तिवादी भावादर्शवाद, इस अर्थ में तो मनु के व्यक्तिवाद से ऊँचा कहा जा सकता है कि उसमें आक्रमणकारी, उग्र अहंग्रस्त इच्छा-मण्डल नहीं है, कि जिसके फलस्वरूप मनु को भागना-भटकना पड़ा। किन्तु वह एक दर्शन की हैसियत से, यद्यपि वर्ग-विभाजन आदि विषमताओं की भर्त्सना करता है, किन्तु अन्ततः वह उन्हीं प्रवृत्तियों से समझौता भी करता है जो विषमताओं को जन्म देती तथा विकसित करती हैं। इड़ा के वर्ग-विभाजित समाज की भर्त्सना काफ़ी नहीं है। श्रद्धा की अभेदपूर्ण वर्गहीनता की कल्पना अमूर्त, वायवीय और रहस्यात्मक है। वर्गहीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद अपने अन्तिम अर्थों में इसलिए प्रतिक्रियावादी है : (क) वर्ग-वैषम्य से वर्गहीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपायहीनता का आदर्शीकरण है। भाववादी-रहस्यवादी विचारधारा; (ख) इस उपायहीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरस्थायी है; (ग) इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है - श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रख देती है; (घ) इस विचारधारा के द्वारा यथार्थ और आदर्श के बीच अवांछनीय खाई पड़ जाती है। वर्ग-भेद के सम्बन्ध में एक बात यह ध्यान में रखने की है कि प्रसादजी के पास वर्ग-भेद के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक कल्पना नहीं है। वे वर्ग-भेद के साथ सभी भेद-विषमताएँ मिला देते हैं जो उन्हें दिखायी पड़ती हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे वर्ग-भेद के यथार्थ स्वरूप को समझते नहीं हैं।

श्रद्धावाद, श्रद्धा के चरित्र से उभरकर, यह उद्घाटित करता है कि हमारा तथाकथित भाववाद-आदर्शवाद, अन्ततः, किस प्रकार वस्तुत पूँजीवादी विषमताओं के लिए क्षमाप्रार्थी होकर पूँजीवादी व्यक्तिवादियों को सिर्फ़ नसीहत देता है, और बाद में उन्हीं से समझौता कर लेता है। वह रहस्यात्मक आदर्शवाद, वस्तुतः, आत्म-विरोधों से ग्रस्त पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद का दार्शनिक डिफेंस है, और कुछ नहीं।

इसके साथ ही, श्रद्धा के चरित्र द्वारा हमको यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नयी पूँजीवादी सभ्यता ने लोगों के सामने जो आशाकांक्षाएँ उत्पन्न कर रखी थीं, वही सभ्यता शीघ्र ही अपने आत्म-विरोधों द्वारा ह्रासग्रस्त होकर असंयोजनीय भीतरी और बाहरी विषमताओं में फँस गयी, तथा उसने जनता के ऊपर ही हाथ साफ किया। श्रद्धावाद उसके इन आत्म-विरोधों के लिए क्षमाप्रार्थी होकर उन्हीं की ओर से काम करने लगा, जो शोषक और शासक के रूप में आज जनता के सामने उपस्थित हैं, और उस पर अत्याचार कर रहे हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्रद्धावाद उन लोगों का अस्त्र है जो आज जनता की सम्पूर्ण लड़ाईयों के विरुद्ध शोषकों और शासकों का पक्ष लेते हैं।

श्रद्धावाद घनघोर व्यक्तिवाद है। ह्रासग्रस्त पूँजीवाद का जनता को बरगलाने का एक ज़बर्दस्त साधन है।

श्रद्धावाद की व्याख्या निस्सन्देह उस वाद के सिद्धान्तों की व्याख्या है। इस व्याख्या के अन्तर्गत उस धारा के भाववादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर, उस सिद्धान्त-प्रणाली के भीतरी खोखलेपन की वास्तविकता का उद्घाटन किया जाना चाहिए। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के एकमात्र उद्देश्य-इरादों से हम उसके वास्तविक कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को नहीं समझ सकते (हम उसके कार्य-व्यवहार और चरित्र से उसके उद्देश्य समझ सकते हैं), उसी प्रकार श्रद्धावाद के उद्देश्य-लक्ष्यों से उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को समझ नहीं सकते। किन्तु, उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र से हम उसके वास्तविक कार्यान्वयगत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को समझ सकते हैं। हम यह देख चुके हैं कि श्रद्धावाद, अपने अन्तिम निष्कर्षों में, उसी शासक-शोषक वर्ग के प्रति क्षमापूर्ण होकर, न केवल उसकी रक्षा करता है, वरन् उससे भी सबल रूप से, वह उन लक्ष्यों से विमुख है जो जनता के उद्धार-लक्ष्य, मुक्ति-लक्ष्य कहे जा सकते हैं। उसकी यह विमुखता केवल नकारात्मकता कही जा सकती है, किन्तु वह नकारात्मकता एक ऐसी संहारात्मक शक्ति है, जो अस्पष्ट अर्थशाली शब्दों के प्रयोग-माध्यम से भाववादी-आदर्शवादी डिफेंस खड़ा कर सके। कहने का सारांश यह है कि यह विमुखता मूलबद्ध, प्रवृत्तिमूलक तथा सक्रिय है। यह तो शासक-शोषक वर्गों की बात हुई।

किन्तु भोली जनता तथा अन्य जन श्रद्धावाद का अर्थ प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्था के ही अर्थ में लेते हैं, तथा वे इस श्रद्धावाद को आधुनिक विज्ञान तथा उन्नति के फलस्वरूप उत्पन्न विचाराधाराओं और मूल्यों के विरुद्ध प्रस्थापित करते हैं। हमारे छायावादी साहित्य-चिन्तन में पूँजीवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया की गयी है वह आधुनिक युग को पूँजीवादी व्यवस्था का युग न कहकर केवल 'यन्त्र-युग' मानकर ही प्रस्तुत की गयी है। यन्त्र-युग कहकर वे लोग ऐसे अ-यन्त्र-युग की कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य सरल-स्वाभाविक, स्वावलम्बी जीवन बिताता है। वस्तुत: वह सरल-स्वावलम्बी जीवन, जिसमें वे लोग आधुनिक सभ्यता की उलझनों का अभाव देखते हैं, ऐसा जीवन है जिसका सामाजिक आधार पिछड़ा हुआ है। वह सामन्ती अथवा उससे पूर्वकालीन सभ्यताओं की ग्राम-संस्कृतियों का जीवन है, जिसमें उनकी कल्पनानुसार व्यक्ति सहज-सरल, श्रम-सिक्त, उल्लासपूर्ण जीवन बिताता था। वस्तुत:, यह उनकी मात्र कल्पना ही है, क्योंकि इस कल्पना के लिए कोई ऐतिहासिक-सामाजिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं। वे तत्कालीन सामाजिक जीवन की उन बाधाओं को नहीं देखते, जिन्होंने हमारी सभ्यता को हज़ारों सालों तक एशियायी सामन्तवाद के शिकंजों में जकड़कर रखा। जनता के इतने विप्लव हुए- धार्मिक और राजनैतिक - किन्तु विप्लवों ने समाज-रचना का मूलाधार समाप्त नहीं किया। एक सामन्ती शासक-शोषक के अनन्तर दूसरा सामन्ती शासक-शोषक आया। व्यवस्था वही रही। शोषण वही रहा। हमारी जनता एक-दूसरे से लड़नेवाले हिन्दू-मुस्लिम सामन्तों की सेनाओं में भरती होती रही, और हिन्दू-धर्म और मुस्लिम-धर्म के नाम से लड़नेवाले सामन्तों की लड़ाइयों में इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से काम करती रही। भारत में शक आये, हूण आये, तुर्क आये, अफगान आये, और हमारा देहाती किसान राजनीति से मूलबद्ध रूप से विमुख होकर वहीं हल चलाता रहा। 'कोउ नृप होय हमहिं का हानी' वाली कहावत सिर्फ कहावत नहीं, सामन्त-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की विशुद्ध वास्तविकता है। वह जनता तो जब बगावत करती जब उसकी आर्थिक ज़िन्दगी पर कोई आक्रमण करता, अथवा जान-बूझकर उसके गाँव जलाये जाते। एशियायी सामन्तवाद की सबसे बड़ी विशेषता है – उसकी ग्राम-व्यवस्था, जो आदिम साम्यवादी पंचायती व्यवस्था के (अपने अनुकूल) भग्नावशिष्ट रूपों को लेकर चली। भारत में पूँजीवाद की स्थापना के अनन्तर भी हमारे यहाँ ग्राम-क्षेत्रों का व्यापक विकास न हो पाया। ग्रामीण अंचलों में सदियों पुरानी छायाएँ चलती रहीं। उधर शहरों में बसनेवाले उच्चवर्गीय परिवार अभी सामन्ती प्रभाव-छायाओं को हटा भी न पाये थे कि पूँजीवादी सभ्यता के भीतर आत्मविरोधों की अनुल्लंघनीय खाइयों का न पाटा जा सकने वाला कठोर अस्तित्व अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति बनकर सामने आया। फलत: आदर्श समाज के कल्पना-स्वप्न लोगों की आँखों के सामने तैरने लगे। सुखी, सरल, श्रम-सिक्त, उदार,

स्वावलम्बी, आत्म-तृप्त ग्रामीण समाज ही उनके आदर्श समाज का नमूना बना। निश्चय ही, ऐसे ही ग्राम भारत में अब न थे। किन्तु गाँधीवाद ने ऐसे ग्राम-समाज की कल्पना जनता के मन में स्फुटित कर रखी थी। प्रसाद ने इस कल्पना में थोड़ा औपनिषदिक तथा बौद्ध वातावरण मिला दिया। उसे प्राथमिक भारतीय आर्य संस्कृति के उन्मेषों से न्यस्त किया। ग्राम-जीवन तथा वन-जीवन का हमारे यहाँ खूब आदर्शीकरण हुआ।

निश्चय ही, इसका व्यावहारिक कार्यान्वयगत गर्भितार्थ प्रतिक्रियावादी है। नवीन औद्योगिक विकास तथा सामन्ती शोषण से सर्वथा मुक्ति के तत्त्व इसमें नहीं हैं; यह भारत को अविकसित सामाजिक दशा के खूँटे से बाँध रखना चाहता है। साथ ही, दार्शनिक क्षेत्र में पूँजीवादी समाज की अवैज्ञानिक आलोचना के उपरान्त वह उसी शासक-शोषक वर्ग की अतिचारिता के अपराधों के प्रति क्षमापूर्ण होकर, वस्तुत: जनता के मुक्ति-लक्ष्यों और उससे सम्बन्धित मुक्ति-संघर्षों से विमुख तथा उसका विरोधी है।

साथ ही, हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि हमारे विशेष काल-खण्ड के भीतर श्रद्धावाद ने हमारी पिछड़ी हुई आर्थिक-सामाजिक पार्श्वभूमि के अनुसार मध्यवर्गीय जनता के अविकसित मन में अवैज्ञानिक प्रभावों को जन्म दिया, और एक भावुक अबुद्धिवाद, बुद्धि-विरोधीवाद हमारे मध्यवर्ग में 'अनुभूति, इन्ट्यूशन, आस्था, श्रद्धा, आदि के नाम पर चल पड़ा। वह इतना दृढ़ हुआ कि आज भी हम इस वृत्ति से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

उधर सन् पाँच से लेकर सन् सैंतीस के काल-खण्ड में प्रसादजी अपनी कई विकासावस्थाओं को पास कर चुके थे। वे पूँजीवादी राष्ट्रवाद के भीतरी खोखलेपन को (अवैज्ञानिक रूप से ही क्यों न सही) देख चुके थे।

और, यूरोप में सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक तो मार्क्सवादी प्रवृत्ति जिसने आगे चलकर रूस में समाजवाद की स्थापना की, और एक आदर्शवादी प्रवृत्ति जिसने भाववादी रीति से पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की। उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ स्पेंगलर। उसकी पुस्तक **पश्चिमी सभ्यता का ह्रास (डिके आफ़ वेस्टर्न सिविलिज़ेशन)** हिन्दुस्तान में भी कुछ हाथों में पड़ी। किन्तु भारतीय जनता की मन:स्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी निर्माण-क्षमता में अविश्वास करे। रवीन्द्र-सरीखें कुछ कवि-चिन्तकों ने (पूँजीवादी) राष्ट्रवाद के विरुद्ध आवाज उठायी। उनके सामने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रवाद तो था ही, भारतीय पूँजीवादी राष्ट्रवाद भी था (इसका अर्थ कदापि यह नहीं था कि प्रसाद अथवा रवीन्द्र भारत में साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलनवाले जनता के मुक्ति-संघर्षों के विरोधी थे)। रवीन्द्रनाथ की पुस्तक **राष्ट्रवाद (नेशनलिज़्म)** पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मन में भी

समता से युक्त समाज का जो कल्पना-चित्र है वह पुरातन ग्रामीण पंचायती समाज के नमूने का, आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार, परिष्कृत-संस्कृत रूप ही है। प्रसाद का अद्वैतवादी औपनिषदिक शैव-बौद्ध भाववाद, अपने दार्शनिक धरातल पर, रवीन्द्र-विचार की श्रेणी में ही बैठता है।

प्रसाद की पूँजीवादी सभ्यता की भाववादी समीक्षा पूँजीवादी वास्तविकताओं को लेकर ही चली है। पूँजीवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध उनका रुख़ रवीन्द्र-जैसा हीं है। साथ ही उनकी बुद्धिवाद-विरोधी वृत्ति भी रवीन्द्र-दर्शन से पूर्णरूप से प्रभावित है।

यूरोप में हेगेल के अनन्तर उसका विशुद्ध द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी रूप मार्क्स-एंगेल्स ने प्रतिष्ठापित किया। किन्तु व्यक्तिवादी-आत्मवादी विचारकों ने सत्य के ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि को मार गिराया। बुद्धि से हम अन्तिम सत्य नहीं जान सकते यह निश्चय किया गया, और दार्शनिक धरातल पर अबुद्धिवाद को स्थापित किया गया। इस अबुद्धिवाद (इर्रेशनलिज़्म) का सर्वप्रथम समर्थक प्रचारक शॉपनहॉर था। यह आकस्मिक बात नहीं है कि इस जर्मन दार्शनिक ने प्राचीन भारतीय दर्शनों से प्रेरणा प्राप्त की। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हेडेगर से लगाकर आधुनिक अस्तित्ववादी फ्रेंच विचारक-उपन्यासकार ज्यॉ पॉल सार्त्र तक अबुद्धिवादी 'अनुभूति' के प्रचारक रहे।

निश्चय ही इस अबुद्धिवाद ने भारत में एक नवीन संस्करण प्राप्त किया। हमारे यहाँ पहले से ही श्रद्धावाद चला आया है। प्रसादजी ने इस श्रद्धावाद में अपने समाज स्वप्न को गुम्फित किया, भाववादी धरातल पर मानवतावाद को ग्रथित किया। व्यक्तिगत मानव-गरिमा को उससे संयुक्त किया (प्रसादजी के कथा साहित्य में मानव-गरिमा के भव्य चित्र प्रस्तुत हैं), यौवन और सौन्दर्य के उन्मेष से न्यस्त किया, रहस्यवादी प्रवृत्ति से उसे सशस्त्र किया, किन्तु अपने अन्तिम निष्कर्षों में उसने प्रतिक्रिया के हाथ मज़बूत किये। और इसका कारण क्या था? कारण प्रसादजी नहीं जानते थे। उनके विचारों का क्या प्रभाव होगा, उससे अवगत प्रसादजी न थे। वे अकाल-मृत्यु प्राप्त हुए।

कारण दो थे। एक तो प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा बहुत कुछ स्पेंगलर-जैसी ही है। पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारकों ने पूँजीवादी सभ्यता की जो आलोचना की, वह न केवल अवैज्ञानिक है, वरन् जनवादी मुक्ति-संघर्षों की भयानक शत्रु भी है। स्पेंगलर आदर्श समाज का कोई चित्र प्रस्तुत न कर सका था। प्रसादजी भी न कर सके। हमारे भारत में उन दिनों वैज्ञानिक रूप से शोषण-विहीन समाज की कल्पना को प्राथमिकता नहीं दी जा रही थी। साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष ही जोरों पर था। किन्तु सन् पैंतीस के आसपास

प्रसादजी ने मूलभूत समस्या उठायी, शोषण-विहीन समतापूर्ण समाज-व्यवस्था की, जिसके वे पूर्ण समर्थक रहे। किन्तु उन दिनों भारत में, कुछ महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर (जिनमें रवीन्द्रनाथ भी हैं), शेष सब मध्यवर्गीय सांस्कृतिक लोग रूस के समाज को विश्वेतिहास में एक अत्यन्त वांछनीय स्वागत-योग्य सामाजिक-राजनैतिक प्रयोग मानते थे। किन्तु मानते थे उसे केवल प्रयोग ही। सन् अडतीस तक मध्यवर्गीय समाज में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विचारधारा के रूप में भारत मे मार्क्सवाद का व्यापक प्रभाव न था, यद्यपि उसका महत्पवूर्ण प्रबल आरम्भ यत्र-तत्र दृष्टि-गोचर हो चुका था। पश्चिमी विचारक सभ्यता-समीक्षा के क्षेत्र में निराशावादी दृष्टिकोण अपनाते थे। स्पेंगलर सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक निराशा का दार्शनिक था। प्रसादजी ने निराशा तत्त्व ग्रहण न किया। राष्ट्रवादी भारतीय स्थिति ही ऐसी थी कि घनघोर वास्तविकताओं के बावजूद भारतीय जनता अपने भविष्य के सम्बन्ध में निराशाग्रस्त न थी, इसलिए कि वह अपने मुक्ति-संघर्ष में लीन थी। प्रसादजी यह समझते थे कि मनुष्ता के स्वाभाविक गुणों के प्रयोग तथा उदार दृष्टिकोण तथा हार्दिकता की स्थापना से हमारे समाज की विषमताएँ दूर हो सकती हैं। श्रद्धा मनु-पुत्र से कहती है :

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय;
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निश्चय,
हर ले, हो मानव-भाग्य उदय।
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

निश्चय ही, इस समरसता का अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रसादजी सामाजिक स्तर पर समता के पक्षपाती थे। जिस आवेग से, जिस जोश से, जिस तीव्र संवदेना से, प्रसादजी ने (अपने भाववादी तरीके से) विषमताओं पर आघात किया है, उससे तो यही अर्थ सूचित होता है।

किन्तु इस समरसता की द्वि-अर्थ शालिता के पीछे, वस्तुत: प्रसादजी का यह विश्वास है कि समाज के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक अतिचारिता ही बन्द हो सकती है। इस प्रकार की विषमताएँ तो रहेंगी ही। इसीलिए प्रारम्भ में ही श्रद्धा कहती है:

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

पूँजीवाद के अन्तर्गत शोषकों के विरुद्ध जनता के संघर्षों के बारे में प्रसाद जी का विश्लेषण न केवल अवैज्ञानिक था, वे जन-चेतना को भौतिक सभ्यता द्वारा (पूँजीवाद द्वारा) निर्मित कृत्रिम दु:ख-भावना का ही रूप मानते थे।

प्रसादजी का यह कहना था कि इस भौतिक सभ्यता ने, इस यन्त्र-युग ने, जनता के हृदय में अपने योगक्षेम से अधिक संचय के लोभ को जाग्रत किया। जनता द्वारा (उसके द्वारा माने हुए) सुख की खोज उसकी संवेदनशीलता के कारण है- और यह संवेदनशीलता वस्तुत: भौतिक सभ्यता ने, यन्त्र-युग ने, उत्पन्न की है। और उनके दुख बनावटी हैं, उनके दुख कृत्रिम हैं, फलत: उनके जीवन में कष्ट-ही-कष्ट हैं।

प्रसादजी के मन्तव्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि नयी भौतिकवादी (पूँजीवादी) सभ्यता ने जनता में एक अवांछनीय संवेदनशीलता निर्माण की, जिसके फलस्वरूप जनता ने अपने बनावटी दुखों का निर्माण किया, और इसके फलस्वरूप उसका जीवन कष्टमय हो गया। इस संवेदनशीलता के साथ है एक विशेष प्रकार का लोभ। वह कौन-सा है? अपने योगक्षेम के लिए जितना आवश्यक संचय है, उससे अधिक संचय करने का लोभ।

प्रसादजी का अभिप्राय यह है कि आज जितने जन-संघर्ष चल रहे हैं, उनके पीछे ऐसा धन-लोभ काम कर रहा है जो अहितकर है। अपने लिए आवश्यक जितनी सामग्री है उससे अधिक संग्रह करने की लालसा जनता में पैदा की गयी। प्रसादजी के अनुसार जनता की यह लालसा गलत है।

प्रसादजी का यह मन्तव्य कितना जन-विरोधी, कितना प्रतिक्रियावादी और कितना पूर्वाग्रहपूर्ण हैं, इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। जो लोग जनता के खुले-छिपे शत्रु हैं -चाहे वे साधु-सन्त के रूप में ही क्यों न आयें - वे सब यही सोचते हैं कि हिन्दुस्तान का शोषित-वर्ग अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक चाहता है। ऐसे विचारक पूँजीवाद का चाहे जैसा और चाहे जितना विरोध क्यों न करें, उनके सामाजिक दर्शन का मेरुदण्ड जन-बिरोधी उच्च शासक-वर्गीय प्रवृत्तियाँ ही हैं।

भारत की जनता हमेशा से बहुत ग़रीब रही है। हमारे यहाँ भूख, अकाल, महामारी के अलावा, लगातार कष्ट के भयानक-से-भयानक उदाहरण हज़ारों-लाखों की संख्या में प्रतिदिन

मिलते हैं। आज तो हालत यह है कि मध्यवर्ग में सामान्य रूप से त्राहि-त्राहि मची हुई है। प्रसादजी के जमाने में भी ग़रीब मध्यवर्ग की स्थिति ख़राब ही थी। इतनी सारी जीवन-दृश्यावली प्रसादजी के सामने प्रस्तुत होते हुए भी, एक घनघोर भयानक प्रतिक्रान्तिवादी की तरह वे यह कहते हैं - पीड़ित प्रजा मनु को बतलाती है :

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

वास्तविक बात तो यह है कि प्रसादजी जनता की वास्तविकताओं तथा अपने प्रतिक्रियावादी विचारों के बीच झूलते थे। नहीं तो क्या कारण है कि प्रसादजी उपर्युक्त पंक्तियों को लिख चुकने के तुरन्त अनन्तर ये दो पंक्तियाँ भी लिखते :

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

प्रथम पंक्ति का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यन्त्रों ने मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों को नष्ट कर दिया, उसे यन्त्र बना दिया। उसकी शारीरिक शक्ति का नाश किया और शोषण के जरिए उसकी ज़िन्दगी उद्ध्वस्त कर दी।

इन दो पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी प्राक्-पूँजीवादी अर्थात सामन्ती अथवा सामन्तपूर्वी, ग्राम-समाज-व्यवस्था की दृष्टि से यह आलोचना कर रहे हैं। वे इस प्रकार अपनी बात रख रहे हैं, मानो पूँजीवादी के पहले हमारे समाज में शोषण होता ही न हो। इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि आर्य जब भारत पहुँचे तब उनका समाज वर्ग-विभक्त था। किन्तु प्रसाद यह ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथ्य बिल्कुल भूल गये हैं। वे शोषण को पूँजीवादी सभ्यता की ही विशेषता मानते हैं, जिसका वे विरोध कर रहे हैं। उनके सामने जन-जीवन के ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें दुख और कष्ट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं :

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती।
यहाँ भूख से विकल दलित को,
पद-तल में फिर-फिर गिरवाती।

यह सब ठीक है। किन्तु जन-संघर्षों को यह कहकर बदनाम करना कि जनता अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक सामग्री के लोभ में संघर्ष कर रही है, न केवल यह बतलाता है कि प्रसादजी का यह रुख़ जन-विरोधी है, वह यह भी सूचित करता है कि प्रसादजी प्राक्-पूँजीवादी समाजों के अपने किसी काल्पनिक नमूने पर जनता के जीवन की ऐसी रूपरेखा निर्मित करना चाहते हैं, जिसमें जीवन-धारण के लिए मात्र आवश्यक सामग्री के अलावा उसको कुछ भी न मिल पाये। इसका निष्कर्ष इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि प्रसादजी जनता को उसके सीमित असंस्कृत जीवन की चहारदीवारी में ही बन्द रखना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि बिना सुख-साधन-समृद्धि के जनता को अपने सांस्कृतिक विकास का अवसर नहीं मिल सकता। किन्तु प्रसादजी तो उन्हें पुराने, आत्म-सन्तुष्ट, अज्ञान-ग्रस्त, अराजनैतिक जीवन की चहारदीवारी में क़ैद करना चाहते हैं।

कहाँ तो प्रसादजी तथा उनकी वह श्रद्धा जो आरम्भ में यह कहती थी :

काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम।

और कहाँ ये प्रसादजी यह कहते हैं। :

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

जब जनता की बारी आयी, तब यह कहा गया कि तुम व्यर्थ संवदेनशील हो गये हो, ये तुम्हारे दुःख बनावटी हैं। ओह! तुम लोभी हो, जरूरत से ज्यादा चाहते हो। ठीक है, पूँजीवाद तुम्हारा शोषण करता है, लेकिन तुम भी तो आवश्यकता से अधिक माँगते हो!

इस विश्लेषण को पढकर कौन न इस नतीजे पर पहुँचेगा कि श्रद्धावाद और उसके प्रणेता प्रसादजी, अन्तिम निष्कर्षों में, नितान्त जन-विरोधी हैं। अपनी प्रतिक्रियावादी प्रकृति के अनुसार ही तो प्रसादजी ने यह कहा :

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें।

इस श्रद्धावाद के भीतर नारी के सौकुमार्य, सहज सरलता-कोमलता, मानवोचित सौहार्द का सन्निवेश कर प्रसादजी ने वास्तविक प्रतिक्रियावाद को ढाँक दिया है, तथा पात्र रूप में उपस्थित श्रद्धा को श्रद्धावाद का प्रतीक बनाकर उन्होंने अपने जनविरोधी मन्तव्यों पर भावनात्मक तथा रहस्यवादी वायवीयता की कुहरीली रंगीन चादर बिछा दी है। चोरी के माल को छोटी सन्दूक में बन्द कर, उस पर सुन्दर चादर बिछवा, उसे देव-सिंहासन का रूप देते हुए, उस पर अपने मनोहर-भव्य इष्टदेव की सुशिल्पित प्रतिमा की स्थापना करना, चोरी के अस्तित्व को समाप्त नहीं कर सकता। ठीक यही बात प्रसादजी के सम्बन्ध में भी है। अपनी विचारधारा पर वे चाहे श्रद्धा की मूर्ति स्थापित करें या अश्रद्धा की, उसका मूलबद्ध प्रतिक्रियावादी स्वरूप छिप नहीं सकता। उसमें पाश्चात्य ह्रासकालीन पूँजीवादी सभ्यता के निराशावादी विचारकों की भ्रामक आलोचनात्मक धारणाओं की छाप तो है ही, उस पाश्चात्य प्रतिक्रियावाद का भारतीय प्रतिक्रियावाद से यह योग बहुत ही चमत्कारपूर्ण है।

आपत्ति यह नहीं है कि प्रसादजी ने पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना क्यों की। आपत्ति यह है कि उन्होंने जिन धारणाओं के वशीभूत होकर अपनी सभ्यता-समीक्षा प्रस्तुत की, उसमें समाज के मूल सक्रिय द्वन्द्व चित्रित न हो सके। यही नहीं, वरन् यह कि उनकी धारणाएँ, अपने अन्तिम निष्कर्षों में, जन-विरोधी रहीं।

सच तो यह है कि प्रसादजी नवीन वास्तविकताओं की विकास-शक्तियों के न पूरे जानकार थे, न उन यथार्थताओं से वे अपनी संगति स्थापित कर सके थे। नवीन वास्तविकताओं के आत्मविरोधों ने अपना लम्बा-चौड़ा मुँह फैला दिया। इस परिस्थिति को उच्चतर विकास में परिवर्तित किया जा सकता था, किन्तु पीछे की ओर मुड़कर नहीं, आगे की तरफ बढ़कर। प्रसादजी में यही कमज़ोरी आ गयी।

किन्तु प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा तथ्यों पर आधारित है। यह बात अलग है कि हम अपने दृष्टिकोण से उन तथ्यों को एक प्रकार से व्यवस्थाबद्ध करें, और प्रसादजी दूसरे प्रकार से करें। किन्तु इस बात का श्रेय तो प्रसादजी को देना ही होगा कि उन्होंने आधुनिक वास्तविकता के जीवन-तथ्यों को उभारा, और उन्हें इतने सशक्त रूप से प्रस्तुत किया कि वे बरबस हमारा ध्यान उन सच्चाइयों की तरफ़ खींच लेते हैं जो आज हमारे समाज की दारुण वर्तमान वास्तविकता है।

4. 'राम की शक्ति-पूजा' : मिथक मंत्र और नाटक का जादू

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

कविश्री निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' एक ऐसी रचना है जिसे आज की भाषा में 'संश्लिष्ट कविता' (टोटल पोएट्री) कह सकते हैं। कलावस्तु के रूप में यह एक विलक्षण रूप (यूनिक फार्म) वाली भी है। इसमें खुले वातास वाले रंग-मंच की तरह एक विशाल रंगफलक है जिसमें 'आज' की समरभूमि के युद्ध का पर्दा गिरते ही 'आज की अमानिशा' में राम की मनोभूमि का द्वन्द्वयुद्ध शुरू हो जाता है। सारा काव्य मिथक के प्रभामंडल में लिपटा हुआ होकर भी यथार्थता के सूर्य से ज्योतिर्मय हो उठता है। काव्य में प्रधान मिथक में शक्ति-पूजा के रूप में रहस्यवाद गुँथ जाता है, तथापि मिथक अन्तर्लीन नहीं हो पाती। अलबत्ता मिथकीय चेतना खंडित हो जाती हैं। मिथकीय चेतना के खंडित होने के साथ-साथ 'शक्ति' के धार्मिक अर्थों के अलावा सामाजिक, ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक अर्थकदंब खिल उठते हैं। इस तरह यह कविता मिथक और रहस्य, धर्म और अतिप्राकृतिक पर आरूढ़ होकर भी समसामयिक यथार्थता का आख्यान करती है।

इसमें कथा का आख्यान अभिनय तथा कार्यव्यापार के तत्त्वों द्वारा हुआ है। इसलिए इसमें कुदरतन नाटकीयता का प्रचुर समावेश हो गया है। कुशल नाटकीयकरण का सूत्र है - ''बताओं नहीं; दिखाओ और अभिनीत करो!'' इसलिए इसमें काव्य और नाटक, दोनों बखूबसूरत उभर आए हैं। फिर भी, 'शक्ति-पूजा' न तो महाकाव्य है और न ही काव्यात्मक नाटक, बल्कि एक महाकाव्यात्मक कविता (एपीकल पोएट्री) के रूप में इसमें नाटकीयता की खूबियाँ पाई जाती हैं। इस कविता की इतिवृत्त-पद्धति में तो नाटकीय कार्य गुँथते हैं तथा विवरण-प्रवाहों में चित्रात्मक फलक। इस वजह से 'शक्तिपूजा' में नाटक और काव्य, चित्रकला और शब्दसंगीत, विद्वत्ता और भावुकता, रोमांटिकता और आधुनिकता के सौन्दर्य-तत्त्वों की रंगारंग छटा छिटकी है। अत: 'राम की शक्ति-पूजा' काव्य-भूमि पर चित्रकला, काव्यकला, नाट्य-कला, संगीतकला आदि का निवेदन करने के कारण एक संश्लिष्ट कविता बन गई है।

संश्लिष्ट-कविताधर्मा 'शक्ति-पूजा' के विलक्षण रूप होने के भी कुछ अन्य कारण हैं। नाटक की नाटकीयता में प्लाट (अर्थात् कथा का सुनियोजित कार्य-व्यापार में रूपायन) के अंतर्गत आकर्षण, रोमांच एवं प्रतिफलन का चक्र घूमता है जो 'संधियों' के विरामों

में बहुविध संवेगों को गहराई से अनुभूत कराते हैं। इन्हीं आधारों पर संस्कृत आचार्यों ने संधियाँ रची हैं। 'शक्ति-पूजा' की कथा कथानकधर्मा होकर भी क्लासिकल बंधन में नहीं जकड़ती, प्रत्युत यह रोमांटिक रूप में क्लासिकल भव्यता को धारण करने का ज़बर्दस्त प्रमाण होती है। रोमांटिक रूप के विन्यास के कारण इसमें एक ओर कवि की आत्मा की कथा प्रक्षेपित हुई है, दूसरी ओर मिथक में समसामयिक चेतना गुँथ गई है, और तीसरी ओर दिवा-स्वप्नों, फान्तासियों, विवरणों, संवादों की सिद्धहस्त तकनीकों का इस्तेमाल हुआ है। अत: कविता का रूप चेतना के खंडों में पिरोया गया है और 'पूर्वदीप्ति' (फ्लैश-बैक) प्रणाली द्वारा चिंतन और संदर्शन का साक्षात्कार हुआ है। इसके विलक्षण रोमांटिक रूप की ही यह खूबी है कि इसके लगभग हरेक खंड में कला का नया प्रयोग है। पहला खंड दिन में घटी घटनाओं को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति बहुब्रीहि-समास श्रृंखलाओं से गुम्फित है और हिन्दी में संस्कृत शब्दावली के ध्वनि-सौंदर्य को धारण करने की कुशलता का अद्‌भुत प्रमाण भी है। यमक की झमक से गमकते हुए छन्द चरण श्रीहर्ष के प्रभाव की याद दिलाते हैं जहाँ कला का परिपाक बौद्धिक चिंतन से होता है। इसी खंड में लौटती हुई वानर सेना भारवि के, जैसे अर्थगौरव से गर्भित है। दूसरे खंड में लंका में बिताई गई रात के कालिदासीय भावोन्माद दिवास्वप्न-चित्र हैं। तीसरा खंड हनुमान की अतिमानवीय (सुपरह्यूमेन) शक्ति तथा अतिप्राकृतिक (सुपर-नेचुरल) कार्यों से जुड़ा है और तुलसीदासीय कौशल से व्यंजित है। चौथे खंड में विभीषण तथा जाम्बवान की आत्मीय सलाहें हैं जिनमें छायावादी वैयक्तिकता की भी झाँकी है। और अन्तत: पाँचवें खंड में राम द्वारा शक्ति की सांस्कृतिक कल्पना एवं तांत्रिक साधना का अंकन है। इस तरह इस सम्पूर्ण कविता की भाषा की अभिव्यंजनाओं में अकादमीय परंपरा का एक अभ्यासी इतिहास मिलता है जो कवि निराला के अनुशीलन का भी सबूत है। इस रचना के विलक्षण रूप के अन्तर्गत हम देखते हैं कि कई ढंग के मिथकीय पात्र कई ढंग से आए हैं। दो पात्र तटस्थ-क्षेत्र में आसीन हैं। वे विचारपक्ष का भव्य एवं उदात्त उत्कर्ष करते हैं। वे हैं विभीषण तथा जाम्बवान्। दो पात्र कार्य के अतिरंजित क्षेत्र में समासीन हैं। वे हैं हनुमान और दुर्गा। दो पात्र नेपथ्य क्षेत्र में रहते हैं : रावण और सीता। वे क्रमश: भावना-क्षेत्र का तीव्र एवं ललित उन्मूलन करते हैं। इनमें से खलनायक रावण आराधना से शक्ति को सिद्ध करके उसके माध्यम से सारे वातावरण में अन्धकार-धर्मी होकर हावी है। सीता विद्युत्-रेखा-सी कौंधकर राम में सौंदर्योदात्त लालित्य तथा धीर करुणा का अभ्युदय कराती है। इस तरह नायक श्रीराम के अलावा छह पात्र विचार-चरण, भावना-चरण तथा सौन्दर्य-चरण की मैत्री करते हैं। खलनायक रावण और महाशक्ति ने अति प्राकृतिक (सुपरनेचुरल) तत्त्वों का संधान किया है जो मिथकीय जादू से बँधे हैं। किन्तु इसे समतोल करने के निमित्त

अतिमानवीय (सुपरह्यूमेन) तत्त्व को उभारा गया है। इसका अद्‌भुत एवं अलौकिक पक्ष है हनुमान; तथा मानबीय एवं रहस्याराधक पक्ष है राम। इस भाँति राम एवं हनुमान (नर-वानर) के मेल से एक पूरे धीर नायकत्व द्वित्व की प्रतिष्ठा होती है, तो रावण एवं शक्ति के मेल से अन्याय और अन्धकार फैलता है। संपूर्ण कविता में सूर्य और उद्धार तथा अन्धकार और पतन के बीच भी एक निरन्तर संघर्ष मचा हुआ है। इस संघर्ष में विचार-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण नाटकीयता रंगमचीय कार्य को अन्तर्मुखी संदर्शन में तब्दील कर देती है। इसीलिए 'शक्ति-पूजा' राम के मनोद्वन्द्व की आधुनिक पुनर्व्याख्या-सी हो जाती है। ऐसे मौकों पर कविता के संवाद या विवरण चित्र-एवं-प्रतीक-युगल हो जाते हैं। हनुमान के आरोहण के मौके पर शिव द्वारा पार्वती को सावधान करना, विभीषण द्वारा राम की उदासीनता के प्रति चिंता व्यक्त करना, माया-अंजना द्वारा हनुमान को प्रबोध देना, राम द्वारा अपने मंत्रपूत बाणों की असमर्थता का प्रत्याख्यान करना, राम द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना की उद्‌भावना आदि विचार-चरण के प्रसारकर्त्ता प्रसंग हैं जहाँ पात्र या घटनाएँ प्रतीक (सिम्बल) में भी रूपांतरित हो जाती हैं। प्रतीक होकर वे एक ओर तो संपूर्ण मिथक-चक्र की आधुनिक तथा कविमुखी व्याख्या करती हैं तो दूसरी ओर सम्पूर्ण पौराणिक कथा के परिपार्श्व में दर्शन की एक परोक्ष धारा प्रवाहित करती चलती हैं। यह इस कविता के रूप की द्विविध-भ्रांति (एम्बिग्विटी) है। इसका मूल कारण तो राम का निरूपित शील है। अगर 'सरोज स्मृति' (1935) में नायक स्वयं कवि निराला हैं और वे **पिता** तथा **पति** रूप में आये हैं, तो उसी तनाव की सामाजिक यंत्रणा तथा आधुनिक फूहड़ता (एब्सर्डिटी) को भोगने वाले निराला ने अब 'राम की शक्ति-पूजा' (1936) में राम को चुनकर उस सबको अभिव्यक्त किया है। इस कविता में राम **योद्धा** तथा **साधक** रूप में आए हैं। पहले के निरर्थक एंव हारते रहने वाले निराला के नवीन पुरुषोत्तम राम अब शक्ति के सिद्धसाधक तथा विजयी हो जाते हैं। इस तरह 'शक्ति-पूजा' में मिथकों की स्वभावतः नई व्याख्याएँ हुई हैं तथा अन्यायपूर्ण शक्ति (श्यामा) को मंगलमयी शक्ति (दुर्गा) में बदलने का रास्ता भी पाया गया है : रावण के बजाय पुरुषसिंह राम के माध्यम से। इस तरह कृति को मिथकों के आधुनिक संदर्भ मिल जाते हैं।

सारांश में 'राम की शक्ति-पूजा' एक **संश्लिष्ट कविता** है, जिसका एक **विलक्षण रूप** है, तथा जिसमें नायक **राम** और कवि **निराला** का अंतरावलम्बन हुआ है और जिसमें मिथकों के व्याख्यात्मक प्रतीक आधुनिक संदर्भों में झिलमिला उठे हैं।

निराला ने श्रीराम को वैष्णव तुलसी के माध्यम से, तथा लगभग उसी भाव से अभिनंदित किया है। किन्तु 'शक्ति-पूजा' में एक शाक्तराम तथा तांत्रिक-यौगिक साधनाओं का भी समावेश है। यहाँ हनुमान वैष्णव भक्ति का तथा राम शक्तिसाधना का विधान करते हैं। महादुर्गा तथा महाकाली (श्यामा) की उपासना को (बंगाल में) वेदांत तथा वैष्णव साधना से जोड़ने वाले रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द रहे हैं। अत: निराला ने यहाँ राम को इसी रूप में अवतरित किया है। इस कविता की मिथक के मूलाधार तुलसी या वाल्मीकि के महाकाव्य न होकर बँगला की 'कृतिवासीय रामायण' है। 'कृतिवास' में रावण काली के कृपापात्र के रूप में अंकित हुआ है जिससे राम चिंतित हो उठते हैं कि उनके द्वारा रावण-संहार नहीं हो सकेगा और जनकनंदिनी सीता का उद्धार नहीं हो पाएगा।[1] अत: विभीषण रामचन्द्र को चंडी-आराधना करने का सुझाव देते हैं।[2]

---

1. असित वरणी काली कोले दशानन
   रूपेर छटाय घन तिमिर नाशन ।.....
   आमा होइते ना होइल रावण संहार
   जनकनंदिनी सीता ना होइल उद्धार । .....

2. कांदेन करुणामय प्रभु परात्पर,
   कातर हइया तबे कन विभीषण,
   एक कर्म करो प्रभु निस्तार कारण
   तुषिते चंडीर मन करह विधान,
   अष्टोत्तर शत नीलोत्पल कर दान
   देबेर दुर्लभ पुण्य यथा तथा नाइ।
   ....
   विभीषण कय बीर हनुमान काछे।
   अबनीते. देबीदहे नीलपद्म आछे।
   एक बत्सरेर पथ हइबे निश्चय।
   हनु कहे आनि दिबो नाहिक संशय।

विभीषण ही हनुमान को देवीदह जाकर वहाँ से नीलपद्म लाने का विमर्श देते हैं। जब राम दुर्गोत्सव करते हैं तब महेश्वरी छल से एक पद्म हर लेती हैं। तभी राम निश्चय करते हैं कि जब सर्वजन उन्हें नीलकमलाक्ष कहते हैं तो क्यों न वे अपना नीलोत्पल देवी को अर्पित करके संकल्प पूरा कर लें।[1]

'राम की शक्ति-पूजा' में आराधना करने का सुझाव विभीषण के बजाय जाम्बवान की ओर से आता है तथा यहाँ शक्ति की कल्पना धार्मिक एवं शाक्त न होकर 'मौलिक' अर्थात् सांस्कृतिक एवं प्रतीकात्मक है। इसी लड़ी में 'देवी भागवत' में रावणवध के अंतिम दिन के पहले देवी पूजा का उल्लेख है। यहाँ 'शक्ति-पूजा' के जाम्बवान तथा 'कृत्तिवास' के विभीषण के बजाय नारद राम को देवी के नवरात्रपूजन का व्रत-विधान बताते हैं क्योंकि इसमें ही रावणवध का उपाय है। तब अष्टमी की आधी रात को सिंहारूढ़ देवी प्रसन्न होकर प्रकट होती हैं।''[2] इसके अलावा 'शिव महिम्नस्तोत्र' में पुण्डरीकाक्ष विष्णु द्वारा शिव की भक्तिपूजा करते समय जब तक एक हजार कमलों में-से एक की कमी हो गई तब उन्होंने अपना एक नेत्र अर्पित करने का प्रयत्न किया। इस आराधना पर शिव प्रसन्न हो गए। 'शक्ति-पूजा' में एक हज़ार के बजाय एक सौ आठ कमल तथा शिव की आराधना के स्थान पर दुर्गोत्सव का विधान हुआ है, किन्तु 'शिव महिम्नस्तोत्र' के समाधियोगी शिव का एक संवाद अवश्य शामिल कर लिया गया है जहाँ वे हनुमान के पौराणिक देव प्रतीक का भाष्य करते हैं।

---

1. पुलकित चित विधीर रचित, मूलमंत्र उच्चारणे।
क्रमे नीलोत्पल सहस्त्रेक दल, सँपे शंकरी चरणे।
करिलेन छल, बुझिते सकल, देबी हर मनोहरा।
हरिलेन आर एक पद्म तार महेश्वरी तत्परा।....
जन्माबधि दुःख मोर कि कहिब आर.....
निश्चय बुझिनु सीता ना होइलो उद्धार...
भाबिते भाबिते राम करिलेन मने
नील कमलाक्ष मोरे बले सर्बजने
जुगल नयन मोर फुल्ल नीलोत्पल,
संकल्प करिब पूर्ण बुझिबे सकल
एक चक्षु दिब आमि देबीर चरण
....
चक्षु उपाड़िते राम बसिला साक्षाते,
हेन काले कात्यायनी धरिलेन हाते।
रावणे छाड़िनु आमि, विनाश करह तुमि,
एत बलि हैला अंतर्धान।

2. "विधिवत् पूजनं तस्याश्चकार व्रतवान् हरिः
संप्राप्ते चाश्विने मासि तस्मिन् गिरिवरे तदा।
अष्टम्यां मध्यरात्रे तु देवी भागवती हि सा,
सिंहारूढ़ा ददौ तत्र दर्शनं प्रतिपूजिता
गिरिशृंगे स्थितोऽवाच राघवं सानुजं गिरा।
हत्वाऽथ रावणं पापं कुरु राज्यं यथासुखं।
एकादशसहस्त्राणि वर्षाणि पृथिवीतले।''

-'देवीभागवत', तृतीय स्कंध, अध्याय 30।

अतएव उपर्युक्त तीनों आधारों से निराला ने नायक के अंतर्द्वंद्व तथा चिंता के बोध को ग्रहण करके उसे नाटकीय बना दिया है। इसमें दो केन्द्रीय द्वन्द्व हैं जिनके दुहरे स्तर हैं। पहले में अतुल-बल शेष-शयन (शेषशायी विष्णु के अवतार) राम को रावण-जय -भय का संशय हिला रहा है। इस द्वंद्व को अधिक मुखर करने में जानकी की यादों का वैयक्तिक एवं रोमांटिक संसार झिलमिलाया है। 'एक ओर राम जानकी के बाबत ललित-ललाम **दिवास्वप्न** देखते हैं, तो दूसरी ओर विभीषण खल रावण द्वारा जानकी को दिये जाने वाले आगामी दु:खों की अनुमितियाँ करके **संत्रास** का आभास देते हैं। दूसरा द्वंद्व है दिग्विजय अर्थ का। राम में दिग्विजय की भावना उभरती और डूबती है। वे अपनी खिन्न वानर-वाहिनी के साथ असमर्थ और शंकित होकर चल रहे हैं, उनके धनुष की डोर गिर चुकी है और वे विकल हो रहे हैं। अब उनमें विश्वास नहीं रहा कि वे रावण को हरा सकेंगे। ऐसे स्थिर राघवेंद्र को जानकी स्वयंवर में धनुर्भंग की याद आती है जब उन्होंने रावण को हराया था। अत: उनका हाथ पुनर्वार धनुर्भंग को उठता है और उनके हृदय में विश्वविजय की भावना फिर भर आती है और पुन: उन्हें समग्र नभ को आच्छादित करने वाली भीमामूर्ति दिखाई देती है जिसके सम्मुख उनके हाथ बँध गये थे। अत: एक ओर उन्हें रावण का खलखल अट्टहास सुनाई देता है तो दूसरी ओर वे रो पड़ते हैं (भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल)। वे जानते हैं कि विजय समर से प्राप्त होगी। समर में निर्णायक 'शक्ति' है। उसके लोकमंगल विधायक तथा मिथकीय, दो रूप उभरे हैं। राम की शक्ति में गौरव के साथ गर्व भी समा गया है तो महाशक्ति रावण के आराधन में बँधकर अन्यायी साधक का पक्ष ले रही हैं। इस प्रसंग में 'शक्ति' का सामाजिक (अन्याय जिधर, है उधर शक्ति) तथा धार्मिक (देखा है, महाशक्ति रावण को लिये अंक) अर्थात् दुहरा प्रतीकीकरण द्वंद्व को दो परिवेश दे देता है। शक्ति द्वारा राम की परीक्षा नाटकीय नियताप्ति की ओर बढ़ती है तथा 'पुरुष-सिंह' रूप में राम द्वारा आत्मसाधना उनकी आराधना को गर्व से विमुक्त करती है। यहाँ वैष्णव **महाभाव** का बोध अनुस्यूत है (लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व, मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व')। इस तरह रावण को गौरवशाली राम के गर्व का प्रतीकत्व देकर निराला ने संपूर्ण मिथक को अन्यापदेश (एलीगरी) में ढाल दिया है। इस भाँति 'शक्ति' की कल्पना मिथकीय स्रोत से हासिल की जाने पर भी मनोवैज्ञानिक चिति (साइके) का रूप हो जाती है, सामाजिक दर्शन में अन्याय तथा मंगल के प्रकार्यों के बीच विरोध में झूलती है और अन्तत: एक महत् सांस्कृतिक प्रतीक होकर विश्व में व्याप्त हो जाती है। इस प्रतीक के स्वरूप में भूधर पार्वती है, सिंधु सिंह है, दशदिक् दशहस्त हैं, अंबर दिगंबर शशिशेखर शिव हैं तथा मानवमन का गर्व ही महिषासुर है। यही मिथक की पुनर्रचना है जिसे कवि ने 'शक्ति की मौलिक कल्पना' कहा

है। इस क्रम में सूर्यकुल राम **पुरुषसिंह** (सिंह = सिंधु) रूप हो जाते हैं जो एक आर्केटाइपल बिंब है। यह बिंब दशभुजा दुर्गा के **जनरंजनसिंह** के **धार्मिक** प्रतीक में अर्थांतरित होता है और यही पर्वत पार्वती-चरण पर गरजता **सिंधुसिंह** अर्थात् जीवन-तत्त्व हो जाता है। इस प्रतीक-रचना का विश्लेषण स्वयं कवि ने भी किया है ('जन-रंजन चरण-कमल-तल धन्य सिंह-गर्जित ! यह **मेरा प्रतीक** मात: समझा इंगित; **मैं सिंह**, इसी भाव में करूँगा अभिनंदित् ! ')। अतएव दूजे छोर पर पौराणिक शक्ति की साधना के द्वारा हृदयोत्पन्न गर्व का दमन हुआ है। फलत: राम एक त्रासद नायक होने से बचकर सुखान्तिकी के नायक की तरह आनंद, मंगल और विजय की फलागमत्रयी को प्राप्त कर लेते हैं। एक साधक संन्यासी त्रासदी का नायक नहीं हो सकता। यहाँ राम शांत नहीं, अशांत और शंकालु हैं। वे सन्यासी जैसे होकर भी लोकमंगल के साधक नायक हैं । वे एक सांस्कृतिक नेता, निराला के व्यक्तित्व के आंशिक प्रवक्ता तथा वर्तमान समाज के सामाजिक विद्रोही भी हैं। इस तरह नायकमिथक (हीरोमिथ) में मिथक एवं इतिहास, इतिहास एवं समाजशास्त्र --सभी के प्रबोधों का सामंजस्य हो गया है। अत: मिथकीय स्रोत वाली 'शक्ति-पूजा' का रचना-संसार सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक गहराइयों में भी गोताखोरी करता है।

कविता में जिस तरह राम के सूर्यधर्मा गौरव और असुरधर्मा गर्व के बीच विरोध प्रकाशित किया गया है और मंगलमहाभाव के द्वारा गर्व का अवरोध किया गया है, उसी तरह मनोलोक में एक अन्य लीला को भी उद्‌बुद्ध किया गया है। जब आठ दिनों की समाराधना के उपरांत नवें दिन अंतिम जप तथा अंतिम नीलकमल अर्पण के समय दुर्गा हँसते हुए छिपकर पूजा का प्रिय इंदीवर उठा ले जाती हैं तो सहसा राम का 'स्थिर मन चंचल हो' उठता है और वे शोकार्त होकर अपने **जीवन** तथा **साधन** को धिक्कारने लगते हैं और आर्तनाद कर उठते हैं : 'जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका ! ' उनका यह मन मायावरण में उलझा हुआ है अर्थात् यह आत्मलिप्त मन है। किन्तु कवि ने इसी समय एक समानांतर राम के मानवीय मन की कल्पना की है जो चिरंतन है तथा अपराजेय मानवता की चेतना का प्रतीक है जो तात्कालिकता तथा संकीर्णता का अतिक्रमण करके **अनुभव** को **दर्शन** एवं चिंतन में रूपांतरित कर सकता है। यही ऐतिहासिक चेतना है, यह मनुष्य का बौद्धिक ज्ञान तथा अनुभवयात्रा है। ('वह **एक और मन** रहा राम का जो न थका; जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय, कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय, बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत्-गति हत-चेतन-)। इस तरह राम बौद्धिक मानवीय साधनों के अभ्यासी हो जाते हैं। यही राम की आधुनिकता है। इसके पूर्व हनुमान अलौकिक साधनों का व्यवहार कर चुके थे तथा स्वयं राम मंत्रपूत दिव्य शरों का संधान करते हैं।

अब राम अस्तित्व तथा भविता में सिहर जाते हैं। उन्हें बार-बार संशय हिलाता है; अस्तित्व का घाव तथा पराजय का भय उन्हें विकल करता है और क्षण में जीते हुए वे लघु होते जाते हैं। उन्हें श्रम में व्यर्थता का, तथा लक्ष्य में अप्रतिबद्धता का भाव भर जाता है। इस तरह पहली बार हमें अस्तित्ववादी (एक्जिश्टेंशियलिस्ट) राम की स्थिति का दिग्दर्शन होता है। पहली बार लगता है कि यह संपूर्ण संसार और समाज व्यवस्था महाशून्य तथा महाअंधकार जैसी है। अंधकार आकाश में व्याप्त हो जाता है। तमोगुण का प्रतीक हो जाता है और अन्ततः राक्षस से संबद्ध हो जाता है। यहाँ एक विरोधाभासपूर्ण समीकरण बनता है: अंधकार एक तत्त्व है; और वह क्रियाशील है; उसका संबंध आकाश से; आकाश का शिव से; और शिव का शक्ति तथा एकादश रुद्रावतार हनुमान से; शक्ति का संबंध रावण से है और रावण का अंधकार से। इस भाँति एक ओर रावणमाया की श्यामा-रात दूसरी ओर रामपूजन-प्रताप का तेज प्रसार हनुमान। रावण महिमा की श्यामा विभावरी इस राम-अर्चना के तेज के सम्मुख फटने लगती है तब शिव देवी को अंजनारूप में कपि के पास भेजकर उसे (कपि को) शांत करते हैं अर्थात् हनुमान का मन मायावरण ('विद्या') को नहीं भेद पाता, किन्तु राम का ('एक और') मन जय प्राप्त कर मायावरण भेद कर डालता है। इस तरह शक्ति अंजनारूप होकर अथवा हँसते हुए एक कमल चुराकर छल करती है। इसीलिए इस युद्ध का स्वरूप बदला हुआ है : यह नर-वानर का राक्षस से पौराणिक रण न होकर मानव के मन में एक ओर सूर्यमुखी गौरव तथा असुरधर्मी गर्व का शाश्वत युद्ध है तो दूसरी ओर ऐसा युद्ध है जहाँ साधक तथा वीर, पुरुषोत्तम तथा मनुष्य की विजय नहीं होती; बल्कि शक्ति उसके पक्ष में होती है जहां अन्याय होता है। इसीलिये यह युद्ध मिथक से विश्व-इतिहास-पटल पर अवतरित होकर मानों वर्ग-संघर्ष का व्याख्याता बन जाता है। इस युद्ध को जीतने का केवल एक ही रास्ता है: **राम भी पुरुषसिंह होकर यह शक्ति धारण करें, शक्ति की एक मौलिक रचना करें तथा जब तक सिद्धि न हो तब तक समर छोड़ दें।**[1] सामाजिक विकास का यही एक सार्वभौम नियम भी है। शाक्तों की 'शक्ति' ही विवेकानन्द की आत्मशक्ति तथा अंततोगत्वा निराला की सामाजिक 'शक्ति में ढल गई है। निष्कर्ष रूप में, इस संश्लिष्ट कविता के मिथकीय स्रोतों में कवि ने नवीन व्याख्याओं का अन्वयन किया है और आधुनिक समाज, कवि के

---

1. विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरूषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,.....
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तब न सिद्धि हो, रघुनन्दन !

मनोद्वन्द्व तथा इतिहास में शक्ति की भूमिका का भी प्रकीर्ण विवेचन किया है।

● ● ●

इस कविता में मिथकीय स्रोतों की मौलिक रचना के अलावा नाटकीय परिस्थितियों को तीव्र तथा गहन बनाने का अप्रतिम कला-कौशल भी परिलक्षित होता है। ये दोनों तत्त्व ही इस कविता के जादू हैं। वस्तुत: स्थितियों (सिचुएशन्स) तथा परिस्थितियों (सर्कमस्टान्सेज़) के विविध रूपों के नाटकीय इस्तेमालों में भी इस रचना का जादू छिपा है। कतिपय विशेष स्थितियाँ-परिस्थितियाँ ये हैं: अमानिशा में घना अन्धकार उगलते गगन के वातवरण में राघवेंद्र को पुन:-पुन: संशय अस्थिर कर ('हिला') रहा है तभी कुमारी जानकी की छवि विद्युत् जैसी जागती है; विदेह के उपवन को याद करते-करते राम का मन क्षण-भर को भूलकर पुन: धनुर्भंग को हाथ उठा लेते हैं; फिर शंकाकुल राम को रावण का खलखल अट्टहास सुनाई पड़ता है और उनके नयनों से दो मोती जैसे आँसू गिर पड़ते हैं; रावण के अट्टहास का उत्तर देने एकादशरुद्ररूप हनुमान क्षुब्ध अट्टहास करते हुए महाकाश तक पहुँचते हैं; अंजनारूप की झिड़की सुनकर उद्धत हनुमान नम्र हो प्रभुपद गहकर दीन हो जाते हैं; गरजते हुए सिंधु को देखकर राम उसकी दुर्गा के सिंह के रूप में कल्पना करके स्वयं सिंहभाव से आराधन का संकल्प करते हैं; ज्योंही राम की साधना का अंतिम दिन आता है कि रात के दूसरे प्रहर में दुर्गा कमल चुराकर ले जाती हैं तथा त्योंही राम अपना दक्षिण लोचन अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं कि दुर्गा समूहावतार रूप में प्रकट हो जाती हैं; राम ज्यों-ज्यों युद्ध को क्रुद्ध होते हैं त्यों-त्यों वामा (शक्ति) के दृग में झक-झक वह्नि झलकती है और राम के हाथ बँध जाते हैं तथा उनका धनुष नहीं खिंच पाता; अंतिम कमल चुरा लिये जाने पर साधक राम का स्थिर मन चंचल हो उठता है, किन्तु एक और मन अथक, अदीन, अविनयी भी था जो मायावरण भेदकर विजय-सिद्धि पा गया; जाम्बवान कहते हैं कि अगर महाशक्ति रावण को अंक में लिये हैं तो राम भी शक्ति की मौलिक कल्पना करके उसे धारण करें; इत्यादि-इत्यादि।

उक्त स्थितियों-परिस्थितियों के ही कई नाटकीय इस्तेमाल हुए हैं। एक तो **वैषम्य** (कंट्रास्ट) के द्वारा परिस्थिति या पात्र के आपसी विरोध अथवा फर्क़ का उद्घाटन हुआ है जिससे दो विपरीत संवेग टकराते हुए भावित होते हैं। दूसरे **संयोग** (चान्स) द्वारा कथानक को अनुकूल अथवा प्रतिकूल दिशा में मोड़ा गया है। तीसरे लघु-लघु **चरमोत्कर्षों** (क्लाइमेक्सेज़) का विधान करके किसी चरित्र अथवा अवस्था की परिणति की गई है, अथवा किसी

तांद्वेषयक समस्या का समाधान कर दिया गया है। लघु चरमोत्कर्षों का नाटकीय प्रयोग इन्हीं हेतुओं के लिए किया जाता है। व्यापक तौर पर ऐसी इतिवृत्तपरक तथा नाटकीय कविता के मंडल में पाठक के मन में रुचि तथा प्रभाव उत्पन्न करके उसकी अधिष्ठापना का क्रम जारी रखने का काम ये कौशल ही करते हैं। ये कौशल मंडित परिस्थितियाँ पाठक या दर्शक को बार-बार 'धमकाती' हैं। कैसे? चरित्र के फलागम को संकट में डालने पर, भट्टनायकीय भावना व्यापार में निबद्ध पाठक के मन में, भय (फिअर) तथा करुणा (पिटी) उत्पन्न होती है। इस कविता में राम विरोधी पात्रों एवं विपरीत परिस्थितियों में रखे गए हैं। अत: पाठक के मन में भय और करुणा के संवेग संचारित होते जाते हैं।

जादुई प्रभाव का एक और कारण यह भी है कि 'स्थान' एवं 'काल' का यथासंभव एकता का निर्वाह करने के बावजूद यह कविता देश-काल के अक्ष का अतिक्रमण करती है क्योंकि पात्रों के दिवास्वप्नों तथा मिथक पुंज के द्वारा घटनाओं के स्मरण-संस्मरण का सिलसिला चलता है। इससे कथा राम के शैशव (कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन), हनुमान के शैशव (तुमने जब रवि को लिया निगल जब नहीं बोध था तुम्हें; रहे बालक केवल) से शुरू होकर अनेक स्थलों में संचरण करते-करते पुन: घटित स्थल में केंद्रीभूत हो जाती है। यह केंद्रीयभवन इसकी नाटकीय संरचना (ड्रामेटिक कांस्ट्रक्शन) की ही खूबी है जिसमें प्राचीन मिथकों तथा प्रतीकों का काफी इस्तेमाल हुआ है। कवि ने शुरू में ही एक लम्बे एकान्त कथन द्वारा युद्ध के वास्तविक घटना-समूह को बताकर विष्कंभक की-सी अदाकारी की है। सक्रिय रंगपटल लौटती हुई उभय सेनाओं से दृश्यमान होता है। इस युद्ध के नतीजे को राम अपने वाणों की हतलक्ष्यता तथा खंडन द्वारा बताते हैं। तथापि कार्य के केंद्रीयभवन को सम्पन्न करने के लिए हनुमान, विभीषण तथा जाम्बवान आदि एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं – विश्वविजय के लिए राम शक्ति को धारण करें! स्वयं राम भी इसी लक्ष्य के लिए सप्तचक्र तक अपने मन का ऊर्ध्वगमन करते हैं। इस तरह संपूर्ण कविता में 'शक्ति' एक आर्केटाइपल बिंब होकर फैलती है। इसके साथ ही कार्यव्यापार के निवदेन में कवि ने नाटकीय अभिनेयता का – विशेष रूप से आंगिक मुद्राओं तथा अहार्य स्वरूपों का – ऐसा तराशा हुआ चित्रोपम (ग्रैफिक) अंकन किया है कि कई स्थल भावचित्रों तथा रसचित्रों और शिल्प की मूर्तियों जैसे हो गये हैं। ये शब्द माध्यम के अद्वितीय कीर्तिमान हैं। ये बिंब हैं उद्गीरित वह्नि के भीम पर्वत की तरह हनुमान; राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल; चिंताकुल अस्तव्यस्त लौटते हुए रघुनायक (रघुनायक आगे अवनी पर ... . ताराएँ हों ज्यों कहीं पार); अमानिशा में गरजते हुए सागर का चित्र (है अमानिशा

..... केवल जलती मशाल); विदेह के उपवन के लतांतराल में जानकी से राम का प्रथम मिलन (याद आया उपवन विदेह का .... प्रथम कम्पन तुरीय; हनुमान का ऊपर उड़ना (हो श्वसित पवन उनचास ... हो स्फीत वक्ष); वामा के दृग में वह्नि के झकझक झलकने पर राम पर वशीकरण हो जाना (विचलित लखन कपिदल ..... में हुआ त्रस्त); लक्ष्मण के नेतृत्व में महावाहिनी की व्यूह रचना का चित्र (तब तक लक्ष्मण हैं ..... उनके प्रधान); शिविर में पर्वत के सानु पर बैठी राम सभा (बैठे रघुकुलमणि ..... मुख श्याम देश); शक्ति की मौलिक कल्पना देखो बन्धुवर, (सामने स्थित ..... मन्द हो रहा खर्व); साधक राम की छवि (है नहीं शरासन आज हस्त ..... स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार); ब्रह्मशर से नीललोचन निकालने की मुद्रा (कहकर देखा तूणीर ..... उद्यत हो गये सुमन); सामने श्रीदुर्गा का प्रकट होना (देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा ..... मस्तक पर शंकर); इत्यादि । ये मुद्रा, बिंब कार्य के काव्यचित्र कवि निराला की उत्तमोत्तम उपलब्धि हैं।

'शक्ति-पूजा' में कुतूहल, तन्मयीभवन, आह्लाद, चमत्कार आदि के समुपरंजन के लिए भी स्थितियों-परिस्थितियों के साथ मिथकों का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। ये कौशलकर्म सहृदय के प्राण को बाँध लेते हैं। इनका केन्द्रीय रहस्य **नाटकीय भ्रांतियों** (ड्रेमेटिक इल्यूज़न्स) की अल्पना है। ये नाटकीय भ्रांतियाँ ही **काव्यात्मक फान्तासियों** (पोएटिक फैंटेसीज़) को भी आलोकित करती हैं। इस तरह इन दोनों की कान्त मैत्री के प्रभावोत्पादक प्रयोग हुए हैं।

ये भ्रांतियाँ एवं फान्तासियाँ अतिप्राकृतिक और अलौकिक आह्लाद और चमत्कार, अवचेतन और दिवास्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं।

पहली भ्रांति है रोते हुए राम के अश्रुओं के गिरने पर हनुमान द्वारा उन्हें नभ में चमकते तारादल अथवा श्यामा के चरण समझा जाना अथवा वे चरण समझना जिनके मध्य में दो कौस्तुभ मणियाँ शोभित हैं। किन्तु ध्यान का तार टूटते ही अर्थात् प्रबोध होते ही रुद्ररूप हनुमान महाकाश को ही ग्रसने ऊपर उड़ चलते हैं। इस तरह भ्रांति एवं फान्तासी के मेल से आश्चर्य तथा रोमांच, आह्लाद तथा क्रोध की समानुवर्ती उद्भावना हुई है। दूसरी भ्रांति है भयभीत शक्ति द्वारा अंजनारूप धारण करके हनुमान को शान्त करना। इसके द्वारा हनुमान के चेतन-अवचेतन के संबंध उद्घाटित हुए हैं। तीसरी भ्रांति है युद्धक्रुद्ध राम को वामा के दृग में झकझक झलकती वह्नि का दिखाई देना जिससे वे बँध जाते हैं (अवचेतन में स्थिर असमर्थता की प्रकाशक)। इससे राम जैसे पात्र के लिए भी मानवीय संवेदना, करूणा दया और क्षमा के सहज भाव उदित होते हैं। इस तरह तीनों भ्रांतियाँ एक साथ

अलौकिक तथा अवचेतन को आलोकित कर देती हैं। **मिथकीय होने के कारण** ये अलौकिक का चमत्कार प्रदान करती हैं, तथा **मानवीय यथार्थ होने के कारण** मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन करती हैं।

इसी तरह तीनों फान्तासियों की भूमिका ली जा सकती है। पहली है राम के जानकी विषयक दिवास्वप्नों की माला (कथा को पूर्वदीप्ति पद्धति द्वारा पीछे ले जाना)। वीरता तथा साधना की दशाओं वाली इस कविता में श्रृंगारोल्लास तथा उन्मादक राग का यह विचित्र तथा चमत्कारपूर्ण अनुकीर्तन है। दूसरी फान्तासी है हनुमान का महाकाश में आरोहण। इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्व का मिथकीय प्रयोग राम की अर्चना तथा लीला के उद्‌घाटन के लिए भी हुआ है (जिसे शिव इंगित करते हैं)। अंतिम तीसरी फान्तासी है राम द्वारा अष्टचक्र समाराधना (रहस्यवादी साधना, भूमिका)। 'कामायनी' के रहस्यसर्ग की तरह यह सांप्रदायिक फान्तासी भी काव्य में दरार पैदा करके कलानुभतियों से प्रयाण कराती है।

अतएव इन स्थितियों-परिस्थितियों के तकनीकी उपयोग तथा भ्रांतियों एवं फान्तासियों पर अधिक ध्यान देकर ही हम कविता के उदात्त (सब्लाइम) तथा अद्‌भुत (वंडरफुल) बोधक कलात्मक महाभाव को समझने की ओर अग्रसर हो सकते हैं। हम यह भी उद्‌घाटन कर सकते हैं कि कविता का विलक्षण रूप **नाटकीय है**।

● ● ●

मिथक, जादू तथा नाटकीय कौशलों से प्रचुर इस कविता में कथोपकथनों का अतुल और अनूठा विधान हुआ है। यूँ भी काव्यात्मक संवाद वाली कविताओं में ही निराला अपनी कला के अभ्यस्त प्रमाण देते हैं – एक से एक बढ़कर !

संवादों में दो भावों की प्रमुखता है – आवाहन तथा उद्‌बोधन! फलत: पद-रचना रीति-सहजता तथा रहस्यात्मकता के ध्रुवान्तों के बीच संघटित हुई है। कई पात्र तो केवल एकालाप (मोनोलाग) करते हैं और दूसरा पात्र मात्र सुनता है; जैसे शिव द्वारा देवी को चेतावनी देना; अंजना द्वारा हनुमान को रोकना। इस दशा में श्रोता मात्र कार्य का अनुकर्त्ता हो जाता है। अत: कविता में इतिवृत्त से अविलंब विवरण में ऊँची उड़ान लगाने का माहौल मिल जाता है।

अन्य दशाओं में विभीषण तथा राम के बीच संवादों में परिस्थितियों का लेखाजोखा हुआ है तथा उपस्थित समस्या का गोपनीय रहस्य खोला गया है। इस लड़ी में राम तथा जाम्बवान के बीच के कथोपकथन बेहद प्राणवन्त है। वे परमप्रेयान तथा समाधानमूलक भी हैं। अत: विभीषण राम समस्याएँ उठाते हैं; जाम्बवान राम उनका समाधान करते हैं। इस

संवादचतुष्टय द्वारा कवि ने शाश्वत संघर्ष वाली अपनी कल्पना तथा जीवनदर्शन को भी स्पष्ट किया है।

अतएव कवि निराला का मंतव्य आधुनिक तथा व्यक्तिवादी भी रहा है, अर्थात् राम में गर्व के उदय से, तथा अन्यायपक्ष की ओर शक्ति के हो जाने से क्रमश: मानवीय प्रारब्ध और सामाजिक संघर्ष, दोनों का ही चरित्र बदल गया है। एक और तो अतुल-बल शेष-शयन राम लघु हो जाते हैं तथा दूसरी ओर मूल मिथकीय युद्ध की प्रकृति, विजय के साधन एवं युद्ध का दर्शन ही बदल जाता है। इन परिवर्तनों से मिथक से यथार्थ की ओर, तथा परंपरा से आधुनिकता-बोध की ओर भी पेशकदमी होती है। 'आज' के अपराजेय समर में भी शक्ति अन्यायपक्ष के साथ है, युद्ध का चरित्र बदल गया है। अत: शक्ति की मौलिक कल्पना के द्वारा ही विजय के साधन मिलेंगे। इसके लिए साधनों (साधना) को दृढ करना है, और शक्ति को न्याय पक्ष तथा मंगल-महाभाव की ओर ले आना है। इसी तरह युद्ध का दर्शन वैयक्तिक दिग्विजय की अपेक्षा मानवमन के असुर (गर्व और वर्गस्वार्थ) का नाश हो गया है। यही इस कविता की समकालीन चरित्रार्थता तथा कवि का जीवनदर्शन भी है।

लेकिन अकेला निराला स्वयं इस दर्शन को सामूहिक अमल में नहीं बदल सका। अत: वह आगे असमर्थ होकर नीलकमल से कुकुरमुत्ता की तलाश में मुड़ गया – आधुनिक युग की अधिक क्रूर तथा सच्ची फूहड़ता (एब्सर्डिटी) को परखने के लिए।

●●●●●

अत: 'राम की शक्ति-पूजा' निराला की गहरी मानसिक यत्रंणा तथा आधुनिक युग के आंतक के तनावों से भी ओतप्रोत है।

यह कृति पद्यनाटिका या संगीतनाटिका तो नहीं है, किन्तु नाटकीयता की प्रचुर संभावनाओं से गठित-गुंफित है।

वीरत्व के धैर्य के बजाय अधीर राम के संशय तथा असमर्थता से शुरू होने वाली यह कविता वीर रस का भंग करती हुई शक्ति की साधना की ओर मुड़ती है और शुरू के खंड के बाद ही योद्धा राम साधक राम में रूपांतरित हो जाते हैं।

इसीलिए 'राम की शक्ति-पूजा' एक संश्लिष्ट कविता है जिसका विलक्षण रूप है जिसमें मिथक के माध्यम से यथार्थता का चिरंतन अनुसंधान हुआ है। यह मानवीय प्रारब्ध की शाश्वत यातना अर्थात् आत्मनिर्वासन और आत्मस्थापन दोनों को निर्भीक संदर्भों में पेश करती है।

5. 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा'

डॉ. रामविलास शर्मा

'तुलसीदास' में निरालाजी ने इतिहास पर नई दृष्टि डाली है। मध्यकाल में समाज का जो पतन हुआ और पतन में शूद्रों पर जो अत्याचार हुए, वह इस कथा की पृष्ठभूमि है। मूलचित्र गोस्वामी तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व का है। वे अपनी साधना से समाज को मुक्त करना चाहते हैं लेकिन मन की दुर्बल वासना इसमें बाधक होती है। अन्त में गृह त्यागने पर उन्हें नारी का तेजोमय रूप दिखाई देता है और बाधक होने के बदले वह उनके जीवन की महान् प्रेरणा बन जाती है। निरालाजी की रचनाओं में यह एक अत्यन्त सुगठित कविता है और इतनी लम्बी कविता उन्होंने पहली बार लिखी थी। छंद भी ऐसा चुना है कि पढ़ने पर तरंगों-से भंग पाठकों को आगे बहाते चलते हैं। दो पंक्तियाँ छोटी और तीसरी बड़ी मिलकर आधा छन्द बनाती हैं। इसी को दोहराने से एक पूरा छन्द बनता है। मुक्त छंद के अलावा छंद-बद्ध कविता में निरालाजी ऐसा ओजगुण पहले न ला सके थे। उनकी कला में एक नया विकास था। चित्र-सौंदर्य में यह कविता अनूठी है। इतिहास और मनोविज्ञान, दोनों से ही भाव लेकर उन्हें सुरंग मूर्त रूप दिया गया है।

आरम्भ में शताब्दियों के सांध्यकाल का चित्रण किया गया है। बादलों की तरह भवें टेढ़ी किये यह सांध्यकाल भारत के आकाश पर छाया हुआ है। पंजाब, कोसल, बिहार, धीरे- धीरे सभी प्रान्त इस कालिमा के नीचे आ गये। मूसलाधार वृष्टि में मुगलों और पठानों के आक्रमण की तुलना सांध्यकाल की पृष्ठभूमि में सार्थक बैठती है। बादलों में वज्र टूटकर गिरता है और नीचे जल-प्रवाह का प्रखर वेग असह्य है। बुन्देलखंड, कालिंजर आदि का पूर्व गौरव नष्ट हो गया है। वीर बन्दी बने हुए हैं और किंपुरुष आनन्द मना रहे हैं। जो सच्चे राजपूत थे वे स्वर्ग गये; जो रह गये हैं, वे नृपवेश सूत बन्दीगण हैं। इनका कार्य आक्रमणकारियों का कीर्ति-गान ही रह गया है। जातीय जीवन की नदियाँ एक नई संस्कृति के सागर की ओर बह चलती हैं।

पहली मूसलाधार वृष्टि के बाद धरती पर शांति छा गई। बादलों के बरस जाने से आकाश धुल गया। हवा सबको स्नेह सुखद स्पर्श देने लगी। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से पृथ्वी का चुम्बन करने लगा। समय सुन्दर छन्दों में बँधा हुआ लघु गति और नियंत्रित पदों से चलने लगा। संस्कृति का सूर्य डूबने पर सुन्दरियाँ अपने कर-कुमुदों से समय की गति पर ताल देने लगीं। बिरला ही कोई ऐसा होगा जो हाथ मल रहा हो। विलास की धारा में अशक्त होकर देश बह चला। नदी का जल छल-छल शब्द करके लोगों को सावधान करता था लेकिन वे किनारे के पाषाण की तरह मंत्रमुग्ध होकर कल-कल शब्द ही सुन रहे थे।

इसी समय राजापुर में सुन्दर प्रतिभा और पुष्ट शरीर वाले युवक तुलसीदास काव्य-शास्त्र का अध्ययन करके जीवन में प्रवेश कर रहे थे। एक दिन मित्रों के साथ वे चित्रकूट गये और वहाँ मन में कुछ नये ही भाव पैदा हुए। जैसे उषा को कुहरे का जाल घेरे हो, उसी तरह प्रकृति भी एक ऐसी भाषा में बातें कर रही थी जो पूरी तरह समझ में न आती थी। तुलसीदास को अपने मन में संस्कारों का नि:शब्द सागर दिखाई देता है जिसके उस पार सत्य की अस्फुट छवि दीख रही है। प्रकृति कहती है कि सूर्य का प्रचण्ड ताप उसे जला रहा है। ऋतुएँ आती हैं, अपना प्रभाव छोड़कर चली जाती हैं; उन्हें उसके सुख-दुख से ऐसे ही वास्ता नहीं है, जैसे पेट भरने वाले लोग देश में आते-जाते रहते हैं और अपने स्वार्थ के आगे उन्हें प्रजा के कष्टों का ध्यान नहीं रहता। जातीय संस्कारों की पृथ्वी पर असुर चल रहे हैं। कवि को चाहिए कि वह त्याग, साधना और मुक्ति के गीत गाये। जैसे राम ने अपने स्पर्श से अहल्या का उद्धार किया था। वैसे ही तुलसीदास को अपनी साधना से जड़ भारत का उद्धार करना है। उस चेतना के स्पर्श से ही पाषाण-खंड हार बनते हैं, नहीं तो प्रकृति में झरने, झाड़ी, नदी, कगार, पशु-पक्षियों के विहार को छोड़कर और कुछ नहीं है। देश में ऐसा युग आया है जब कामदेव के बाण से झरती हुई केशर पृथ्वी और आकाश को रँगे हुए है। प्रत्येक मानस पर उसी की छाया है। इसलिए छवि की मूर्ति दिखाई नहीं देती। लोग भ्रमवश सुप्ति को ही जागरण समझ बैठे हैं।

प्रकृति की वाणी सुनकर तुलसी का मन-विहंग आकाश में उड़ चलता है। अपनी उड़ान में वह रंग-रंग की तरंगें पार करता है। ये सब सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कार हैं। इन्हें पार करने पर उन्हें भारत की वास्तविक दशा दिखाई देती है। जैसे सूर्य को राहु ने ग्रस लिया हो और उसकी आभा मन्द पड़ जाय, वैसे ही कुसंस्कारों की छाया में देश-काल बँधा हुआ है। देश में छोटे-छोटे सम्प्रदाय, मत-मतांतर परस्पर संघर्ष में लगे हैं। वर्ण-व्यवस्था विश्रृंखल हो गई है। क्षत्रिय रक्षा नहीं कर सकते, ब्राह्मण चाटुकार हो गये हैं। शूद्र वर्ण-व्यवस्था के चरण बनकर दूसरे वर्णों को ऊँचा उठाये हैं। इसके बदले उन्हें केवल अपमान मिलता है।

'चलते फिरते पर निस्सहाय
वे दीन क्षीण कंकाल काय
आशा केवल जीवनोपाय उर उर में;
रण के अश्वों से शस्य सकल
दलमल जाते ज्यों दल के दल
शूद्रगण क्षुद्र जीवन संबल, पुर पुर में।

वे शेष-श्वास, पशु, मूक भाष,
पाते प्रहार अब हताश्वास;
सोचते कभी, अजन्ता ग्रास द्विजगण के
होना ही उनका धर्म परम,
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम,
वे चरण, चरण बस, वर्णाश्रम रक्षण के।''

इन शूद्रों पर वर्ण-व्यवस्था के चरण उच्च वर्गों के अत्याचार के ही कारण थे। देश का सांस्कृतिक पतन हुआ और भारत के नभमंडल में दासता का अन्धकार छा गया। तुलसीदास ने समझ लिया कि इस अन्धकार को पार किये बिना सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और न जीवन में नया प्रवाह आ सकता है। इसलिए विरोध से द्वंद्व-समर करने के लिए वे तैयार होते हैं।

कवि की चेतना की ऊर्मियाँ भारत का अन्धकार दूर करने के लिए उमड़कर कवि के मनोद्वारों से टकराती हैं। लेकिन इसी समय उस छाया के ऊपर तारिका-सी चमकती हुई रत्नावली दिखाई देती है। तुलसीदास क्षण भर उसका सौन्दर्य देखते रह जाते हैं; फिर वह अदृश्य हो जाती है और मन धीरे-धीरे नीचे उतरने लगता है। रत्नावली की छवि में रँगी हुई प्रकृति अब सुन्दर दिखाई पड़ती है। वह मित्रों के साथ पंचतीर्थ होते हुए पयस्विनी में स्नान करते हैं और इसी तरह और कुछ दिन घूमने के बाद वह घर लौट आते हैं।

तुलसीदास को अब सारा संसार अबलामय दिखाई देता है। नीला आकाश उसका अलक जाल है, चन्द्रमा मुख, चन्द्रमा का कलंक भौंहें और उसका प्रकाश प्रेम की तरह कवि को ढँके हुए है। तुलसीदास का मनचकोर उसी चन्द्र-कवि को देखता रहता है। यहाँ पर 'सुकुल की बीबी' में निरालाजी के वे वाक्य याद आते हैं जिनमें उन्होंने संसार को अबलामय देखने की बात कही थी : "घोर सुषुप्ति के समय को छोड़कर बाकी स्वप्न और जागृति के समस्त दण्ड ब्रह्मांड को अबलामय देखता था।'' तुलसीदास भी नयनों की मुग्ध दृष्टि में बँधे हुए उस अर्थ को न जान पाये जो पलकों के उस पार छिपा था। सौंदर्य में बँधे हुए चन्द्र, सूर्य, तारे, ग्रह, उपग्रह एक-दूसरे के पीछे चलते दिखाई देते हैं। सौंदर्य बन्धन भले हो, लेकिन इस बंधन के बिना प्रगति असंभव है। फूल विकास-पथ की बाधाओं को पार करके दिन का मुँह देखता है। गन्धवाला फूल जड़ होने पर भी अपने गुण के कारण पृथ्वी में व्याप्त होता है। इसी प्रकार प्रिया के साथ बँधे होने पर भी तुलसीदास संसार में अपनी व्याप्ति देखते हैं। उन्होंने यह नहीं सोचा कि युवती के रूप में कामदेव पुरुष-देश को

जीतकर वहाँ अपनी विजय-पताका उड़ा रहा था। जैसे सूर्य की किरणों के बादल रंग-बिरंगे हो जाते हैं, उसी तरह रत्नावली के संसर्ग से युवक तुलसीदास के मनोभाव भी रंगीन हो उठे।

रत्नावली पति को प्रसन्न रखने वाली नामानुरूप सुन्दरी है। अज्ञान के अन्धकार में सत्य की यष्टि की तरह वह प्रिया को पार ले जानेवाली है। श्रद्धा की प्रतिमा की तरह वह माया के घर में प्रिय की निद्रा की सीमाएँ बाँधे हुए है। पति जब सोता है, वह जागती रहती है। पति जब प्रेम की फाग खेलता है, वह उसी में छिपी हुई त्याग की अग्नि-शिखा की तरह जलती रहती है। पति जड़ पृथ्वी के दो कगारों जैसा है और उसकी बाँहों में बँधी हुई रत्नावली आकाश की गंगा की तरह प्रवाहित है।

रत्नावली के भाई आकर उससे माता-पिता का संदेश कहते हैं। माता उलाहना देती है और पिता कहते हैं : "जोगी रमता मैं अब तो।" भाभी ने कुंकम-शोभा को लाने को कहा। सबने अपने मन की बातें कहीं लेकिन माँ का करुण विलाप अकथनीय था। समाज में उसके भाई और पिता का अपमान भी होता है। क्या पैर इसीलिए पूजे थे कि वे उस देहरी की ओर फिर लौटकर न आयें? रत्नावली को अपने धर्म और मर्यादा का ज्ञान होता है। भावों के घने बादलों ने पति-स्नेह के उपवन को ढँक लिया। वह चलने को तैयार हो गई मानो सीता जिस पृथ्वी से निकली थीं, मर्यादा की रक्षा के लिए फिर उसी में विलीन होने को चली हों।

तुलसीदास बाज़ार में खड़े सोच रहे थे कि इस बार साले को किस घाट उतारें। एक बार कन्यादान कर दिया तो अब क्यों पीछे पड़े हैं? ऐसे आ धमकते हैं जैसे हम स्त्री दो दिन को उधार लाये हैं । पर लौटते समय अनेक रंगों के फूल खिले हुए देखे। प्रातःकालीन सूर्य आकाश में चढ़ रहा था। लेकिन उनका गृह-पद्म मुरझाया हुआ था। सांसारिक व्यवहार का ज्ञान न रहा; ससुराल की ओर पैर उठ ही तो गये। रास्ते में प्रकृति सुख में डूबी हुई दिखाई दी। किसी को गायें चराते हुए देखकर वृन्दावन में कृष्ण और गोपियों की याद आई। ससुराल में बड़ी खातिर हुई। लोग कानाफूसी भी करने लगे। भाभी ने कहा, यह रत्नावली से अपने प्रेम का परिचय दिया है। भाभी के व्यंग्य से रत्नावली जल उठी परन्तु अपनी ज्वाला को भीतर ही छिपाये रही। उसे लगा कि पति के मन में बैठा हुआ चोर उसे निरावरण करना चाहता है; वह ईश्वर से लाज बचाने की प्रार्थना करने लगी। घर में आँधी उठने से पहले की निस्तब्धता छा गई। भोजन कराके भाभी तुलसीदास को शयन-गृह में छोड़ आई। प्रिय का चंद्रमुख देखकर रत्नावली के हृदय में आज उल्टा ज्वार बह चला। जिस तरह हवा से उड़ाई हुई मेघमाला अन्तर में बिजली छिपाये पर्वत के पास

आकर ठहरती है, उसी तरह रत्नावली पति के पास आई। जैसे चक्रों से अंकित पूँछ फैलाकर मोर नाच उठता है, वैसे ही मेघमाला-सी रत्नावली को देखकर तुलसीदास का मन-मयूर नाच उठा। रत्नावली के बाल खुल गये, आँखों की पलकों ने गिरना बन्द कर दिया। उसके मोह के बन्धन टूट गये; वह अरूप का ध्यान करती हुई योगिनी की तरह उठकर खड़ी हो गई। कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी की तरह रत्नावली बोली:-

"धिक धाये तुम यों अनाहूत
धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ-हाड़-चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये।''

तुलसीदास के पूर्व संस्कार जागे। उसी क्षण उनका काम भस्म हो गया। उन्हें सामने स्त्री नहीं, आग की जलती हुई प्रतिमा दिखाई दी। वह उन्हें विश्व-हंस पर स्थित नीलवसना शारदा-सी लगी। उसकी दृष्टि से बँधकर एक बार उनका मन फिर ऊपर उठा; आकाश के बहुरंगी स्तर एक क्षण में पार कर गया। और संस्कारों के धूसर समुद्र के ऊपर फिर एक नवीन तारिका चमक उठी। उसी में शारदा का वह रूप लीन हो गया। केवल अरूप की महिमा रह गई। आकाश निस्तब्ध रह गया। ज्ञान से खुले हुए नेत्र बाहर से मुँद गये। जिस कली में कवि का मन बन्द था, वह सरस्वती बनकर छंद की सुरभि लिये हुए उसी के भीतर खुल गई।

जब अपनेपन का बोध हुआ तब बाहर चलने का विचार आया। अवरोधों से मुँह मोड़कर जीवनधारा प्रतिकूल दिशा में बह जली। पुन: लहरों का शब्द सुन पड़ने लगा। नये भावों से पूर्ण शब्द सुनाई देने लगे। असुरों से पीड़ित ऋषियों को हर्ष हुआ। पार्थिव ऐश्वर्य और अज्ञान की रात बीत गई। पूर्वांचल पर ज्योति का प्रपात झरने लगा। तुलसीदास की चेतना का, अन्धकार से प्रकाश का, पराधीनता का स्वाधीनता से संग्राम होगा। एक ओर कवि की सरस्वती होगी, दूसरी ओर प्रजा-पीड़कों का छल-प्रपंच। जैसे सूर्य एक-एक बिन्दु जल जोड़कर वर्षा के बादल बनाता है, वैसे ही मत-मतान्तरों में बँटे हुए जनों को मिलाकर कवि नये समाज का निर्माण करेगा। आज देश काल के शर से बिद्ध होकर अशेष छविशाली कवि जागा है। पाप की रागिनियां निस्पंद होकर सो रहेंगी। संसार की वीणा के पुराने तारों पर नये प्रकाश की धारा पड़ी है। कवि के स्पर्श से नवजीवन के गीत साकार होकर जनमात्र की सम्पत्ति बनेंगे।

कहाँ क्या हो रहा है, कवि ने कानों से कुछ न सुना। वह अपना भाव मन में ही गुनता रहा। सामने देखा, पत्नी खड़ी है, आँखें छलछला आई हैं। भाव-वीणा की सभी तानों से वह अधिक भावमयी थीं। कवि ने अपने दाम्पत्य जीवन का अन्तिम वाक्य कहा, "तुमने जो प्रकाश दिया है, उससे अब घर में रहने का तनिक भी अवकाश नहीं। मैंने इस समय जीवन का जो व्रत लिया है, उससे फिर इस ओर कभी देखूँगा भी नहीं।"

धीरे-धीरे वह बाहर आये। हृदय में वही परिचित मूर्ति थी। अपना क्षुद्र रूप छोड़कर वह विश्व का आश्रय बन गई थी। सुख के जल पर तिरती हुई कमला के रूप में सामने आई। कविता के आरम्भ में भारत का जो सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो गया था, वह पुन: उदित हुआ और रत्नावली ही "प्राचीदिगन्त उर में पुष्कल रवि रेखा" बन गई।

इस कविता में निराला ने नये चरित्र-चित्रण और नाटकीय घटना-संगठन का परिचय दिया है। इसके पहले किसी भी छायावादी कवि ने इस तरह की गाथा न लिखी थी। चरित्र-चित्रण के साथ उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का ध्यान बराबर रखा है। मध्यकालीन समाज की मूल समस्या को उन्होंने अच्छी तरह पहचान लिया था। मुगल आक्रमण के पहले ही जातीय जीव नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। तृष्णोद्धत सगर्व क्षत्रिय देश की रक्षा करने में असमर्थ हुए। शूद्रों का विशाल वर्ग उच्च वर्गों द्वारा इस तरह रौंद डाला गया था जिस तरह लहलहाते पौधों को फौजी घोड़े रौंद डालते हैं।

इस परिस्थिति में तुलसीदास का जन्म होता है। परिस्थिति अनुकूल या प्रतिकूल होने पर भी उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। विलासिता का वातावरण उन्हें भी मोहित कर लेता है। रत्नावली में उनकी आसक्ति व्यक्तिगत कामुकता न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक बन जाती है। चित्रकूट में जाकर जब वह प्रकृति का नया संदेश सुनते हैं, तब मानो सामाजिक कष्टों से द्रवित होकर भारतीय संतों के ज्ञान-नेत्र खुलते हैं। रत्नावली के शब्दों में तुलसीदास को नहीं, वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को धिक्कारा गया है। उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है। तुलसीदास सन्त और भक्त होते हुए भी बहुत बड़े समाज-सुधारक थे, इसमें आज किसी को संदेह नहीं रह गया । लेकिन उनके हृदय में मनुष्य के दलित वर्ग के लिए कितनी सहानुभूति थी, इसे हम अपने वर्तमान संस्कारों के कारण बहुधा भूल जाते हैं। यदि किसी को निरालाजी की कविता में उनका चरित्र अस्वाभाविक लगे, तो उसे रामचरितमानस में "बिन अन्न दुखी सब लोग मरै" आदि कलियुग का वर्णन पढ़ लेना चाहिए। इसलिए कविता में शेष-श्वास, पशु मूकभाष आदि का उल्लेख नितान्त सार्थक है और तुलसीदास ही ने लिखा था -

"कत विधि सृजी नारि जग माँहीं
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।"

किस मध्यकालीन कवि ने नारी के प्रति ऐसी संवेदना प्रकट की है जैसी तुलसीदास ने ? और कौन कह सकता है कि

"मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।"
"खंजन मंजु तिरीछे नैननि।।"

आदि पंक्तियाँ लिखते हुए तुलसीदास के ज्ञान-नेत्रों के सामने प्रेम-मूर्ति रत्नावली ही का चित्र नहीं था ? इसलिए जब निरालाजी कहते हैं कि तुलसीदास अन्तर में रत्नावली की छवि लिये हुए घर से निकले और उसकी मूर्ति विश्व का आधार बन गई तो वह एक सार्थक कल्पना करते हैं।

कविता के आदि और अन्त में कथा की जैसी चित्रमय पृष्ठभूमि है, वैसा ही उदात्त चरित्र-चित्रण भी है। कथोपकथन में वैसा ही ओजगुण और स्वाभाविकता है। छन्द का प्रवाह लगभग छः सौ पंक्तियों में पाठक के मन को कविता के साधारण स्तर से बराबर ऊँचा उठाये रखता है। भारतीय स्थापत्य कला में अलंकरण के लिए सुन्दर मूर्तियों के समान उपमाओं और रूपकों की छटा देखते ही बनती है। वे जितनी सुन्दर हैं, उतनी ही सार्थक। रत्नावली के केशजाल को मेघमाला बनाकर तुलसीदास के मन को मयूर बनाना निरालाजी का ही काम था। आरम्भ के बन्द में सांस्कृतिक सूर्यास्त के चित्रण के अन्तिम बन्द में पुष्कल रवि रेखा की झाँकी तक संपूर्ण कविता एक विशाल रूपक में बँधी हुई है। ऐसा निर्माण-सौंदर्य नई हिन्दी कविता के लिए अद्‌भुत था। शब्दावली कठिन है, भावों में जहाँ-तहाँ दुरूहता है, लेकिन कवि का प्रयास यह रहा है कि मध्यकालीन समाज के सत्य तक हमें पहुँचाये। निःसन्देह छायावादी कला को उसने यहाँ अत्यन्त पुष्ट और विकसित रूप में दिखाया है।

'तुलसीदास' से मिलती-जुलती कविता 'राम की शक्ति-पूजा' है। पहली रचना में रामचरित्र के निर्माता कवि तुलसीदास का चित्रण था; इस कविता में राम ही नायक हैं। पहली कविता में उन्होंने मध्यकालीन समाज का सत्य दिया था, इस कविता की पृष्ठभूमि पौराणिक है परन्तु उसका सत्य कवि के इसी जीवन का है।

'धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध'', यह पंक्ति पूरी कविता का सूत्र है। कहना न होगा कि यह पंक्ति स्वयं कवि के जीवन पर खूब घटित होती है। राक्षस, वानर, लंका,

समुद्र-तट, यह सब एक विशाल सेटिंग मात्र हैं; वास्तविक **संघर्ष** राम के हृदय में है। वह शक्ति की साधना कर रहे हैं और प्रश्न है कि वह विजयी होंगे या नहीं। 'तुलसीदास' में कवि एक हद तक तटस्थ है; 'राम की शक्ति-पूजा' पर कवि की अपने व्यक्तित्व की छाप है।

रवि अस्त हो गया लेकिन ज्योति के पत्र पर राम-रावण के अपराजेय समर का इतिहास सदा के लिए अंकित हो गया है। इस युद्ध में प्रति पल व्यूह परिवर्तित किये गये हैं; वानरगण भयानक 'हूह' शब्द करते हुए राक्षसों पर टूट पड़े हैं; रामचन्द्र रावण पर छोड़े हुए अपने बाणों के व्यर्थ होने से अग्निनयन हो उठे हैं। लंकापति उद्धत होकर वानर-दल का मान मर्दन कर चुका है; सुग्रीव, अंगद, गवाक्ष, नल आदि मूर्छित हो गये हैं; युद्ध के समुद्र-गर्जन में केवल हनुमान की चेतना स्थिर रही है: वही जानकी के हृदय को आशा बँधाये हुए है।

संध्या होने पर दोनों दल अपने शिविरों को लौटे हैं। 'तुलसीदास' में असुरों द्वारा संस्कारों की पृथ्वी मली गई थी; यहाँ भी राक्षसों की पद-चाप से पृथ्वी हिल उठती है। तमोगुण का प्रतीक आकाश–जो रावण के इष्टदेव शंकर का निवास है – दानवीय विजय से उल्लसित और विह्वल हो उठता है। वानरों की सेना वैसे ही खिन्न हो रही है। राम के धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ गई है। जटा-मुकुट खुलकर पृष्ठ पर, बाहुओं और वक्ष पर इस तरह फैल गया है जैसे दुर्गम पर्वत पर रात्रि का अंधकार फैल गया हो। इस निराशा की तमिस्त्रा में दूर चमकती हुई तारिकाओं की तरह उनके दो नेत्र दीप्त हो रहे हैं।

समुद्र के किनारे पर्वत है; वहीं पर वानरी सेना एकत्र हुई है। अमावस्या की रात में आकाश मानों अँधेरा उगल रहा था। हनुमान के पिता पवनदेव स्तब्ध थे। विशाल समुद्र अप्रतिहत स्वर में गरजकर शान्ति भंग कर रहा था। पर्वत ऐसे निश्चल था मानो ध्यानमग्न हो। प्रकाश के लिए केवल एक मशाल जल रही थी। रामचन्द्र के मन में संशय हो रहा था कि रावण को जीत पायेंगे या नहीं। जो मन आज तक अशान्त न हुआ था, वही असमर्थ होकर अपनी हार मान रहा था। तुलसीदास ने मनोदेश में ऊपर उठते हुए जैसे रत्नावली की छवि देखी थी, वैसे ही राम को अचानक स्वयंवर के दिनों की जानकी का स्मरण हो आता है। उपवन का वह मिलन, नयनों का नयनों से संभाषण, जानकी का वह प्रथम कम्पन – वह सब याद आते ही क्षण भर को वह अपनी स्थिति भूल जाते हैं और शिव का धनुष-भंग करने के लिए उनका हाथ फिर अपने आप उठ जाता है। फिर उन्हें अपने दिव्य शर याद आते हैं जो देवदूतों के सामने उड़ते हुए ताड़का, सुबाहु

आदि राक्षसों को भस्म कर चुके हैं। उन्हें वह शक्ति की मूर्ति याद आती है जो आज युद्ध में समस्त आकाश को छाये हुए थी। राम के सभी अस्त्र उस महानिलय में बुझकर लीन हो गये। उनके नेत्रों में सीता के राममय नेत्रों की छवि अंकित हो गई। तभी उनके दैन्य को तिक्त करने के लिए रावण भयानक स्वर में अट्टहास कर उठा, पराजित राम के नेत्रों से मुक्ता जैसे दो अश्रु-बिन्दु ढुलक पड़े।

महावीर हनुमान अस्ति और नास्ति के रूप राम के दोनों चरणों को देख रहे हैं। अश्रु-विन्दु देखते ही उनका मन अस्थिर हो उठा। पिता-पक्ष से उच्चासों पवन डोल उठे। समुद्र में पहाड़ जैसी तरंगें उठकर गिरने लगीं। हनुमान अट्टहास करते हुए महाकाश में पहुँच गये। रावण की महिमा अमावश के अन्धकार के समान थी और हनुमान रामभक्ति के तेज के समान उसे छिन्न कर रहे थे। रावण के इष्टदेव शंकर के निवास महाकाश को समेट लेने के लिए महावीर पहुँच गये। इस महानाश को देखकर एक क्षण को शिव भी चंचल हो गये। महावीर के वेग को सँभालने के लिए उन्होंने शक्ति का स्मरण किया। जिसका मन कभी श्रृग्ङ्गाररत नहीं हुआ, वह राम की मूर्तिमान अर्चना शिव के सामने आ पहुँची। उन्होंने शक्ति को सावधान किया कि इस ब्रह्मचारी पर प्रहार करने से तुम्हारी ही हार होगी। उसे विद्या से ही प्रबोध देना चाहिए। सहसा आकाश में अंजना रूप में शक्ति का उदय हुआ। उन्होंने हनुमान को मीठी फटकार बतलाई – बचपन में सूर्य को निगल लिया था, वही भाव तुम्हें आज भी विकल कर रहा है। यह महाकाश शिव का निवास स्थान है जिन्हें रामचन्द्र भी पूजते हैं। उसे नष्ट करने के लिए क्या रामचन्द्र ने आज्ञा दी है ? फिर सेवक होकर यह अनाधिकार चेष्टा कैसी? यह फटकार सुनकर महावीर का मन नम्र हो गया और उन पर फिर वही सेवा-भाव छा गया।

इधर विभीषण को चिन्ता हो रही थी कि रामचन्द्र की यही दशा रही तो लंका राज कैसे मिलेगा ! उन्हें उत्साहित करने के लिए विभीषण ने अनेक वीर-वचन कहे लेकिन राम के मन पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने शान्त मन से उत्तर दिया, "मित्रवर, यह लड़ाई मुझसे न जीती जायगी। स्वयं महाशक्ति रावण का समर्थन कर रही है। उन्हें कौन परास्त कर सकता है ?'' एक बार लक्ष्मण को सहज क्रोध हो आया, जाम्बवान स्थिर रहे सुग्रीव व्याकुल हुए और विभीषण आगे का कार्यक्रम सोचने लगे। रामचन्द्र आज श्रीहत हो गये ! महाशक्ति रावण को अपने अंक में वैसे ही लिये थीं, जैसे चन्द्रमा कलंक धारण करता है। वानर-दल को विचलित होते देखकर वह जब-जब शर-संधान करते थे, महाशक्ति के नेत्रों में तब-तब अग्नि दीप्त हो उठती थी। फिर महाशक्ति ने राम को इस दृष्टि से देखा कि उनके हाथ बँध गये और धनुष खींचते ही न बना।

निरालाजी ने स्वामी सारदानन्दजी महाराज वाले लेख के अन्त में अपने स्वप्न का उल्लेख किया था, – "ज्योतिर्मय समुद्र है, श्यामा की बाँह पर मेरा मस्तक, मैं लहरों में हिल रहा हूँ।'' इस स्वप्न के साथ उनके जीवन का एक सत्य यह भी था

"पश्चात् देखने लगीं मुझे बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त्र।''

'राम की शक्ति पूजा' में इस तरह की असमर्थता का अद्वितीय चित्रण हुआ है।

जाम्बवान ने सलाह दी कि शक्ति की आराधना करने से ही रावण को पराजित करना संभव होगा। यह प्रस्ताव सभी को पसन्द आया। हनुमान एक सौ आठ कमल लेने चले। रात बीत गई और नभ के ललाट पर प्रथम किरण फूटी। समर भूमि में फिर कोलाहल होने लगा लेकिन रामचन्द्र मन को एकाग्र किये दुर्गा का जप कर रहे थे। इसी प्रकार पाँच दिन बीत गये। छठे दिन उनका मन योगियों के आज्ञा नामक चक्र तक पहुँचा। जप के महाकर्षण से अम्बर थर-थर काँपने लगा। देवी को कमल अर्पित करते हुए राम एक ही आसन पर स्थिर बैठे रहे। आठवें दिन एक इन्दीवर रह गया और मन सहस्त्रार को पार करने की बाट जोहने लगा। दो पहर रात बीतने पर साक्षात् दुर्गा आकर पूजा का अन्तिम फूल उठा ले गईं। हाथ बढ़ाने पर फूल न मिला तो राम का मन चंचल हो उठा। ध्यान छोड़कर पलकें खोलीं और वह विचार आते ही आसन को छोड़ने से असिद्धि होगी, वे अपने जीवन को धिक्कारने लगे। विरोध और निरन्तर विरोध, साधनों का अभाव और सदा ही अभाव ! जानकी का उद्धार कैसे करें ? तभी उनके अविनीत मन ने कहा, माता मुझे राजीव-नयन कहती थीं । दो नील कमल तो अभी शेष हैं। इसलिए,

"पूरा करता हूँ देकर मात: एक नयन''

यह कहकर उन्होंने महाफलक वाला प्रदीप्त ब्रह्मशर हाथ में ले लिया। ज्यों ही अपना दक्षिण नेत्र अर्पित करने को हुए, देवी ने साधुवाद देते हुए उनका हाथ पकड़ लिया।

"साधु, साधु साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम।
कह, लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।''

रामचन्द्र ने शक्ति को प्रणाम किया और वे विजय की भविष्यवाणी करके राम के मुख में लीन हो गईं।

'राम की शक्ति पूजा' जैसी नाटकीयता निरालाजी की और किसी भी कविता में नहीं। यहा उन्होंने अपने जीवन की अनुभूति, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय-कामना को नाटकीय रूप दिया है। आकाश और समुद्र के सम्मिलित गर्जन में राम का व्यक्तित्व कुछ क्षण को मानो खो जाता है। यह क्रियाशील तमोगुण जीवन की परिस्थितियाँ हैं जिन्हें परास्त करने के लिए राम सदा साधनों की खोज करते रहे हैं। राम शक्ति की साधना करते हैं। यह साधना और भी महत्वपूर्ण हो उठती है जब हम उस चित्र का स्मरण करते हैं जहाँ राम समुद्र के किनारे अँधेरे में अकेले बैठे हैं, सिर पर एक मशाल जल रही है और समुद्र के गरजने के साथ रावण का उन्मत्त अट्टहास सुनाई देता है। यह राम तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हैं। इनमें ब्रह्म की पूर्णता के बदले मनुष्य की अपूर्णता है। वह अधीर हो जाते हैं, सीता की स्मृति से मोहित हो जाते हैं, आँखों से आँसू भी गिरने लगते हैं, इसीलिए शक्ति की साधना इतनी महत्वपूर्ण है। राम के रूप में कवि ने जीवन की परिस्थितियों को एक बार फिर चुनौती दी है। उसके नायक युद्ध के लिए फिर तैयार होते हैं। लेकिन यह महाशक्ति एक दैवी शक्ति है। शक्ति का आकर राम का हाथ पकड़ना एक मनोमुग्धकारी चमत्कार मात्र है। राम के संघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है, उतना उनकी विजय का नहीं। कवि के जीवन में संघर्ष ही सत्य रूप में आया है। विजय की कामना अपूर्ण रही है।

यहाँ तुलसीदास की अपेक्षा चरित्र-चित्रण में विविधता है। विभीषण, हनुमान आदि के चित्र महाकवि बाल्मीकि और मिल्टन की याद दिलाते हैं। थोड़े-से शब्दों में रेखाचित्र बनाने में कवि ने नई क्षमता का परिचय दिया है। योग दर्शन में काव्य के लिए जो सुलभ उपकरण मिले, उन्हें कवि ने मूर्त रूप दिया है। आज्ञा, सहस्रार आदि चक्रों पर राम के मन के चढ़ने की क्रिया के अतिरिक्त हनुमान का समुद्र को विलोड़ित करते हुए महाकाश में चढ़ना ओजपूर्ण वर्णन में अनूठा है। प्रकाश और अन्धकार का ऐसा चित्रमय सम्मिश्रण उन्होंने पहले कभी न किया था। इसकी प्रतीक-व्यंजना अद्‌भुत है। रावण समस्त तमोगुणी विघ्न-बाधाओं का प्रतिनिधि मात्र दिखाई पड़ता है। उसके साथ शिव, आकाश और शक्ति सभी क्रियाशील जान पड़ते हैं। इस अनन्त तमोगुण में राम के दिव्यशर श्रीहत होकर कहीं खो जाते हैं। मनुष्य का मन पराजित होकर भी पराजय स्वीकार नहीं करता। युद्ध के लिए, विजय के लिए वह पुनः चेष्टा करता है। 'राम की शक्ति पूजा' का यही महान् आशावादी सन्देश है।

इस कविता के पीछे जीवन की कौन सी अनुभूति छिपी थी, इसे हम तब अच्छी तरह समझेंगे जब साथ 'सरोज-स्मृति', 'वनबेला' और 'गीतिका' के कवि-जीवन सम्बन्धी अन्य

गीतों पर दृष्टि डालेंगे। इन रचनाओं का उत्कट आत्म-निवेदन नाटकीय रूप से यहाँ प्रस्तुत किया गया है। कवि अपने प्रति इतना तटस्थ हो गया कि सहसा मुख्य पात्र से उसके तादात्म्य को हम समझ नहीं पाते।

'सरोज-स्मृति' में एक दूसरा नायक है जो 'राम की शक्ति पूजा' के राम की तरह अपने से प्रबल शत्रु का युद्ध-कौशल देखता है। यहाँ भी एक समर का वर्णन है जिसमें

"एक साथ जब शत घात पूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण।
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप वह रण-कौशल।"

'राम की शक्ति-पूजा' में पहले दो बन्दों के बाद जैसे युद्ध के बाद स्तब्धता छा जाती है, वैसे ही यहाँ भी—

"व्यक्त हो चुका दीत्फारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रूद्र कण्ड फल।"

'राम की शक्ति-पूजा' में श्यामा अवतारित होकर राम के बदन में लीन हो गई, लेकिन यहाँ उनकी छवि उस व्यक्ति पर पड़ती है, जो लाञ्छित है। 'सरोज- स्मृति' में —

"वांछित उस किस लाञ्छित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर,--"

पढ़ते ही बरबस 'राम की शक्ति-पूजा' में

"लाञ्छन को ले जैसे अशांक नभ में अशंक "

की याद आ जाती है।

'सरोज-स्मृति' हिन्दी की एकमात्र प्रसिद्ध 'एलेजी' या शोकगीत है। इसे कवि ने अपनी कन्या के निधन पर लिखा था। सरोज सवा साल की ही थी कि वह मातृ-विहीन हो गई। बाल्यावस्था से नानी ने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। कवि के साथ-साथ वह भी जीवन के थपेड़े सहती रही। कान्यकुब्ज समाज की रूढ़ियों की परवाह न करते हुए निरालाजी ने पण्डित शिवशेखर द्विवेदी से उसका विवाह किया। इसके बाद भयानक बीमारी में उसका देहान्त हुआ। उस समय निराला जी 'सुधा' के प्रूफ-संशोधन से लेकर सम्पादन

तक के सभी कार्य करते थे। मासिक वेतन 50 रु मिलता था। कविताएँ छापना संचालकजी कवि पर अपार अनुग्रह करनां समझते थे। "मैंने निराला को बनाया'' सभा-समाज में उनका यह दावा था। 'तुलसीदास' कविता छपने पर उन्होंने यह शिकायत भी की कि 'सुधा' की बिक्री कम हो गई। मुझे याद है 'वनबेला' पर निरालाजी को पारिश्रामिक मिला था लेकिन तब तक सरोज का दुखान्त नाटक समाप्त हो चुका था। 'सरोज-स्मृति' की हर पंक्ति में यह भाव बोलता है कि मैं पुत्री के लिए कुछ न कर सका।

निरालाजी सरोज को गाँव भेज चुके थे। जीवन के और सब कार्य करते हुए भी उनका चित्त उद्विग्न बना रहता था। एक दिन नीचे से पोस्टकार्ड उठा कर ऊपर वापस आये और इतना ही कहा, "सरोज नहीं रही।'' दुख से उनका चेहरा स्याह पड़ गया था। उसे सहन करने के प्रयास में वे कुछ देर तक कमरे में टहलते रहे; उसके बाद अचानक घर से निकल कर घूमने चले गये। दो दिन तक सरोज की कोई चर्चा नहीं हुई। इस बीच उनका चित्त कुछ स्थिर हुआ। कविता में उस समय का दुख ही नहीं, एक आलम्बन पाकर सोलह साल पहले की समस्त वेदना उमड़ आई। इस कविता में निरालाजी ने चार पंक्तियाँ ऐसी सच्ची लिखी हैं जिनमें उनका सारा जीवन केन्द्रित हो गया है। उनका एक रूप उद्धत और उत्साही वीर का है, जो दारुण मार्ग में नियति को भी चुनौती देता है।

"खण्डित करने को भाग्य-अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक ।''

ये पंक्तियाँ हिन्दी में निरालाजी ही लिख सकते थे और भविष्य के प्रति अशंक होकर देखना उन्हीं को शोभा देता है। परन्तु वह भाग्य-अंक खण्डित नहीं कर पाये। इसलिए कविता के अन्त में, उस उदात्त गर्जन के बाद उनका दुख-जर्जर हृदय बोल उठता है,

"दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।''

सन् '34 से '38 तक उन्होंने अनेक रचनाएँ ऐसी की हैं, जिनमें एक ओर भाग्य से अंक खण्डित करने का प्रण है तो दूसरी ओर जीवन की अनकही कथा अपने आप फूट निकलती है।

'सरोज-स्मृति' का अन्त 'राम की शक्ति-पूजा' के आशावाद से नहीं होता। निराला मस्तक झुकाकर अपने कर्म पर वज्रपात सहने के लिए तत्पर होते हैं। शीत से भ्रष्ट होते हुए शतदल के समान वह अपने विफल कार्यों से कन्या का तर्पण करते हैं। यथार्थ जीवन की यह एक नई और कटु अनुभूति थी जो निराला हिन्दी को दे रहे थे। यह एक ऐसा

उन्नीस वर्ष पार करने पर कन्या पिता से विदा लेकर जीवन सिन्धु पार कर गई। पिता अक्षम था, मानो यही सोचकर उसे मार्ग दिखाने के लिए उसने पहले ही प्रयाण किया था। शुक्ल पक्ष की प्रथमा श्रावण का स्तब्ध अन्धकार पार कर गई। पिता को बारम्बार यह स्मृति कचोटती है, "कुछ भी तेरे हित न कर सका।" धन कमाने का उपाय तो समझा लेकिन दीन के मुँह से कौर न छीन सकने के कारण स्वार्थ की लड़ाई में हमेशा परास्त हुआ। इस पराजय को हिन्दी का रत्नहार समझकर उसने गर्व से धारण किया। साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उसकी व्यस्तता व्यर्थ जान पड़ती थी। पत्रिकाओं से लौटी हुई रचनाएँ लेकर वह एकान्त में सम्पादकों के गुण गाया करता था। कुण्डली में दो शुभ विवाह लिखे थे लेकिन कन्या की ओर देखकर उसने ग्रहों को असिद्ध करने का निश्चय किया। उसने कुण्डली के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और कन्या उनसे खेलने लगी। वयस्क होने पर विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगे परन्तु कान्यकुब्ज शिव से गिरजा विवाह न करने का उसने निश्चय किया था। बारात बुलाये बिना साहित्यिकों के समाज में सरोज पर कलश का शुभ जल पड़ा। सरोज ने स्वर्गीया माता का रूप ग्रहण किया। मातृहीन बालिका को माँ की कुछ शिक्षा पिता ने दी और स्वयं उसकी पुष्प-सेज रची। जिस नानी की स्नेह-गोद में वह सवा साल से पली और बढ़ी थी, उसी की गोद में उसे अन्तिम शरण मिली।

इस प्रकार सरोज की जीवन-गाथा स्वयं कवि की दुख-गाथा बन जाती है। साहित्यिक जीवन में वापस की हुई रचनाओं से निराशा, आगे चलकर अर्थोपार्जन न कर पाने से निराशा, और अन्त में रुग्ण कन्या की परिचर्या न कर पाने से निराशा, वह इस कविता की भाव-भूमि है। इसमें निराला का व्यक्तित्व उद्धत, पराजित फिर भी संघर्षरत दिखाई पड़ता है। अन्त में कवि ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा कि कन्या को परिचर्या के लिए अर्थाभाव रहा। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानो लेखनी जवाब दे जाती है। वह सहसा कविता को समाप्त कर देता है। जो कहा और अनकहा रह गया, दोनों से इस कविता में ऐसा तिक्त और यथार्थ सत्य अंकित किया गया है कि व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी रचनाओं में यह रचना सहज ही ऊँचे-से-ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है

आत्मनिवेदन के लिए निरालाजी ने मातृ-रूप की कल्पना की। मातृवियोग ने कविता में भव्य रूप धारण किया। इस कल्पित माता से वे शक्ति के लिए प्रार्थना करते और उससे अपना दुख भी निवेदन करते। अपने मनुष्य-जीवन के समस्त स्वार्थ वे उसके चरणों पर बलि करते हैं। वे उससे प्रार्थना करते हैं कि जीवन के रथ पर चढ़कर मृत्यु-पथ पर बढ़ें और महाकाल के तीक्ष्ण शरों को सह सकें। वह उन्हें इसकी क्षमता दे। माता की

अश्रुसिक्त मूर्ति हृदय में विराजती रहे। भले ही बाधाएँ आयें लेकिन यह शरीर क्लेद-युक्त है। उसे देकर ही वे वन्दिनी माँ को मुक्त करेंगे।

जीर्ण-शीर्ण प्राचीन को वह भस्म कर देंगी। निर्जीव शरीर का धारण करना व्यर्थ है। भारत का कल्याण तभी होगा जब यह महाशक्ति यहाँ के निवासियों के रूप में अवतरित होगी। कभी कवि सोचता है : जीवन में कुछ न हुआ, न हो। अगर संसार धोखा है तो इसमें रोना क्या। छाया की तरह नीला आसमान दिखाई देता है। मनुष्य घटता-बढ़ता आता-जाता रहता है। वह चलता है, थकता है, रुककर बकवास करता है, लेकिन दुनिया ही कमज़ोर हो तो वह क्या कर सकता है। यदि कहीं प्रकाश हो उसे दीप्त करने का प्रयास व्यर्थ होगा। फिर कहता है कि समर्थ होकर मनुष्य किनारे बैठा हुआ लहरें क्यो गिन रहा है। जिस जल के भीतर बाडव-वह्नि जल रही है, उसे पार करके न जाने कितने लोगों ने अर्थ प्राप्त किया, तब कवि ही क्यों असफल होगा? महाशक्ति से प्रार्थना करता है, संसार में तृष्णा की विषाग्नि बुझे और भाषा में अमृत के निर्झर फूटें। कवि के स्वर पृथ्वी से उठें और आकाश पर छा जायें। परस्पर कर्षण से जो द्वंद्व मचा हुआ है, वह मिट जाय और क्षुद्रता तोड़कर लोग अपना विश्व-परिचय पहचानें।

महाशक्ति की वंदना का अर्थ है, मृत्यु को वरण करना। वही जीवन के दुख दूर कर सकती है। महाशक्ति के चरणों से रंजित मृत्यु को वरण करने की वह प्रार्थना करता है। उसके हृदय में अपमान की अग्नि प्रज्जवलित रहे और इसी प्रेरणा से वह जीवन के प्रलोभनों को ठुकरा दे। शक्ति के सिन्धु में लहरें उठ रही हैं। वह प्रतिज्ञा करता है कि समीर की भाँति वह उन्हें पार करेगा। कभी उसे मालूम होता है कि लांछना और अपमान का अन्त हो गया है और विघ्न बाधाओं को पार करके वह सफलता प्राप्त कर चुका है। वह मातृ-मूर्ति से कहता है, मैं राम में अँधेरा पार करके तुम्हारे द्वार पर आ पहुँचा हूँ। रास्ते में पत्थर लगे। लेकिन वे फूल जैसे जान पड़े। उपल खिलकर मानो उत्पल बन गये। शरीर अवसन्न हो गया, फिर भी वर की प्राप्ति से कवि प्रसन्न हो गया है। शत्रुओं का स्मरण करके वह उनका उपहास करता है, यह तेज-हत निशाचर, वन्य, भीरु और मलिन मन क्या समझेंगे कि कवि ने कौनसा वर प्राप्त किया है। वह अमर पदों को गह कर प्रभात धन पा गया है।

प्रातःकाल किरण नीले आसमान पर सहस्रों रूप धारण करती है और संसार में आकर उसे रंगीन बनाती है। रात्रि के समय वही शरत् चन्द्र की किरण बन जाती है। कवि का हृदय उस मुँदे हुए कमल के समान है जिस पर आँसू की बूँदें ढुलक रही हैं। कवि चाहता है कि उसकी दुख-रात्रि में वही किरण स्वप्न की जागृति बनकर उसके नेत्रों में शयन करे।

अन्य गीतों में इस दुख की रात्रि की बात है। एक गीत में वह प्रश्न करते हैं ' **कौन** तम के पार रे कह?" इसका उत्तर भी **यही है कि अन्धकार के आगे कुछ** नहीं। जो जड़ है वही प्रवाहपूर्ण जल का रूप धारण करता है। आकाश तत्त्व ही घन की धारा बनकर गीतशील संसार बनाता है। इसी तत्त्व से गन्ध गुण की सृष्टि होती है। आनन्द का भौंरा लहर-रूपी बालों और कमल-रूपी मुख पर गूँजता है। यह परिवर्तनशील प्रकृति का रूपक है जो जल होने पर भी आनन्द से सम्बद्ध है। फिर कवि पूछता है कि अन्धकार को भेदकर जो सूर्य रूपी नेत्र खुलता है, वह निशा-प्रेयसी के हृदय पर जब मुँद जाता है तब वह सार-तत्त्व पाता है या असार बन जाता है। संसार में आतप ही जल बनकर बरसता है; कलुष से ही कमल सुहृत बनते हैं; जो अशिव और उपलाकार है,वही नीहार के रूप में मंगलमय होकर द्रवित होता है। तब इस जड़ प्रकृति के परे क्या है ? इस गीत में निरालाजी ने ज्ञानजन्य सृष्टि के सिद्धान्त को अस्वीकार किया है। मनुष्य का ज्ञान, उसकी चेतना, उसका आनन्द जड़ प्रकृति के विकास से ही सम्भव हुए हैं। प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं; आतप जल बन जाता है, उपल द्रवित नीहार बनता है; इसी प्रकार एक गुणात्मक परिवर्तन से चेतना और आनन्द की भी सृष्टि हुई है। इसका कारण बताने के लिए प्रकृति से परे किसी दैवी सत्ता की कल्पना करना आवश्यक नहीं है।

दिन-पर-दिन निराला जी की रचनाओं में यह भावना दृढ़ होती दिखाई देती है कि पृथ्वी का यथार्थ सत्य ही नहीं है, वह आकाश की कल्पना से सुन्दर भी है। इस भाव को उन्होंने 'वनबेला' और 'नरगिस' में बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया है। 'वनबेला' के आरम्भ में उन्होंने पृथ्वी और सूर्य के प्रणय-व्यापार का वर्णन किया है। ग्रीष्म के ताप ने पृथ्वी को सर्वस्व दान कर दिया है। प्रस्वेद, कम्प, निश्वास, इनकी परिणाति लू में हुई है। संध्या के समय पीताभ, अग्निमय, निर्धूम दिगन्त का प्रसार प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा लगता है कि समस्त विश्व जल गया है; धूल में देश अदृश्य हो गया है। कवि विरक्त और घाम से पीड़ित होकर नदी के किनारे विचार करता चला जा रहा है।

"हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार।"

पराजय का भाव लेकर वह एक जगह आकर चुपचाप बैठ जाता है। वह राजपुत्रों की बात सोचता है, जो बड़े-बड़े विद्वानों को अपना अनुचर बना लेते हैं। वह उन धनी युवकों की बात सोचता है जो समुद्र पार से शिक्षा पाकर देश में राष्ट्रपति चुने जाते हैं और जिनकी प्रशंसा में पैसे में दस गीत रचकर लोग गर्दभ-मर्दन स्वर में उन्हें गाकर बेचते

फिरते हैं। साहित्य सम्मेलन में भी तब धाम जम जाती है। उधर सांध्य नभ का मस्तक तप कर रक्ताभ हो गया था; इधर कवि के मस्तक की भी कुछ ऐसी ही दशा थी। तभी आँखे खोलकर उसने देखा कि प्रेयसी की अलकों से आती हुई गन्ध की तरह बेला की खुशबू उसे तृप्त कर रही है। जीवन का समस्त ताप और त्रास अपने मस्तक पर लेकर मानो अतल की साँस ऊपर उठी थी, मानो कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश भेद कर सुन्दर सिद्धि ऊपर उठी थी, अथवा क्षीर-सागर पार करके सिक्त-तन-केश अप्सरा ही बहुजन दर्शन से चकित होकर लहरों पर खड़ी हो। वह वन के गीत की तरह खिली हुई है। ताप प्रखर होने पर अपने लघु प्याले में अतल की शीतलता भरकर कवि को सुगन्ध की सुरापान कराती है। कवि उसके समीप पहुँचता है। फिर

"झुक झुक, तन तन, फिर झूम झूम हँस हँस झकोर,
चिर परिचित चितवन डाल, सहज मुखड़ा मरोर,"

बेला कवि के पराजय और ईर्ष्या के भावों की ओर संकेत करके उससे दूर ही रहने को कहती है। कवि अपने स्पर्श को अपवित्र समझकर रुक जाता है। उस अग्नि-शिखा को देखकर वह सोचता है, कहीं कविता में भी ऐसे दुग्ध जैसे धवल दल खुलते। बेला उसे सुझाती है, आपा खोकर उसने जीवन का खेल खेला है। जीवन का मेला दिखाऊ वस्तुओं से ही चमकता है। इस तड़क-भड़क में आत्मा की निधि पत्थर बन जाती है। इसीलिए नगर में एक बड़ा है तो उसके बड़प्पन की रक्षा करने के लिए शेष सभी छोटे हैं। कवि सामाजिक विषमता से उत्पन्न होने वाली अपनी ग्लानि भूल जाता है। वह दो पंक्तियों में बेला के जीवन की सार्थकता व्यक्त कर देता है :

"नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता है जब उपल प्रहार प्रखर !"

बेला की यही सार्थकता कवि के जीवन में उसकी कविता बन जाती है।

'नरगिस में यह ईर्ष्या भाव तिरोहित हो गया है। नरगिस के पार्थिव सौंदर्य ने उसे अभिभूत कर लिया है। छोटे-बड़े के भाव उठते ही नहीं। हृदय में गंगातट की निर्जन शान्ति और नरगिस का सौंदर्य छा गया। शीतकाल बीत चुका था और पश्चिम में वैभव का दीर्घ दिन अस्त हो चुका था। तारक प्रदीप लिए हुए संध्या प्रिय की समाधि की ओर चली गई है। नीड़ों में पक्षियों का स्वर भी बन्द हो गया है। केवल बीते हुए गौरव के समान गंगा का शब्द निरन्तर सुनाई पड़ता है। चैत का कृष्ण पक्ष है, तृतीया की ज्योत्स्ना पृथ्वी पर ऐसे उतरी है जैसे नन्दनवन की अप्सरा पृथ्वी को निर्जन समझकर रात्रि के समय गंगा-स्नान

करने आई हो। तट पर बैठा हुआ कवि **विश्व का सघन तारतम्य देख रहा था। वह** सोचता था कि तत्व सूक्ष्मतम होता हुआ ऊपर को चला गया है और लोगों ने **मान लिया** है कि पृथ्वी से स्वर्ग बड़ा है। ज्योत्स्ना स्वर्ग की श्रेष्ठ सृष्टि के सामने सशरीर खड़ी है।

युवती धरा का यह वसन्तकाल था; हरे-भरे स्तनों पर कलियों की माला पड़ी थी। पवन पृथ्वी की सुरभि से दिक्कुमारियों को प्रसन्न कर रहा था। ऐसा लगता था कि पृथ्वी और स्वर्ग की होड़ हो रही है। तभी कवि ने देखा कि प्रणय के एकटक नयन जैसी नरगिस खिली हुई है। वह कहती है, स्वर्ग से आने से ही क्या ज्योत्स्ना अधिक सुन्दर हो गई ? वह स्वयं अन्धकार को पार कर प्रकाश में आई है; क्या उसने स्वर्ग नहीं प्राप्त कर लिया ? पृथ्वी स्वर्ग पर चढ़े तो उसकी अधिक शोभा है या उस स्वर्ग की जो नीचे पृथ्वी पर उतर आये? हवा बही और नरगिस की सुगन्ध कवि के प्राणों में छा गई। यही स्वर्ग है, यह कहकर उसने आनन्द से नेत्र बन्द कर लिये। भौतिक रूप पर इससे अच्छा और किसी छायावादी कवि ने नहीं कहा :

"स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर ?
बही हवा नरगिस की, मंद छा गई सुगन्ध,
धन्य, स्वर्ग यही, कह किये मैंने दृग बन्द।"

इन कविताओं में महाकाव्य के गुण हैं। इनमें वह उदात्त भावना है जिसे अंग्रेज़ी में 'एपिक क्वालिटी' कहते हैं। इनका नायक वास्तव में धीरोदात्त है, परन्तु उसके नायकत्व की परिणति रसराज में नहीं होती। वह दुख की कालिमा से घिरा हुआ है, जलती-बुझती प्रकाश की लौ अपराजित रहती है। ग्रीक नाटकों के हीरो की तरह वह हमारे हृदय में संवेदना का संचार करता है; संघर्ष की भयानकता दिखाकर वह विषाद, भय, कुतूहल के भावों को जाग्रत करता है। भावों के अनुरूप कवि की ओजपूर्ण शैली है, जिसके लिए मैथ्यू आरनौल्ड ने 'ग्रैण्ड स्टाइल' शब्दों का प्रयोग किया था। भाषा और छन्द पर ऐसा अधिकार निराला में भी कम मिलता है। छायावाद ने हिन्दी कविता को गीतात्मक बनाया था। रीतिकाल की रूढ़िग्रस्त तटस्थता से हटकर उसने अपने व्यक्तित्व को मुखर किया था। गीतिकाव्य में नई भावुकता, नया अपनपौ, पाठक से नया परिचय स्थापित किया गया। निराला के गीतों और मुक्तकों में आत्म-निवेदन के साथ नाटकीयता भी है। वह अपने प्रति तटस्थ होकर अपनी अनुभूतियों का चित्रण कर सकता है। आत्मीयता और नाटकीयता का यह सम्मिश्रण अद्‌भुत है।

'सरोज-स्मृति', 'राम की शक्ति-पूजा', 'वनबेला' आदि रचनाओं के चित्र और अलंकार छायावाद के ही हैं परन्तु उनकी व्यंजना नवीन है। उदाहरण के लिए प्रभात और कमल को लेकर छायावादियों ने ही नहीं, भारत की पूरी कवि-परम्परा ने रूपक बाँधे हैं। लेकिन 'तुलसीदास' में सांस्कृतिक सूर्य के अस्त से आरम्भ करके जिस प्रकार "प्राची दिगन्त उर में पुष्कल रवि रेखा" से कविता का अन्त किया गया है, यह निबाह अनूठा है। छायावाद के प्रतीकों को यह अनुभूति पहले न मिली थी जो उन्हें ऐसा प्रभावशाली बनाती। निराला ने उन्हें अपनी अनुभूति से नया जीवन दिया और इसीलिए उनमें ऐसी पूर्णता है। एक ओर उनमें छायावादी अलंकरण-सौंदर्य अपने चरम-विकास को प्राप्त हुआ है तो दूसरी ओर उनमें एक दूसरे युग के आविर्भाव की झलक है। 'सरोज-स्मृति में' कवि ने संकेत किया था कि दीन-दुखियों का अन्न छिनकर वह स्वार्थ-समर में विजयी नहीं होना चाहता था। उसके लिए स्वाभाविक था कि अपनी वेदना के चित्रण के बाद इस स्वार्थ-समर का भी वर्णन करे, जिसके कारण इन दुखियों की दशा सुधरने के बदले दिन-पर-दिन और गिरती जाती है। उसने ग़ालिब की मस्ती और उसके दर्द का परिचय दिया था। उसने नाटकीय सेटिंग में वीर नायकों का चित्रण किया था। अब उसके लिए आवश्यक था कि मैक्सिम गोर्की की तरह जनसाधारण का भी चित्रण करे। सन् 33-34 में हिन्दी में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हो रहा था। छायावाद की परिणति जिस निराशावाद में हो चुकी थी, उसके बाद यह अवश्यम्भावी था। चोटी के कलाकारों में प्रेमचंद के बाद निराला का ध्यान सबसे पहले इस ओर गया। निरालाजी ने गोर्की का अध्ययन किया और अपनी कला को एक नया रूप दिया। 'कुल्लीभाट' में गोर्की का उल्लेख भी है। उनके हृदय में समाज के निम्न वर्ग के प्रति पहले से ही जो सहानुभूति थी, वह गोर्की से एक नया संकेत पाकर उनकी कला को एक नया रूप देने लगी। हिन्दी साहित्य में 'देवी' और 'चतुरी चमार' का यह महत्त्व है कि जब सुधारवाद का भरम बना हुआ था, तब निराला ने यथार्थ जीवन के चित्र देकर हिन्दी पाठकों को झकझोर दिया। सन् 33 में इन रचनाओं की सृष्टि यह सिद्ध करती है कि हिन्दी के साहित्य को एक नई दिशा की ओर गति देना ऐतिहासिक आवश्यकता थी। एक युग की भूमि पार करके निराला उसकी सीमा तक पहुँच गया था, अब दूसरे युग की भूमि पर कदम उठाना ज़रूरी था। निराला ने यह कदम उठाया।

6. सुमित्रानन्दन पन्त : एक विश्लेषण

गजानन माधव मुक्तिबोध

यद्यपि पन्तजी आज हिन्दी के ज्येष्ठतम कवियों में से हैं, मुझे प्रतीत होता है कि वे अभी भी तरुण हैं। तरुण व्यक्तित्व में कृतित्व का जो साहस होता है, और अपने को सतत विकासमान बनाये रखने के लिए जो संवेदनशील जागरूकता रहती है, वह पन्तजी में भरपूर है। इसका मुख्य कारण यह है कि पन्तजी में ऐतिहासिक अनुभूति है, जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में कम दिखायी देती है। ऐतिहासिक अनुभूति वह कीमिया है जो मनुष्य का सम्बन्ध सूर्य के विस्फोटकारी केन्द्र से स्थापित कर देती है। यह वह जादू है जो मनुष्य को यह महसूस कराता है कि विश्व-परिवर्तन की मूलभूत प्रक्रियाओं का वह सारभूत अंग है। ऐतिहासिक अनुभूति के द्वारा मनुष्य के अपने आयाम असीम हो जाते हैं – उसका दिक् और काल उन्नत हो जाता है। ऐतिहासिक अनुभूति के कारण ही, पन्तजी विश्व-परिवर्तन के वर्तमान क्षणों को 'ब्रह्म अहम्' की संज्ञा दे सके। उनके लिए ऐतिहासिक प्रक्रिया एक कास्मिक प्रोसेस हो गयी। किन्तु, पन्तजी की इस ऐतिहासिक अनुभूति के पीछे उनकी मनोरचना सम्बन्धी कौन-सी मूलभूत प्रवृत्ति छिपी हुई है?

पन्तजी में वास्तव के प्रति विशेष उन्मुखता रही आयी। प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें केवल उपमाएँ और रूपक ही नहीं देता रहा, वह पूरे रूपाकार के साथ उनके सम्मुख उपस्थित होता आया। उनके यौवनोन्मेषकाल में, प्राकृतिक सौन्दर्य उनके लिए एक वातावरण स्थिति और परिस्थिति लेकर आया। नि:सन्देह, पन्तजी में कोमल संवेदनाओं से आप्लुत एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखता थी। शायद, वह कल्पना-वृति की कोमल और आत्यन्तिक तीव्रता के कारण रही हो, अथवा बाह्य से संवेदनाएँ प्राप्त कर, फिर उन्हें मात्र मनोमय बनाकर, उनमें लीन रहने की वृत्ति के कारण रही हो-कहा नहीं जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि संवेदनाओं के मूल बाह्य स्रोतों के प्रति वे उन्मुख थे। जिस विशेष अर्थ में पन्तजी प्रकृति-सौन्दर्य के कवि हैं, उस अर्थ में, उदाहरणत:, प्रसादजी नहीं। प्रसादजी प्रकृति के रूप-सौन्दर्य को आत्मसात् करते हैं, किन्तु मुख्यत:, मानव-प्रसंगों के बीच उद्‌भूत भावनाओं के वर्णन में वे उन प्रकृति-रूपों को खींचकर ले जाते हैं, क्योंकि 'प्रकृति-सौन्दर्य' मुख्यत: उनका कार्य-विषय नहीं, मानव-भाव कार्य-विषय है। प्रकृति-सौन्दर्य, साधारणत:, प्रसादजी के लिए काव्य का उपादान है। पन्तजी के लिए सर्वत्र ऐसा नहीं है। प्रसादजी, वस्तुत:, अन्तर्मुख कवि हैं। वे भावों को इस प्रकार अनुभूत करते हैं, इस तरह पहचानते हैं, जैसे हम अपने घर की भीत, टेबिल, दवात, छड़ी, आदि वस्तुएँ अच्छी तरह जानते हैं। भाव मानव-प्रसंगों के बीच पैदा होते हैं। जिस प्रकार मानव-प्रसंग उलझे हुए होते हैं, उस तरह

भाव भी। भाव चाहे जितने ग्रन्थिल क्यों न हों, प्रसाद में ऐसी विश्लेषणप्रधान मर्म-दृष्टि थी कि जो उन भावों को, सारी जटिलता और समग्रता के साथ, किन्तु फिर भी जहाँ तक बने वहाँ तक सरलीकृत रूप में, विश्लेषित और संश्लेषित रूप में, चित्रित करती थी। प्रसादजी की अन्तर्मुखता इतनी गहन थी कि वे अपने अन्तर्जगत् में उपस्थित भावों को, उनके भेद और अभेद को, रूपों और गुणों को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। इसलिए वे समष्टि-चित्रों द्वारा उन्हें संश्लेषित रूप में, अथवा उपमा-विधान, प्रतीक-विधान द्वारा विश्लेषित रूप में, अंकित कर सकते थे।

मैं प्रसादजी और पन्तजी की तुलना इसलिए कर रहा हूँ कि मेरी बात स्पष्ट हो, और इन दो प्रभावशाली कवियों के काव्य-स्वभावों की विशेषताएँ सामने आ जायें। मैं दोनों के काव्यगुणों के उत्कर्ष-स्तर की बात नहीं कर रहा हूँ। काव्य में प्रकट कवि-स्वभावों पर प्रकाश डालने का यह प्रयास है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसादजी जिस अर्थ में अन्तर्मुख कवि हैं, उस अर्थ में पन्तजी नहीं। अन्तर्मुखता के बिना अपने ही भावों का स्पष्ट दर्शन, उनकी जटिलता और समग्रता का आकलन, तथा उनकी विश्लेषित और संश्लेषित अभिव्यक्ति, असम्भव है। ऐसी अभिव्यक्ति प्रसादजी के पास है, जो पन्तजी के पास नहीं। पन्तजी अन्तर्मुख कवि नहीं हैं- अथवा उनकी अन्तर्मुखता बहुत क्षीण है। पन्तजी अपने भावों को न केवल सरल रूप में रखते हैं, वरन् उनकी मात्रा भी बहुत कम होती है, और साथ ही उनका आवेग भी। पन्तजी के काव्य में हमें संयम-असंयम दिखायी ही नहीं देता। हाँ, कहीं-कहीं कल्पना का अतिरेकपूर्ण आवेग हमें अवश्य प्राप्त होता है। वे मात्र निवेदन करते हैं। उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है। सच तो यह है कि पन्तजी अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यों के चित्रकार नहीं हैं। वैसी अन्तर्मुखता और विश्लेषणमयी दृष्टि उनके पास है ही नहीं। वे प्रकृति-चित्रों के अतिरिक्त मनोदशाओं और मन स्थितियों के गीतकार रहे हैं। वे सांकेतिक-सूचक अर्थप्रवण शब्दों और प्रतीकों द्वारा उन स्थितियों और दशाओं को इस प्रकार प्रेषित करते हैं कि पाठक उन्हीं मन:स्थितियों और मनोदशाओं की संवेदनमय धुन्ध में खो जाता है, उस संवेदनमय धुन्ध को आत्मसात् करता है। ऐसी कविताओं का स्वर, नि:सन्देह, मन:स्थितियों का संवाहक होता है। प्रसादजी ने कभी स्वर नहीं साधा। स्वर द्वारा मन:स्थिति अन्यों में संक्रमित होती है। अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यों में उलझने की क्षमता और फुर्सत हर एक में नहीं होती। पाठक, भाव-दृश्यों का विशेषज्ञ पण्डित नहीं होना चाहता। पन्त उसे सहज रूप से विश्लेषित और संश्लेषित भाव-दृश्य नहीं देते, वरन् मन:स्थिति और मनोदशाएँ प्रदान करते हैं। वह उनसे अभिभूत हो जाता है। पन्तजी की लोकप्रियता का यही रहस्य है। अपनी मन:स्थिति और मनोदशा को अन्यों में संक्रमित

करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। प्रसादजी की बहुत-सी कविताओं के लिए (नि:सन्देह कुछ को छोड़) साहित्य-विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक है। इसीलिए आजकल, शायद यूनिवर्सिटियों में प्रसादजी को ज्यादा महत्व दिया जा रहा है।

पन्तजी के काव्य का यौवनोन्मेष काल प्रदीर्घ है। उनकी कविताओं में ताज़गी और नवीन भंगिमा रही आयी। किन्तु दसियों साल बाद, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अनन्तर के काल में, उनकी कई कविताओं में पुरानी गूँजें दिखायी दीं। पुराने भाव संशोधित-परिवर्तित रूप में आये, और उनके साथ जुड़ी हुई पुरानी शैली और पुराने चित्र भी कुछ फेरफार के साथ अवतरित हुए। हाँ, यह सच है कि उन्होंने बहुतेरे नये प्रयोग किये, उनमें ताज़गी है। प्रयोगों में कवि का साहस और अग्रसर होनेवाली प्रतिभा की सूचना भी मिलती है। किन्तु प्रकृति-चित्रों मन:स्थितियों और मनादशाओं को प्रकट करने की क्षमता रखनेवाला उनका पुराना शिल्प नये का भार वहन न कर सका। सच तो यह है कि विशेष प्रकार के भावों को प्रकट करते रहने से उन भावों से अभिव्यक्ति की आदत पड़ जाती है। उन भावों से जुड़े हुए चित्र, भंगिमा तथा शब्द-सम्पदा आप-ही-आप आवृत्त और पुनरावृत्त होने लगती है। तब उनमें ताज़गी नहीं रह जाती। वे भाव और उनकी अभिव्यक्ति कण्डीशन्ड रिफ्लेक्स का रूप धारण कर लेती है। अभिव्यक्ति में यान्त्रिकता आ जाती है।

चिदम्बरा में संकलित बहुत -सी मनोदशात्मक या प्रकृति-चित्रात्मक कविताओं में वह पुरानी प्रभाव-क्षमता नहीं है। तब यह प्रतीत होता है कि मन:स्थिति-व्यंजक कविताओं में भी, भावों की केवल रूपरेखा उपस्थित करने के बजाय कुछ और चाहिए। केवल निवेदनात्मक शैली से काम नहीं चलने का। **चिदम्बरा** में एक मज़ेदार बात और हुई। भाव कई स्थानों पर मात्र एक दृष्टि, एक रुख़ एक झुकाव को प्रकट करने लगे। भावों से सम्बद्ध जो चित्रावली बहुत पहले से चली आयी, वह थोड़े हेरफेर के साथ (भावना से अधिक अर्थात् अन्त:समृद्धि से अधिक) केवल झुकाव प्रकट करने लगी। फलत: पन्त का बहुत-सा काव्य झुकाव का काव्य बनकर रह गया। वह मात्र दृष्टि-काव्य हो उठा, मर्म-काव्य नहीं। जहाँ-जहाँ इस प्रकार दृष्टि-काव्य प्रकट हुआ, वहाँ-वहाँ जीवन-तत्त्वों की रिक्तता-सी प्रकट होने लगी। **चिदम्बरा** में ऐसी बहुत-सी कविताएँ हैं, जो इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इस श्रेणी की बहुत-सी कविताओं में मात्र शुभेच्छाएँ और कल्याण-कामनाएँ हैं, जो कवि द्वारा विकसित अपनी पुरानी सांस्कृतिक शब्दावली में प्रकट हुई हैं। इस श्रेणी में हम बहुत-सी उद्‌बोधनात्मक कविताएँ भी डाल सकते हैं। इन्हीं कविताओं को देखकर लोग यह कहते हैं कि विचारों की जो उच्चता है, वह काव्य की भी उच्चता है, यह नहीं कहा जा सकता। ध्यान देने की बात है कि इन्हीं कविताओं मे छन्दों का अनुरणन, चमत्कारपूर्ण भावसंगीत प्रस्तुत करने

का बजाय, उबानेवाली एकस्वरता उत्पन्न करता है। मैं यहाँ काव्य-प्रभाव की दृष्टि से बात कर रहा हूँ।

अन्तर्मुखता के आपेक्षित अभाव की पूर्ति के रूप में पन्तजी में वास्तव के प्रति सहज संवेदन-क्षमता है। शुरू में, प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण में तो वह प्रकट हुई ही, उस वास्तव अनुरोध ने कवि को बाह्य जीवन-जगत् के प्रति प्रेरित किया। प्रसादजी, एक अन्वेषक के रूप में, अपने ही उलझे मनोभावों के बाह्य सन्दर्भों को खोजते हुए, जीवन-जगत् के उलझाव का अध्ययन करते, चिन्तन द्वारा बाह्य-विश्लेषण और आत्म-विश्लेषण करते। जीवन-जगत् का अध्ययन करनेवाले अन्तर्मुख प्रसादजी के मन पर अपना खुद का बोझ था। पन्तजी वास्तव के प्रति संवेदनशील होकर, जब-जब तत्प्रति उन्मुख हुए, उनके मन पर अपना खुद का बोझ कभी नहीं रहा। प्रसादजी अपने खुद के बोझ के सन्दर्भ से ही जीवन-जगत् की तह में घुसने का प्रयत्न करते। प्रसादजी की संवेदन-प्रणाली ही भिन्न थी। अत्यधिक अन्तर्मुखता, तथा उस अन्तर्मुख लोक में विलासितापूर्ण गहन श्रृंगारिकता, और इसके एकदम विरुद्ध और विपरीत, आर्ष सांस्कृतिक अद्वैतवादी दर्शन, और उससे अनुप्राणित जीवन-मूल्य थे। उनके हृदय में इन दोनों प्रवृत्तियों की द्वन्द्व-स्थिति वर्तमान थी। बाह्य से प्राप्त उसकी सवेदनाएँ भी इतनी अधिक तीव्र थीं कि संवेदना स्वयं उनके लिए वस्तुत: एक समस्या बन जाती थी। फलत:, अपनी संवेदना और संवेदनात्मकता पर उन्हें सोचना पड़ता था। अपनी मूलभूत चिन्तन-प्रवृत्ति के द्वारा, वे उन तीव्र संवेदनाघातों को समस्यात्मक रूप देते थे। इसीलिए प्रसादजी की काव्याभिव्यक्ति उलझी हुई-सी लगती थी।

इसके विपरीत, पन्तजी पर अपने निज का इतना जबर्दस्त बोझ नहीं रहा। फलत; वास्तव से उद्‌भुत संवेदनाएँ और वास्तव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ अधिक सरल और सीधी थीं। वास्तव का (मान लीजिए, प्रकृति -सौन्दर्य का) पन्त-कृत चित्रण भावों और संवेदनाओं के उलझाव के कारण उलझा हुआ न होकर, वास्तव के रंग-बिरंगेपन के कारण उलझा हुआ हो सकता है। वास्तव की पूरी ताज़गी, इसीलिए, पन्तजी के काव्य में है, चाहे वे सोनजुही के बारे में लिखें या हिमालय के सम्बन्ध में। यह ठीक है कि मनोदशा को व्यक्त करने के लिए पन्तजी तरह-तरह की कल्पनाएँ लाते हैं अथवा वे प्रकृति के रूपों द्वारा संकेतित भावों को व्यक्त करने के लिए अनेकानेक कल्पना-चित्र प्रस्तृत करते हैं। बहुत सम्भव है कि ऐसी कुछ कविताओं में पाठक को उलझाव मालूम हो। किन्तु काव्याभिव्यक्ति की सांकेतिकता का यह अर्थ नहीं है कि कवि-मन में उपस्थित जो जटिल भाव-समुदाय है, वह सारा-का-सारा दृश्यमान होना चाहता है। इसके विपरीत, पन्तजी संकेतों द्वारा बात करके छुट्‌टी पा लेते हैं।

सच तो यह है कि निज का बोझ कम होने से, तथा अन्तर्मुखता के सापेक्षिक अभाव के फलस्वरूप, पन्तजी को, शायद, अन्त:स्थित भावों का आकलन-अध्ययन कम ही है। फलत:, जहाँ-जहाँ उनके काव्य में संवेदन की ताज़गी कम है, वहाँ वहाँ भाव-दृश्य भी दुर्बल हैं। किन्तु जहाँ-जहाँ उनके काव्य में संवेदना की ताज़गी है, वहाँ उनके शब्द बोलने लगते हैं, छन्द नाचने लगते हैं, भाव चमकने लगते हैं। ऐसे क्षणों में, जब वे छन्द की चौखट में सारभूत जीवन-तथ्य भी जमा देते हैं, तब भी उस कविता में एक ख़ास काट का ज्यॉमितिक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है - इसीलिए कि उसमें भी एक ताज़गी होती है। मुझे बार-बार लगता है कि पन्तजी की संवेदन-क्षमता, अर्थात् नव-नवीन संवेदनाओं को उनकी अपनी प्रफुल्लता और ताज़गी में ग्रहण करने की उनकी ताक़त, ही ऐसी है जो उन्हें वास्तव की तरफ़ ले जाती है - बाह्य वास्तव की ओर। वे जब बाह्य वास्तव की ओर जाते हैं और जब वे उसका अध्ययन करने लगते हैं, तब उनके मन पर उनका अपना कोई बोझ नहीं होता। वे वास्तव के सौन्दर्य अथवा उसके प्रभावकारी रूप की ओर निरहम तथा मुक्त भाव से जाते हैं और उस वास्तव द्वारा दी गयी संवेदनाओं को खूब ग्रहण करते हैं । इसीलिए मैं कहता हूँ, पन्तजी बुनियादी तौर पर ऐस्थीट हैं।

यदि यह सच है तो क्या कारण है कि पन्तजी ऐकान्तिक-से प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनके काव्य में प्रगतिशील भाव-धारा दृष्टिगत होती है, और वास्तवोन्मुखता भी प्रकट होती है, किन्तु साथ ही ऐकान्तिक वातावरण दिखायी देता है। यदि मान लिया जाय कि पन्तजी में वास्तवोन्मुख रहने की प्रवृत्ति है, तो उनका व्यक्तित्व अधिक सार्वजनिक और सकर्मक होना चाहिए। किन्तु, उक्त निष्कर्ष निराधार है। पहली बात तो यह है कि पन्तजी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी, जो भी, प्रवृत्ति है, वह लालन-पालन, परिवार, वर्ग, स्वयं के जीवनानुभव परिस्थिति आदि-आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है। जीवन-अस्तित्व की रक्षा तथा विकास के घनघोर संघर्ष में पड़कर यह मनोरचना अधिकाधिक वास्तवोन्मुख हो भी सकती थी। प्रसाद और उनसे अधिक निराला को जीवन संघर्ष के अपने-अपने ढंग के अनुभव हैं। प्रसाद-जैसा गहन अन्तर्मुख कवि भी ज़िन्दगी में पाये जानेवाले उतार-चढ़ाव के द्वारा, और अपने व्यवसाय के अनुभवों द्वारा, जीवन-जगत् से अधिकाधिक सम्बद्ध होकर, अपने युग के सारभूत मनोभावों को और सारभूत विशेषताओं को प्रकट कर गया। प्रसादजी का जीवन-चिन्तन उनके अपने ठोस अनुभवों पर आधारित है। जीवन के विविध क्षेत्रों का और अनेकानेक मानव-प्रसंगों का जितना अनुभव प्रसादजी को था, उतना पन्तजी को प्राप्त नहीं हो सका। फलत:, प्रसादजी की बुद्धि विश्लेषणप्रधान और कल्पना संश्लेषणप्रधान होती चली गयी। इन अनुभवों के ठोस आधार पर ही उनके अन्त:करण में एक ज्ञान-व्यवस्था निर्मित हुई, यद्यपि इस ज्ञान-व्यवस्था

के निर्माण में उनकी मूलभूत दर्शनिक जिज्ञासा का भी बहुत कुछ हाथ था। संक्षेप में, अत्यन्त अन्तर्मुख मनोरचना, जो प्रसादजी ने पायी थी, वह विशद होती गयी।

इससे पृथक्, पन्तजी में वास्तव के प्रति जो संवेदन-क्षमता है, उस पर, मूलत: अपना निज का बोझ नहीं होने से वह वास्तव के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होती गयी। वास्तव की संवेदना ने ही पन्तजी के मनोजगत् को विशदतर किया। किन्तु, वास्तव का उनके अन्त:करण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है। वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक संघर्षात्मक नहीं रहा। इसके विपरीत, निराला और प्रसाद को अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी दिशा में, द्वन्द्वात्मक स्थिति में आना पड़ा। वास्तविक जीवनानुभव की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद में हैं (महादेवी में भी), उतनी उस हद तक उस मात्रा में पन्तजी के पल्ले नहीं पड़ी। कर्म ही से बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति बढ़ती है, इसमें सन्देह नहीं। प्रसादजी ने सारस्वत सभ्यता का निर्माण करनेवाली इड़ा को बुद्धिवादी बताया है। मुझे कहने दीजिए कि इस प्रकार के संघर्ष की, अर्थात् जीवन-संघर्ष की, आपेक्षित अल्पता ने तथा स्वाभाविक एकान्तप्रियता ने, बाह्य वास्तव से पन्तजी के सम्बन्धों के आस-पास एक गोल सीमा-रेखा खींच दी। पन्तजी के काव्य का जो विकास हुआ है, उस विकास की अपनी एक निश्चित सीमा है। उस सीमा के घेरे के भीतर, पन्तजी ने वास्तव के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ कीं, और उस वास्तव ने उन्हें जो संवेदनाएँ प्रदान कीं, उनमें ऋजुता मंजुलता तथा एकरैखिकता है, जटिलता नहीं, वक्र-तिर्यक् रैखिकता नहीं, ग्रन्थिलता नहीं। बग़ैर झगड़े के, वह सीधा-साधा आमना-सामना है, परस्पर-उन्मुखता है।

व्यक्तिगत जीवन के भयानक उतार-चढ़ाव और पीड़ादायक संघर्षों द्वारा मन बुझ जाता है। बाहर के उलझाव भीतर के उलझाव बन जाते हैं। यद्यपि जीवन एक ओर अधिक अनुभवसम्पन्न हो जाता है, साथ ही बौद्धिक-शक्ति भी बढ़ जाती है, किन्तु आत्मजगत् ज्यादा उलझ जाता है। इसका कारण यह है कि ये व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष सोद्देश्य, सहेतुक, आत्मविकास के संघर्ष नहीं होते। प्रगतिमूलक प्रगतिकारक संघर्ष और होते हैं, स्थिति-रक्षा के संघर्ष में जीवन-शक्ति का अपव्यय होता है। निराला का संघर्ष स्थिति-रक्षा का संघर्ष है। प्रसाद को अपने जीवन क्षेत्र में जो संघर्ष करना पड़ा वह भी इसी प्रकार का है। पूँजीवादी समाज में व्यक्ति को अपनी स्थिति-रक्षा का संघर्ष करना ही पड़ता है। साम्यवादी समाज में ऐसा नहीं होता। स्थिति-रक्षा-सम्बन्धी संघर्ष की उग्रता से, अन्तर्जगत् में तीव्रभावनाओं, इच्छाओं, उद्वेगों, मनस्तापों और ज्ञान-तत्त्वों का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण हो जाता है कि बाह्य वास्तव के प्रति मन की प्रतिक्रियाएँ तीव्र किन्तु सम्मिश्र, आवेगात्मक किन्तु ग्रन्थिल, अनुभवात्मक किन्तु बौद्धिक, ज्ञान-सम्पन्न किन्तु कल्पनायुक्त, होने लगती हैं।

वास्तव-रूप को निरपेक्ष भाव से देखने और निरपेक्ष भाव से तद्द्वारा उत्सर्जित संवेदनाएँ ग्रहण करने के स्थान पर, मन उस वास्तव पर लद जाता है, थुप जाता है, अथवा उन संवेदनाओं को उनके यथार्थ रूप में ग्रहण करने के बजाय उन्हें सम्पादित और संशोधित करके स्वीकार करता है। चिन्तन तथा अनुभव के फलस्वरूप हृदय में जो ज्ञान-व्यवस्था निर्मित हो गयी होती है, वह ज्ञान-व्यवस्था भी, संवेदना-ग्रहण में हस्तक्षेप करती है, अर्थात् वह ज्ञान-व्यवस्था भी बाधास्वरूप बन जाती है। संक्षेप में, मन को उलझा देनेवाली परिस्थितियाँ पन्तजी के जीवन में भी आयी हों, तब भी उन परिस्थितियों ने अपनी एक सतत परम्परा क़ायम नहीं की थी। फलतः, पन्तजी पर निज का बोझ कम था। वास्तव के प्रति उनकी उन्मुखता अधिक मुक्त और स्वच्छ थी। इसका फल यह हुआ कि जहां-जहां संवेदनाएँ ताज़ी हैं, यानी जहाँ कवि ने उन संवेदनाओं को सीधे-सीधे उतारा है, वहाँ उनकी कविताओं में एक ताज़गी पैदा हो जाती है, हो गयी है। किन्तु इसके साथ ही एक बात और हुई है। वह यह कि व्यापक जीवन-जगत् के अनुभवप्रसूत आकलन में कवि पर छाये अपने निज के बोझ से जो ग्रन्थिलता उत्पन्न हो जाती है-चाहे आप उसे चिन्तनप्रधान दार्शनिकता का नाम दीजिए, चाहे और कुछ-वह ग्रन्थिलता भी पन्तजी में नहीं है, न तत्सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का बोझ। दूसरे शब्दों में, मुक्त और निरहंकार भाव से, निर्मल और निःस्वभाव से, वास्तव की ओर जाने के जो फ़ायदे हो सकते हैं, वे सारे लाभ पन्तजी को मिले।

जिस प्रकार पन्तजी एक ओर ऐंस्थीट हुए, उसी प्रकार, दूसरी ओर, पन्तजी मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में आये। वास्तव के अपने रूपाकार से मोहित पन्त, वास्तव ही का तक़ाज़ा सुन भी सकते थे—अन्यमनस्क होकर नहीं, तन्मनस्क होकर। हाँ, ये दो वास्तव अलग-अलग श्रेणियों और स्तरों के वास्तव थे। अन्यमनस्क वह होता है जो अपने में खोया हुआ हो। अपने में गहरे अथाह खोये रहने का गम्भीर सामर्थ्य जो प्रसाद में था वह पन्त में नहीं-यह स्वयं दोनों का काव्य ही सूचित करता है। वास्तव का जो तक़ाज़ा था, उसे पन्त ने पूरा करना चाहा। पन्तजी की सहज कविसुलभ सहानुभूति थी जनगण के प्रति। पन्तजी का राष्ट्रवाद इसी प्रकार प्रकट हुआ। 'भारतमाता ग्रामवासिनी' से लेकर, तो आगे 'तुम हँसते-हँसते कृष्ण बन गये मन में, जनमंगल हित हे' तक जो जनोन्मुख भावनाएँ पन्तजी ने प्रकट कीं, वे उनकी सहज सहानुभूति ही का विस्तार थीं। वास्तव की संवेदना में पन्त ने अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाया, उसका कोई रासायनिक घोल तैयार नहीं किया, उसका कोई मनः पूर्वक सम्पादन-संशोधन नहीं किया, और फिर उनकी यथामति यथावृत्ति यथाइच्छा व्याख्या और पुनर्व्याख्या करने नहीं बैठे, और तदनन्तर व्याख्याओं के कूटस्थ शीर्ष पर बैठकर उन संवेदनाओं की काट-छाँट करने

का खटराग उन्होंने नहीं किया। उन्होंने निर्मम और मुक्त भाव से वे संवेदनाएँ ग्रहण कीं, और इस प्रकार अपने हृदय का विस्तार किया। फलतः, वे कई दार्शनिक पूर्वग्रहों से बच गये। या यों कहिए, कि वास्तव के प्रति उनकी सहानुभूति के मार्ग में आने लायक़ उनके पास कोई दार्शनिक सम्भार नहीं था। यद्यपि पन्तजी के पास शुरू ही से अद्वैतवादी भावधारा थी, किन्तु, वस्तुतः, वह उनके भीतर बौद्धिक ज्ञान-व्यवस्था के ऐसे रूप में नहीं थी जो उनके दिमाग़ के दरवाजे बन्द कर सके, और दिमाग की सन्दूकची में दिल को दबा दे। संक्षेप में, पन्तजी का अद्वैतवादी रहस्य, मूलतः, एक दार्शनिक भावुकता का ही रूप हो सकता था।

वास्तव से पन्तजी का जो हार्दिक सम्बन्ध था, वह दार्शनिक कुण्ठाओं से रहित था। फलतः, वे मुक्त-मन और मुक्त-हृदय होकर वास्तव से समागम कर सके। इसीलिए मार्क्सवाद का पन्थ उनके लिए ऋजु पथ था। उन्हें चीजें साफ़ दीखती थीं। मार्क्सवाद के विरोध में तर्कों के चक्रव्यूह और दृष्टियों के विवर जो औरों को दीखते थे, उन्हें नहीं, क्योंकि वे वस्तु देख रहे थे। वस्तु स्वतःप्रमाणित है। वह है आज की पूँजीवादी सभ्यता, जिसका नाश आवश्यक है, तभी जन-मुक्ति सम्भव है। पन्तजी मार्क्सवाद के प्रति बौद्धिक ढंग से आकर्षित नहीं हुए, वरन् संवेदनात्मक मार्ग से चलकर. अर्थात् भावानुभूति द्वारा, आकर्षित हुए। भौतिक जीवन का पक्ष मार्क्सवाद द्वारा, और अन्तर्जीवन का पक्ष उच्च नैतिक-आध्यात्मिक गुणों द्वारा, अध्यात्मवाद द्वारा, निष्कण्टक और समृद्ध होगा, ऐसा उनका विश्वास रहा आया। पन्तजी का आध्यात्मवाद, वस्तुतः, आध्यात्मिक-गुणसम्पन्नता-वाद है, उच्च मानवीय गुणसम्पन्नतावाद है। वह बौद्धिक दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का कोई शिकंजा नहीं है। उनका मार्क्सवाद जनगण के प्रति उनकी सहज सहानुभूति ही का वास्तववादी विस्तार है।

यदि मुझे क्षमा किया जाये, तो मैं यह कहूँगा कि पन्तजी, वस्तुतः, बुद्धि प्राण नहीं हैं, बौद्धिक नहीं हैं। इससे उन्हें लाभ भी हुआ है, हानि भी। इससे एक ओर यह हानि हुई है कि उनकी दृष्टि विश्लेषणप्रधान होकर भावभूमि में विचरण नहीं करती। भावों का जितना सूक्ष्म विश्लेषण प्रसाद में पाया जाता है, पन्त में नहीं। प्रसादजी की वह क्षमता निःसन्देह महत्वपूर्ण है। किन्तु दूसरी ओर, पन्तजी को यह लाभ भी हुआ कि वे वास्तव के आग्रह को तर्कों द्वारा झुठला नहीं सकते! सत्य और अहिंसा के नाम पर फूलने वाले वर्गीय स्वार्थों को वे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकते। प्रसादजी **कामायनी** में मनु के अन्याय और अत्याचार से पीड़ित जनता के मुँह से ऐसे शब्द कहलवाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जनता की माँगों के सम्बन्ध में प्रसादजी के क्या ख़्याल थे। प्रसादजी की सहानुभूति

शोषितों के पक्ष में बहुत कम थी। यद्यपि उन्हें शोषण को बुरा तो कहना ही पड़ता था, फिर भी शोषितों के पक्ष में उनकी सहानुभूति इतनी गहरी न थी कि वे उनके जीवन का भी चित्रण करें, अथवा भावुक होकर उनकी दीन-दरिद्रावस्था पर प्रकाश डालें। इसके स्थान पर, वे तो यह कहते थे :

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।

प्रसादजी दार्शनिक थे। उनकी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था ही ऐसी थी जो वर्तमान सभ्यता-स्थिति की विषमताएँ कम करने का उपाय तो बताती थी, किन्तु आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन का ध्येय नहीं रख सकती थी। यह ठीक है कि प्रसादजी की मृत्यु बहुत पहले हुई। किन्तु यह भी सही है कि उनके जमाने में रूसी क्रान्ति हो चुकी थी, भारतीय साहित्यिक क्षेत्रों में टॉलस्टॉय का प्रभाव था, प्रेमचन्द मौजूद थे, राष्ट्रीय क्षेत्र में वामपन्थी समाजवादी विचार-धारा चल चुकी थी, कामगारों के संघर्ष वृहत्तर हो उठे थे, रवीन्द्र की कविताओं में कृषक-श्रमिकों के प्रति सहानुभूति व्यक्त हो चुकी थी। किन्तु मेरा अपना ख्याल है कि प्रसादजी की दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था इतनी दृढ़ और कठोर हो गयी थी कि वास्तव की ताज़ी संवेदनाओं, ताज़े भावों और प्रतिक्रियाओं में वह हस्तक्षेप करती थी। प्रसादजी की दृष्टि में, बाह्य वास्तव के तकाज़े से अपने भीतरी ज्ञान का तक़ाज़ा अधिक महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक था।

इसके विपरीत, पन्तजी के भीतर की तत्व-व्यवस्था, बाह्य संवेदनाओं का सम्पादन-संशोधन न कर उन्हें उनके वास्तवितक रूप में सारी ताज़गी के साथ ग्रहण करती थी। वह उनके हृदय में विस्तार भरती चलती [थी]। हृदय के विस्तार का दूसरा नाम सहानुभूति है। पन्तजी में अद्‌भुत सहानुभूति-क्षमता है। जनगण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक नहीं है, छिछली नहीं है, सतही नहीं है। वह बहुत गहरी है। उसी की यह शक्ति थी कि उसने पन्तजी को नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। पन्तजी की अपनी वर्ग-स्थिति तथा जीवन-यापन-पद्धति के फलस्वरूप, उनके और जनता के बीच में जो दूरी है वह उस सहानुभूति शैली में भी व्यक्त होती है। किन्तु उनकी सहानुभूति में निर्णय-क्षमता है, विवेक है, हार्दिक गुण है। उसी सहानुभूति के फलस्वरूप पन्तजी को वह दृष्टि मिली जिसे मैं ऐतिहासिक अनुभूति कहता हूँ। प्रसाद में, ऐतिहासिक नाटकों की रचना के बावजूद वह ऐतिहासिक अनुभूति नहीं थी। ऐतिहासिक अनुभूति बदलते हुए जगत् के विकास-क्रम तथा उसकी दिशा की अनुभूति है, जनता के पक्ष-समर्थन की अनुभूति है। पुस्तकों के अध्ययन के कारण पन्तजी में यह ऐतिहासिक अनुभूति उत्पन्न नहीं हुई; वरन् इस ऐतिहासिक

अनुभूति के कारण उन्होंने मार्क्सवाद के निकट रहना पसन्द किया। उनकी ऐतिहासिक अनुभूति उनकी सहानुभूति ही का विस्तार है, जो विश्व-घटनाओं के आकलन और मनन के फलस्वरूप और भी विशद हुई।

यह सहानुभूति तथा उसी का ही विशद विस्तार, अर्थात् ऐतिहासिक अनुभूति पन्तजी को जीवन के वैविध्यपूर्ण क्षेत्रों की ओर ले गयी। व्यापक जगत्-जीवन के विभिन्न प्रश्नों पर उन्हें मनन करना पड़ा। ऐसे प्रश्नों की ओर भी उनका ध्यान गया जो उनके अपने समाज-क्षेत्र में प्रचलित विचारधाराओं का अंग बन गये थे।

ग्राम्या में उनकी बहुत-सी कविताएँ वैचारिक थीं। परवर्ती विकास-दशा में ऐसी अनेक कविताएँ लिखी गयीं, जिन्हें हम वैचारिक कह सकते हैं। इनमें से कुछ में इस बात के दर्शन मिलते हैं कि पन्तजी अनेक दृष्टियों में से एक दृष्टि अपनाने के सिलसिले में, उन दृष्टियों में, वैचारिक धरातल पर, उलझ रहे हैं। रूपकों और अन्य कल्पना-चित्रों के प्रयोग के बावजूद, हमें यह कहना ही पड़ेगा कि काव्य में थीसिस लिखना अथवा थीसिस रूप में काव्य लिखना पन्तजी के बस की बात नहीं है। यह ठीक है कि रेडियो-रूपक के रूप में पात्रों द्वारा विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु प्रश्न है विचारों की काव्य-प्रभावोत्पादकता का ही। सच बात तो यह है कि पन्तजी में कवि स्वभावोचित चिन्तन है, जो वस्तुत: उस चिन्तन से पृथक् होता है, जिसे हम विश्लेषणमूलक बौद्धिक चिन्तन कहते हैं। पन्तजी के कवि-स्वभावोचित चिन्तन को हम भाव-दृष्टि ही कह सकते हैं।

जहाँ जिस क्षेत्र में, जीवनज्ञान मे युक्त भावना का प्रकाशपूर्ण आधार है, वहाँ विचारात्मकता प्रभावोत्पादक हो उठती है। उस परिस्थिति में, कि जब भावना का प्रत्यक्ष रसार्द्र आधार नहीं है, किन्तु सुस्पष्ट जीवन-तथ्यों के ठोस सन्दर्भ प्रधान और मूर्तिमान कर दिये गये हैं, वहाँ उन प्रभावोत्पादक सन्दर्भों से निष्कर्षित विचारात्मकता भी प्रभावोत्पादक हो जाती है। किन्तु जहाँ जीवन-तथ्यों के ठोस और प्रभावोत्पादक सन्दर्भों की मूर्तिमानता प्रत्यक्ष नहीं है, और जहाँ केवल वैचारिक ऊहापोह हो रहा है, वहाँ वैचारिकता काव्यरहित हो जायेगी। काव्य रूप में थीसिस लिखना बहुत बड़ी कला है। सन्त ज्ञानेश्वर की **ज्ञानेश्वरी** ऐसा ही एक थीसिस है, विस्तृत निबन्ध है। उसमें बौद्धिक दार्शनिक भाव विश्लेषित होकर बारीक-से-बारीक तत्त्वों में विघटित हो जाते हैं, और उन सूक्ष्म तत्त्वों को कल्पना के माध्यम से विशाल से विशालतर बनाया जाता है। आध्यात्मिक भावना से संयुक्त होकर वे रसोत्सर्जक हो उठते हैं। किन्तु इससे उनकी स्पष्टता और मूर्तिमानता फीकी नहीं पड़ती। बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति भावनानुभूति से एकरस और एकरूप होकर जहाँ काम करती है,

वहाँ भावना की अथाह गम्भीरता के साथ-ही-साथ, विश्लेषित भाव, तथा **संश्लेषित भाव-दृश्य** सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, पन्तजी में विचारात्मकता **अधिक है**, विश्लेषण-प्रधान दृष्टि (जिसे मैं बौद्धिकता कहता हूँ) बहुत कम। विचारात्मक भाव-दृश्यों के चित्रण के लिए, गहन गम्भीर जीवनानुभूति की सक्रिय सूक्ष्म आकलन-शक्ति और विश्लेषण-प्रधान बौद्धिकता चाहिए। विचार जब तक स्वानुभूति के अंगार में कुन्दनवत् न चमकें, तब तक उनमें वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसके बिना वे न केवल श्रीहीन हो जाते हैं वरन् पंगु भी।

कविता विचारात्मक भी हुआ करती है, पन्तजी ने स्वयं इसके उत्कृष्ट प्रभावोत्पादक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उस विचारात्मकता में जीवन-मर्म झलक उठते हैं। विचार **नहीं**, वरन वे जीवन-मर्म कवि की भाव-दृष्टि के रूप में अवतरित होते हैं। **चिदम्बरा** में से ऐसे दसियों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें काव्य-प्रभावशाली विचारात्मकता है। उदाहरणतः, 'मृत्युंजय' नामक कविता लीजिए। 'ईश्वर को मरने दो, हे, वह फिर जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो।' इस कविता में जो विचारात्मकता है वह, वस्तुतः, एक भाव-दृष्टि की विचारात्मकता है। विचार स्वयं एक अनुभूति बनकर एक समष्टिचित्र प्रस्तुत कर रहा है। उस कविता में एक वैचारिक कल्पना है, जिसके भीतर एक भाव-दृष्टि झलकती है। सच तो यह है कि जहाँ-जहाँ भी पन्तजी ने सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार किया है, वहाँ-वहाँ उनकी वैचारिकता भी काव्य-गुण-सम्पन्न हो उठी है। पन्तजी की सहानुभूति का जिस क्षेत्र में सहज विस्तार है, उस क्षेत्र में पाये जानेवाले विचारों को पन्तजी चमकीले मूल्यवान मणियों की भाँति एकत्र कर लेते हैं। वे विचार उनके लिए कान्तिमान रंग-बिरंगे मनोहर मणि हैं, जिनमें से जीवन की नव-नवोन्मेषमयी किरणें विकीरित हो रही हैं। जो काव्य जहाँ कहीं गद्यात्मक प्रतीत होता है, वहाँ-वहाँ प्रकट होनेवाले विचारों में जीवन का ऐसा प्रचण्ड सन्दर्भ है कि वह सन्दर्भ ही दृश्यमान होकर उन विचारों में एक चमक भर देता है। किन्तु इस विचारात्मकता के बावजूद, पन्तजी में वह गहन बौद्धिक विश्लेषण प्रधान प्रवृत्ति नहीं है, जो अनुभूति के साथ एकप्राण एकरस होकर काव्य-दृश्यों के चमत्कार उपस्थित करती हो। संक्षेप में, पन्तजी की विचारात्मकता खतरे से खाली नहीं है।

यह कहना ही पड़ेगा कि बहुत-सी, विशेषकर प्रदीर्घ, कविताओं में जो विचारात्मकता है, उसने काव्य-सौन्दर्य पर आघात किया है। ख़ास तौर से उन कविताओं के साथ यह हुआ है, जिनमें पन्तजी किसी-न-किसी तरह ऊहापोह करने बैठ जाते हैं। पिछली बार, पन्तजी ने अपना काव्य-मार्ग बदला और नया टेकनीक अपनाया। जहाँ-जहाँ उनकी सहानुभूति

उन्हें ले गयी, उनकी गद्यात्मकता चमक उठी, छन्द नाचने लगे, भाव गूजँ उठे, और विचार जगमगाने लगे। उनमें नयी ताज़गी आ गयी। जहाँ उन्होंने पुरानी गूँजे दुहराना शुरू किया, वहाँ अंगार बुझने लगे, शिल्प में झोल पड़ गया, भाषा सुन्दर और जालीदार तो हुई, किन्तु बासी भी हो गयी। उपमाएँ, रूपक और प्रतीक-विधान, चमकीले मणियों कीं भाँति होकर रह गये। काव्य की घड़ी टल गयी, मुहूर्त निकल गया, किन्तु काव्य चलता रहा, यूँही, यूँही।

साहित्य-विशेषज्ञों की प्रतिष्ठित भद्र श्रेणी से पृथक, साहित्य-मर्मज्ञ पाठकों का दल भी हुआ करता है, जो काव्य का रस प्राप्त करने के लिए साहित्य-विशेषज्ञों की राय पूछने नहीं जाता, न कवि महोदय ही से राय पूछता है। ऐसा साहित्य-मर्मज्ञ वर्ग हिन्दी में बढ़ता जा रहा है। यह वर्ग साहित्य के भीतर से न केवल रस खींचना चाहता है, वरन् विवेक दीप्ति भी। मेरा ऐसा ख्याल है कि पन्तजी का काव्य जीवन-विवेक प्रदीप्त करता है। उससे हम सीख ले सकते हैं, कुछ प्राप्त कर सकते हैं-रस के अतिरिक्त, रस से कुछ अधिक ठोस और स्पष्ट। संक्षेप में, पन्तजी हमें दृष्टि प्रदान करते हैं। उनके काव्य में संयत भाव, प्रबुद्ध प्रेरणा और ज्वलन्त ऐतिहासिक अनुभूति है। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी जीवन-समस्याएँ उन्होंने उठायी हैं जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पन्तजी का काव्य हमारे जीवन को समृद्ध बनाता है। क्यों बनाता है?

इसलिए कि उसमें न केवल ऐतिहासिक जागरूकता है, वरन् सामान्य मानव तक उठने की ऐसी क्षमता है कि जिस क्षमता में मानवी सुगन्ध है-व्यक्ति की नहीं, मनुष्य की। यह मनुष्य व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति का सामान्यीकरण भी नहीं है, सम्नष्टि भी नहीं है। यह मनुष्य है साक्षात् जनगण, जो इस पृथ्वी पर सब क्षेत्रों में साहस और पराक्रम कर रहे हैं। जहाँ पन्तजी इस जनगण से एकीभूत होकर भावना-स्तर पर बात करने लगते हैं, तब जिस प्रकृति-सौन्दर्य का वे चित्रण करते हैं उस सौन्दर्य में भी जन-जन के मुख झलकने लगते हैं। पन्तजी मानवतावादी नहीं। मानवतावाद एक अरूपवाद है, एक ऐब्सट्रैक्शन है। पन्तजी मनुष्यवादी हैं, जनवादी हैं। उनका काव्य इस नयी भावना से उद्दीप्त हो उठा है।

ध्यान रखिए कि छायावाद के कवि-चतुष्ट्य में से, प्रसादजी समाज और सभ्यता की व्याख्या करते हुए अरूप आध्यात्मिक सामरस्यवाद की ओर निकल गये, संसारातीत रहस्यवाद की आनन्दमयी भूमि में विचरण करने लगे। महादेवीजी समाज और सभ्यता के प्रश्नों के चक्कर में ही नहीं पड़ीं, काव्य द्वारा। केवल निरालाजी संघर्षानुभवों द्वारा आज की जनस्थिति की ओर उन्मुख हुए। एक पन्तजी ही हैं (निरालाजी के अतिरिक्त) जो अपनी विशुद्ध ऐतिहासिक अनुभूति के फलस्वरूप जनता के साथ हैं। आज जबकि नयी प्रयोगवादी कविता के कुछ क्षेत्रों में 'जनवाद' शब्द काव्याभिरुचि के बाहर समझा जाता है, पन्तजी

दृढ़ता, धैर्य और साहस के साथ नये मार्ग पर अपने क़दम बढ़ा रहे हैं। मेरा अपना यह खयाल है कि पन्तजी को बहुत कुछ कहना और लिखना बाक़ी है। उनकी विकास-धारा अभी रुकी नहीं है। वह सतत प्रगतिमान है। ऐसी स्थिति में, मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि वे अनवरत रूप से और-और लिखते चले जायें। क्योंकि यह सही है कि युग की पुकार उनके लिए अपनी आत्मा की ही पुकार है। वे हम प्रयोगवादियों से अधिक दूर तक देखते हैं। वे भविष्य के स्वप्नद्रष्टा हैं, इसलिए कि, वस्तुतः, पन्तजी तरुण हैं, अपनी आयु के बावजूद। उसका तारुण्य, निःसन्देह, उन्हें नये मार्गों पर ले जायेगा, और आज वे जहाँ, वस्तुतः, द्वैत या द्विपक्षत्व देखते हैं, जहाँ वे द्विधा-पथ देखते हैं, वहाँ वे कल चलकर केवल एक पथ का ही अनुसरण करेंगे। और वह पथ मात्र जन-मार्ग होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। आज का युग चमत्कारपूर्ण युग है, वह भव्य है, प्रेरणाप्रद भी। उसकी शक्ति और चमत्कार की विद्युत्-धाराओं से ऐतिहासिक अनुभूति वाले पन्त-जैसे कवि बच ही नहीं सकते, यह सन्देह के परे है।

(कृति, जुलाई 1960, में प्रकाशित। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित)

7. नग्न कुमारिता वाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

'भारतीय नारीत्व (वुमेनहुड) की जैविक, सांस्कृतिक और मनोकामुक भूमिका के लिए किसी ऐसे आर्केटाइपल बिम्ब की आविर्भावना कैसी हो ताकि हम आज के संदर्भ में कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा की 'नारी-रहस्यमयता', (फीमेल मिस्टीक) को भी किसी तरह से पहचान सकें?[1]

(I)

एक समांतर मिथक ऋषि अत्रि की पत्नी, अपार सुन्दरी और गुणशीला अनसूया का है जिसका संरचनात्मक विश्लेषण शायद हमारी कुछ बातों को खोल दे।

एक ईर्ष्याविहीन (अनसूया) और निश्छल (टैबू तथा ग्रंथि से विमुक्त) नारी-मूर्ति के प्रादर्श में ही नैतिकता और कामयता का सह-अस्तित्व है।

आर्ष मिथक के मुताबिक शिवकान्ता सती, विष्णुकांता लक्ष्मी और ब्रह्मा-पत्नी सरस्वती ईर्ष्या के कारण अपने देवपतियों से अनसूया के सतीत्व (उनसे विभिन्न प्रकार वाले नारी-शील) को भंग करने की प्रार्थना करती है। इसी के दूसरे आद्य मिथपाठान्तर के मुताबिक स्वयं पद्मयोनि ब्रह्मा (सृष्टि), पद्मनाभ विष्णु (स्थिति) और पद्मपाणि शिव (संहार) अनसूया की नारीशक्ति (सुरति) को परखने की इच्छा करते हैं। यहां ईर्ष्या से एक ज्यादा जटिल एवं विराट् फलक है अर्थात् इसमें सृष्टि-स्थिति-संहार के कारणों की खोज है। यहां एक प्रकार का क्षीण 'दोहरा विरोध' (बाइनरी अपोजीशन) परिलक्षित है। अत: दोनों ही बातें पूरी होती हैं अर्थात् देवकान्ताएं सतीत्व को भंग करा देती हैं तथा फलस्वरूप देवता भी संसृति-चक्र को समझ लेते हैं।

---

1. पार्वती (तपस्या), सीता (त्याग) और राधा (अनुराग) का अन्तर्लयन दिव्य आदर्श को सामने रख सकता है। सरस्वती, सती और लक्ष्मी की देवकान्ता-त्रयी भी अपूर्ण आध्यात्मिक चित्र बनाती है। मनोमिथकीय प्रादर्श (मॉडल) का दोहरा कर्म 'काम' की दो पत्नियाँ पूरा करती हैं-'रति' (शरीर से संबंधित अनुराग का भाव) तथा 'प्रीति' (हृदय संबंधित प्रेम का भाव)। यहाँ केवल यौनशील का हाशिया ही खुलता है। अनुसूया मिथक के बजाय अगर कोई दूसरी मिथकीय व्याख्या हो सके तो हमें कतई एतराज नहीं है; और इससे न ही हमारी अनुवर्ती स्थापनाएँ खारिज हो जायेंगीं।

नारी-शक्ति के रहस्य को समझने के लिए पहले-पहल वे निर्मल और निर्बंध नारी-शरीर को देखना-समझना तय करते हैं अर्थात् अनसूया को देखने के लिए वे तब पहुंचे जब वह भी आंगन (आन्तरिक (गृह) काया) में नंगी नहा रही थी। अब वे मनुष्य के मन की इच्छा और कर्मवाले 'दोहरे विरोध' के रूप में अर्थात् मुनिवेश (मनन रूप) में पहुंचते हैं।

एक पाठान्तर के अनुसार उन्होंने 'शिशुवत्' कौतूहल तथा कामुकता के कारण 'सूराखों' से देखा। उन्होंने भिक्षा (उर्वरक अन्न के दाने, विराज) लेने की शर्त यही रखी कि अनसूया नंगी ही दान देगी। संसृति-रहस्य का पहला द्वन्द्वन्याय यह खुलता है कि अनसूया द्वारा प्रतीकात्मक भिक्षा-दान की यथार्थता तो असल में उनसे (उसकी) भिक्षा-ग्रहण करने में है।

अत: अनसूया ने नारी-शक्ति के तेज से उन तीनों को 'शिशु' बना दिया ताकि वह (पाप-मुक्त और दोषहीन होकर) इन शिशुओं के सामने 'नंगी' होकर आ सके। छद्मवेशी देवताओं का कायाकल्प भोले शिशुओं में हो गया अर्थात् सृष्टि स्थिति और संहार के मूल आविर्भाव प्रकृत नारी शक्ति में, और 'पवित्र' तथा 'स्वच्छ' नारी-शरीर में ही, बारम्बार अभिव्यक्त होते हैं। शील-भंग करने वाले छलिया पुरूषरूपों की बाल्यकालीन मनोकामुकता भी खुल गयी: एक ईर्ष्याहीन शैशव के भोलेपन के कारण वे तीनों नन्हें बालकों में कायाकल्पित हो गये। नंगी अनसूया ने उन्हें उभरे 'स्तनों से दूध पिलाया' (भिक्षा?) और बालक गोद (गर्भ) में सुरक्षित (छिपकर) खेलने लगे। तो, यह रति की 'पवित्रता' और शरीर की 'स्वच्छता' के संदर्भों से जुड़ी हुई व्याख्या है।

एक समान्तर कथा-संस्करण के अनुसार भिक्षार्थी देवता गण स्वयं शिशु न बनकर अपने ही अंशों (वीर्य बीजों) का भिक्षा-दान करके अनसूया-गर्भ से चन्द्रमा (ब्रह्मा), दत्तात्रेय (विष्णु) तथा दुर्वासा (शिव) जैसे शिशुओं को जन्म दिलाते हैं। सृष्टि-स्थिति-संहार चक्र का रहस्योद्गम यही है अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-शिव के विस्तारण में **सृष्टि** चन्द्रमा, ज्ञान और सत्वगुणपरक है; **स्थिति** सूर्य, इच्छा और रजोगुणपरक है; तथा **संहार** अग्नि, क्रिया और तमोगुणपरक है। ये सब गर्भस्थ होकर नाना आरम्भिक एवं द्वन्द्वहीन रूपों से उन्मीलित होते हैं। ये नारी-शक्ति द्वारा पुन:-पुन: नये होते हैं और नारी-शरीर द्वारा नये-नये प्रतीकात्मक रूपों में जन्म लेते हैं। ये शिशुत्रय मातृरेखाक पक्ष में अपनी अस्मिता प्राप्त करते हैं। **फलत:** यहां मातृ नारी परवर्ती पत्नी की पवित्रतावाले संभोग-निषेध से विमुक्त है। यहां यौन पवित्रता और शारीरिक स्वच्छता का सवाल भी नहीं उठता क्योंकि **गंगा** (राजधर्म से स्वच्छ रखने के लिए) अनसूया के 'घर' के पार्श्व में ही प्रवाहित है।

यही अनसूया की नारी-शक्ति (सतीत्व) और नारी-शरीर (सृजन) का अर्थात नारीत्व (फेमिनीनिटी) का रहस्य है। 'देव' प्रभु ही युवा प्रिय है। किशोर 'प्रिय' (पुरूष) ही शिशुवत है। शिशुवत प्रिय ही 'पुत्र' बन जाता है। यही रति और प्रीति जैसी युवाकान्ताओं का भी चिरन्तर रहस्य है। यही सेक्स का सम्पूर्ण अनुभव है। अत्रि-पत्नी होकर भी अनसूया में तीनों किशोरों के वीर्यांशों से सन्तान प्राप्ति करने पर भी लौकिक सतीत्व-भंग का संस्कारी बोध नहीं है; शिशुमन किशोरों के सम्मुख नग्न हो जाने में अलौकिक पाप की भावना नही है; और न ही पति के साथ विश्वासघात की अथवा तज्जन्य पाप या अपराध की कोई-कुण्ठा है। यह अनसूया आदिम और अनन्तर और अकुंठ भारतीय नारीत्व का आर्केटाइप हो सकती है जो अभिनव सतीत्व (पाप-भावना से तटस्थ) और महा सृजन (संस्कार से विमुक्त) का दोहरा संकल्प है। ऐसा 'नारीत्व' प्रेम (पति) और यौन (प्रेमी) को नैतिकता और नैसर्गिकता को, चेतन (अहं-आदर्श) और अवचेतन (रति-प्रतीक) को साफ़ ढंग से विभाजित कर देता है; तथापित उनका सामंजस्य भी करता है।

तो हमारी समकालीन शुरुआत देवप्रभु, किशोरप्रिय तथा प्रियशिशु (शैशव) के सामंजस्य से ही हो सकती है। यह एक संरचनात्मक 'पुलिन्दा' (स्ट्रक्चर्लिस्टिक बण्डल) भी है क्योंकि इसमें प्रभु/प्रिय, देव/मानव, किशोर/पुरूष, प्रिय/पुत्र, तथा शिशु/पुत्र के विरोधाभास (पैराडाक्सेज़) भी संकलित हैं और उनका अस्तित्व-वादी समाहार भी हुआ है।

अनसूया-मिथक के 'मिथक सारत्व' (माइथीम) में एक ओर देवता से लेकर मनुष्य तक की, तथा दूसरी ओर प्रभु, प्रिय, शिशु, पुत्र, किशोर तथा पुरूष तक की एकान्विति हो गयी है। इसमें सनातन नारी-शरीर और नारी-चिति (फीमेल साइके) की भी द्वन्द्वात्मक एकता कायम हुई है। एक-पतिव्रत (पत्नी) तथा बहु-प्रेमीव्रत (प्रिया) का यौन ध्रुवान्त अपनी आभ्यान्तर गोपनीयताओं को भी निरावृत कर डालता है।

एक बड़े लम्बे कालान्तर में "अमर भारतीय नारी" के छद्य में महादेवी ने भी सामन्तीय मूल्यों तथा संस्कारों का आदर्शीकरण किया। ऐतिहासिक दृष्टि से सामन्तीय सन्दर्भों में (काव्यशास्त्रीय तथा कामशास्त्रीय नायिका-भेदों को छोड़कर) 'नारी' के चिंतन, चेतना तथा चिति में बसे प्रभु और पति का शक्तिशाली आतंक व्याप्त हो गया; प्रिय और शिशु का सहज आह्लाद लुप्तप्राय होता गया। नारी-यौनता में शरीर अस्वच्छ तथा सुरती अपवित्र बन गई। 'कामातुरता-विहीन (अनइरोटिक) नारीत्व ही आदर्श हो गया। बहुपत्नी प्रथा, बाल-विवाह, बाल वैधव्य और वैधव्य जैसी संस्थाओं के कारण निर्मदता या निर्मादकता (फ्रिजिडिटी) को मर्यादा समझा गया। इस तरह आत्मसमर्पिता, पति-प्रभु सेविका,

आज्ञाकारिणी-अनुगामिनी (दासी), चरण-पुजारिणी, स्वामी-बन्दिनी जैसे सामन्तीय संस्कृति-चक्र ने उसे मात्र एक ऐसी "कर्त्तव्यपरायण नारी" बना कर अवनत कर दिया जिसके आत्म-विकास और सेक्स-परितृप्ति की लगभग कोई सम्भावना बाकी नही बची। अधिकांश मनोबन्दिनी नारियों के समूचे मनोविज्ञान में आज भी यही सामन्तीय संस्कार "भारतीय नारी की शाश्वत आत्मा" की मिथ्या चेतना बनकर पोर-पोर में रिसा हुआ है। वैवाहिक सम्बन्धों तक में नारी द्वारा यौन-अनुभव की स्वीकृति या प्रदर्शन 'अश्लील' माना गया। नारीत्व और पुरूषत्व के बीच के दाम्पत्येतर रिश्तों को अश्लीलता, अनैतिकता और अधार्मिकता की त्रयी में जकड़ दिया गया। इस तरह भारतीय नारी का आत्मपीड़न और आत्म-रहस्य शताब्दियों के संचित दमन तथा संत्रास के नाना उपरूपों में आदर्शीकृत हुआ: सेवा, समर्पण, दया, करूणा, विरह, वेदना, पीड़ा, साधना, सतीत्व, आदि में। इनका निर्धारण सांस्कृतिक और धार्मिक परिपाटियां करती चली आ रही हैं। उसके ऐसे समाजशास्त्र की वजह से उसका मनोविज्ञान तक वैसा बन गया। भारतीय नारीत्व की यह एक महत्तम त्रासदी है। इसे आध्यात्मिकता और रहस्यवाद के घने अंधेरे वाले अज्ञान पर्दो से ढांक दिया गया। अतएव प्रेमदीवानी मीरां और मस्ताने सूफियों (की प्रेम की पीर) के बाद/इलावा भारतीय नारी के 'मनोकामुक' (साइको-सेक्चुअल) विकास की समझ को तकरीबन नहीं गहराया गया।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने व्यक्तिवादी तथा रोमांटिक दृष्टिकोण से अपनी अकेली नारी-त्रासदी और आधुनिक अभिशप्त नियति को भोगा। अपनी नारी-शक्ति तथा नारी-शरीर के द्वारा उन्होंने अपनी नारी के इतिहास को तथा नारी-सम्बन्धी सनातन (धर्मी) संस्कारों को **संवेगों** और **सौंदर्य** की धुरियों में आदर्शीकृत और अमूर्तीकृत किया। जब-जब वे तर्कशीलता और सामाजिक यथार्थता की चुनौती स्वीकार करके गद्यपन्थ अपनाती हैं तब-तब उनमें नारी-जातीय **विद्रोह** प्रकट होता है – अर्थात् बौद्धिक अक्ष में वे प्रौढ़ और आत्मोत्तीर्ण होती हैं, किन्तु जब वे अन्तर्मुखता और आत्मनिर्वासन की दशा में पद्यमार्ग में तन्मय होती हैं तब उनमें नारीजातीय **रहस्य** प्रकट होता है। यह अन्दाज लगाना कोई गलत नहीं होगा कि बौद्धिक अक्ष पर वे विकासमान और परिष्कृत हुई हैं किन्तु संवेगात्मक अक्ष पर वे बहुत दूर/देर तक शिशु जैसी, किशोरी जैसी, सुहागिन कुमारी जैसी उलझी साधिका जैसी दुखी छायामूर्ति बनी रहीं। महादेवी की चेतनता का यह अन्तर्विरोध है। कवि-महादेवी भारतीय नारीजातीयता (फेमिनीनिटी) के रूढ़ एवं सुविदित पैटर्नों का इस्तेमाल करने पर विवश हैं। उनके काव्य में 'पति-बिम्ब' लगभग नहीं हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण दोषों को स्वीकार करके आत्म वेदना अंगीकार की है। उन्होंने पति-परमेश्वर अथवा विवाह-संस्था

की आधारभूत आलोचना भी नहीं की। विवाह के बाद की भीति (फोबिया) तथा 'विच्छेद' का प्रचंड मनोशारीरिक प्रभाव उन्हें आत्म-निर्भर तथा आत्म-गोपित की विपरीत द्रशाओं से अनुकूलित कर गया।

विवाह-पश्चात की भीति को प्रलय, झंझा, मेघ, अमा, विध्वंस आदि के घोर तिमिर सूचक भयानक बिम्बों द्वारा उभारकर वे 'करूणेश' और 'नाविक', अतिथि और देव आदि के माध्यम से 'पति' के विचार को ही 'देव' तथा 'प्रिय' के युगल भाव द्वारा प्रक्षेपित और प्रतिस्थापित करती हैं (नीरजा', 'सांध्यगीत')।

प्रभु और पति के युगल को अपनी चिति की लीला-भूमि से प्रतिस्थापित करके वे एक ऐसे "प्रिय'' (पुरूष) का निर्माण करती हैं जो उनकी मनोज्ञ नारी के आत्मविकास के अभावों एवं बाधाओं की, तथा यौन-विलास की अतृप्तियों एवं उलझनों की दिवास्वप्नमनोरथिक पूर्ति करे। इसके लिए वे "एक'' प्रिय के "वहु'' प्रिय (प्रेमी) मूलक सम्बन्धों की संज्ञाओं को मिटाकर, घुलाकर, छिपा कर, धुलाकर मानो अनजान, अपरिचित, अज्ञात सर्वनामों (तुम/वह/कौन/किस/उस/जो/जिसे आदि) में अमूर्तित और संघनित कर डालती हैं। उनके काव्य में यह भाषिक संरचना मनोभाषिकी के जरिए नारीत्व की रहस्यमयता को उन्मीलित करती है। इससे अभिव्यंजित अस्पष्टता का आश्चर्य एक आलम्बन (प्रिय) को अलौकिक बनाकर कविनारी को आध्यात्मिक रहस्यवाद के शिविर में भी सुरक्षित कर देता है। यदि कलियां और शूल, सीप और मोती, तीर और किरण आदि के अप्रस्तुत उनके लौकिक राग-अनुराग को संकेतित करते हैं तो शलभ और दीपक, क्षितिज और सूर्य, चन्द्र और दर्पण आदि के प्रतीक अथवा उपमान अक्सर धुँधलापन और अर्थभ्रांतियां फैलाते हैं।[1]

सम्पूर्ण कृतित्व में अतीत की 'सुधियों' और 'स्वप्नों' की अपार तथा प्रबल धारावाहिकता उनकी जीवनी तथा वेदनाजन्य अनुभूतियों को बेहद अवास्तविक अगोचर, अग्राह्य बना देती है। यदि इनकी कविताओं में नारी (मैं) के साथ दीपक और कमल, सुधियां और सपने, शूल और आंसू मिलने हैं तो चित्रों में रमणीमूर्तियों का दीपक और कमल, कांटों और हारों से कान्तसंयोग हुआ है।

1.....महादेवी के कुछ गीतों में विश्रृंखल बिम्ब मिलते हैं। .....इस विश्रृंखलता का एक कारण यह है, कि इनके बिम्ब नन्दतिक सूक्ष्मताओं के गोचर प्रत्यक्षीकरण से अधिक उन अतृप्त इच्छाओं का सम्मूर्तन प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें कवयित्री सरेआम प्रकट करना नहीं चाहती, फलस्वरूप अधीक्षक की भूमिका में रहने वाले 'सुपर ईगो' से प्रेरित अपहन्व के कारण इनके बिम्ब अपेक्षित साफगोई खो देते हैं।'' -कुमार विमल, "आधुनिक हिन्दी काव्य'' पृ० 80 अर्चना प्रकाशन, आरा, 1964।

इस तरह श्रीमती महादेवी वर्मा अपनी 'कुमारी नारी' को तो सती की तरह पवित्र और स्वच्छ (ओस तथा आंसू, स्वर्ण और रजत, तारे तथा दीपक) रखने का अभिमंत्र करती हैं तथा अपनी ही 'सुहागभरी प्रिया' को बाणों और किरणों से गुप्तवेधित, स्पर्शों और स्वप्नमिलनों से कंटकित, 'रज' के कण-कण से सनी-भरी और 'मधु' के अणु-अणु से गर्भित, स्नेह से भीगी और राग से भीनी कर डालती हैं। यह उनके विवाहोत्तर अनसूया-मन की पहेली तथा उलझन, अतृप्ति तथा प्यास, चाह तथा आग आदि के द्वित्व/द्वैत हैं। यह 'दिव्य' भी हैं; किन्तु प्रतीकात्मक रूपों के अन्तराल में लुके छिपे 'मानुषी' हैं। इतिहास-पूर्व की उस मिथक में अनसूया ने भी तो "त्रिदेव" के संग कुछ ऐसी ही मन की क्रीडाएं की थीं।

विवाहोत्तर अनुक्रम (1916-23) में कवयित्री की चिति में और भी कुछ गूढ़ घटा है जो "नीहार" (1924-28) तथा "रश्मि" (1918-31) से किंचित् अनुमानित हो सकता है। सन् 1907 में जन्मी और सन् 1916 में नौ वर्ष की उम्र में विवाहिता होने वाली इस बालिका का भारतीय नारी की दशा से जो नंगा साक्षात्कार हुआ वह 'अबला' तथा 'विधवा' शीर्षक किशोरी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ। सन् 1920 में जब पंत की "ग्रन्थि" छपी तभी तेरह साल की कली-जैसी मुग्धावस्था में इस महादेवी नामक किशोरी ने सौ छंदों में एक करूण खंडकाव्य लिखा। सन् 1924 में सत्रह वर्ष की उम्र में जब वह मैट्रिक पास करके एक "कालेज की लड़की" बनीं तो "नीहार" की रचनाएं लिखी जाने लगीं और उन्हें वह इक्कीस साल की उम्र तलक लिखती रहीं। "रश्मि" में एक कमलवत् पूर्णयुवती महादेवी की चौबीस साल की उम्र तक की (1928-31) कविताएं संकलित हैं जब, बीच में वह दो-तीन साल तक वैवाहिक विसंगतियों से जूझती हुई, बी०ए० तक पहुंच चुकी होंगी। इस तरह 'नीहार' से 'रश्मि' चरण तक सत्रह से चौबीस साल तक की इस संघर्षशील युवती कालेज छात्रा की सृजनात्मक और अनिर्वचनीय अनुभवों वाली कविताओं में शुद्ध वेदान्ती रहस्यवाद तथा उच्च दार्शनिक अध्यात्मवाद थोप देना जबर-जुलुम नहीं तो भला क्या है? बस, तब वह लड़की मैट्रिक के बाद, इण्टर और बी.ए. कर रही थी।[1]

---

1. इसी तरह की एक और बिडम्बना को केवल रामकुमार वर्मा ने समझा है-"किन्तु जब हम महादेवी के काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा को सामने रखकर उनके काव्य विकास का विवेचन करते हैं, तब उनकी छिटपुट रूप में प्रकाशित-अप्रकाशित पूर्ववर्ती रचनाओं और परवर्ती सुनियोजित प्रकाशित रचनाओं के विकास क्रम को देखते हुए ऐसा प्रश्न उठता है, कि महादेवी के काव्य विकास और चिन्तन की दिशा में यह आकस्मिक परिवर्तन कहां से उत्पन्न हो गया और क्यों? महादेवी के काव्य-विकास और चिन्तन की दिशा में वह आकस्मिक परिवर्तन कहाँ से उत्पन्न हो क्या और क्यों? ..... महादेवी जो कि कविताओं की कोई सतह नहीं है एक तरह से उन्हें भुला दिया गया है। यदि उनका संग्रह कहीं होता है इस महान अन्तर के प्रारम्भिक सूत्र उनमें खोजे जा सकते थे। यह 'छायावादी अन्तर' उनमें सहसा किन मार्गों से आविर्भूत हुआ, यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है।"

अतएव यह ज्यादा न्यायसंगत लगता है कि उनके नारी जीवन की मनोकामुक, मनोसामाजिक तथा समाजसांस्कृतिक समस्याएं ही "नारीत्व की रहस्यमयता'' बनीं जिन्हें उनकी कवयित्री ने प्रतीकों और अप्रस्तुतों द्वारा अस्पष्टत:-अटपटी नयी संध्या भाषा में --अभिव्यंजित किया। नारी-रहस्यमयता तथा सामाजिक यथार्थता की विभ्रांति को प्रकट करने में गोपनीय अस्पष्टता के संयोग से ही "अलौकिकता'' की छायाएं तथा धुँधलके और अर्थभ्रांतियां झिलमिल होती गयीं। 'नीहार' सन् 1930 में छपी। तब तक "पल्लव'' (1927), "परिमल'' (1930) और "आंसू'' (1930) निकल चुके थे। तब महादेवी तेईस वर्ष की एक कालेज छात्रा थीं, पंत तीस वर्ष के थे, निराला की उम्र बत्तीसे पर चढ़ रही थी तथा प्रसाद इकतालीसवें साल में चल रहे थे। तो फिर "नीरजा'' से पहले और बाद के 'अंतर' में कौन सी मनोवैज्ञानिक समस्याएं हो सकती हैं? स्वयं कविदेवी तो मौन हैं।

इस चरण में उनके काव्य-संसार में देव/प्रिय, नाविक/अतिथि, चितेरे/गायक हैं; मां और अलि/सजनि भी हैं; बावली और भोली युवती/कवयित्री भी है; कलीमन तथा कमलहृदय भी है; तथा जलते छोटे दीपक तथा मुरझाते सुमन भी हैं। इस जमाने की एक दुर्लभ अति-शिक्षित उत्तरप्रदेशी युवती के रूप में वह अपने आत्म संघर्ष और आत्म-सार्थकता के 'पथ' खोज रही हैं। बचपन में घर के धार्मिक वातावरण के कारण मां वाले भक्ति के पावन तथा पुनीत संस्कार पडे। किशोरावस्था और युवावस्था तक पालन-पोषण एक सम्पन्न तथा सुसंस्कृत परिवार में हुआ। किशोरावस्था तक वे आधुनिक तथा पुरूषजातीय (मैसकुलिन) वेशभूषा भी धारण करती रहीं। इस तरह उनमें नारीजातीय हीनता की सर्वसामान्य ग्रन्थि वैसी नहीं पड़ी। वे बुद्धिजीवी पिता की दुलारी पुत्र जैसी सयानी तथा आत्मसम्मानी बेटी रही होंगी। इससे उनका नैतिक मन (सुपर ईगो) बेहद सजग हो गया। पिता और पितामह ने बालिकावस्था में ही उनका विवाह करके उनमें दमित यौन समस्याओं की आंधी और चिनगारी सदा के लिए रख दी। लम्बी यातना तथा वेदना की इस दशा में उनका 'ऐतिहासिक अतीत' सीधा और स्पष्ट नहीं रहा, बल्कि स्मृतियों और स्वप्नों में अस्पष्ट हो गया। अत: वे अपने सामाजिक तथा यौनपरक भविष्य (पंथ) को नहीं पहचान सकीं। न वे 'प्रिय' को पहचानीं और न ही 'पन्थ' को ही पा सकीं। सुसंस्कृत पिता और परिवार ने उनके एक "बौद्धिक नारी'' तथा "पवित्र युवती'' के रूप में विकास को प्रोत्साहित किया। अत: महादेवी में पच्चीस वर्ष के बाद से, अर्थात् 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' के चरण में, अर्थात उन्तीस साल की उम्र तक आते-आते शीतल चुम्बन, हिमअधर आदि के संकेतक मिलने लगते हैं जो निर्मादकता (फ्रिजिडिटी) के स्पष्ट इशारे कहे जा सकते हैं।

कालेज की किशोरियाँ और युवतियां जब किसी संकट पर प्रतिक्रिया करती हैं तो बहुधा उनमें शमन और दमन और निराश्रित की प्रवृत्तियां उभरती हैं। वे अरक्षित जीवन से वापसी के तौर पर शरण के लिए शादी करा लेती हैं (दि० कार्ल बिन्जर का लेख: 'इमोशनल डिसटर्बेंसेज एमंग कालेज वुमन', "इमोशनल प्राब्लेम्स आफ दि स्टुडेन्टस", सं० ग्राहम बैलाइन, न्यूयार्क, डबलडे, 1961)। अतिशिक्षित नारी और बुद्धिजीवी युवती के स्वरूप में महादेवी आत्मनिर्भर होनेमें सक्षम थीं। सो, वे सन् 1934 में एम० ए० (संस्कृत) पास करने के बाद छब्बीस साल की उम्र में ही प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल बन गयीं। किन्तु वे अनसूया या अनुराधा की तरह परिपूर्ण या परितुष्ट नहीं हुईं। आत्म-निर्भरता को उन्होंने मुख्यत: आत्म-अभिव्यंजना के लिए अंगीकार किया। अत: विवाहोत्तर 'संघात' और 'भीति' ने उनमें प्रबल संवेगात्मक झंझा/प्रलय मचाये; आत्मयातना ने उनमें (वेदना, दुख और आंसू के रूपों में) "करूणा" को मूर्तिमान किया। इस तरह महादेवी वर्मा बाल विवाहिता होकर भी आजन्म कुंवारी जैसी रहीं और अपने लोक वैभव में स्वतन्त्र जीवनयापन करती हुई भी एकाकिनी, तपस्विनी, उन्मादिनी (हिस्टीरिकल जैसी), अभिमानिनी बनी रहीं। ऐसी दशा में उनके स्वभाव की आद्यंत 'अत्यन्त रहस्यमयता' (इलाचन्द्र जोशी के संस्मरण) भी अन्तर्निहित है। आर्थिक आत्मनिर्भरता और सामाजिक आत्मविश्वास के संयोग से उनमें स्वयं **अभिमान** ही आत्मरक्षा, आत्मरंजन और आत्मद्वार की भूमिकाएं अदा करने लगा (क्योंकि उन्होंने अपने बालविवाह को कभी स्वीकार नहीं किया)। तारूण्य-पूर्व की **आत्मरति** (नार्सिसिज्म) उनके सामाजिक जीवन और बौद्धिक पक्ष में यौवनावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक चलती रही। यह उनके 'विद्रोह' की भूमिका बनी। किन्तु अन्तर्मुखी संवेग-पक्ष तथा व्यक्तिगत जीवन में किशोरावस्था से उनमें **आत्मपीड़नरति** (मेसोशिज्म) परिव्याप्त होती गयी। यह उनकी 'वेदना' की महांत भूमिका बनी।

अब तक "प्रिय" और "पंथ" की दो महाधुरियों पर उनकी मनोसामाजिक जीवनी की पुनर्रचना हुई है जो उनकी नारीजातीय रहस्यमयता (मिस्टीक) के एक प्रमुख आयाम को आलेखित करती है।

(2)

हम महादेवी को समकालीन भारतीय नारी की दुविधा का एक प्रादर्श (मॉडल) मानते हैं। कवि और विदुषी श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति हमारे मन में न तो श्रद्धा का भाव है; और न ही असम्मान का। हमें उनकी **निज़ी ज़िन्दगी** मालूम नहीं है। हमें उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार भी नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो उनके नारीजातीय व्यक्तित्व से है।

हम उनकी **सृजनात्मकता** तथा **रहस्यमयता** का विश्लेषण तथा उद्‌घाटन कर रहे हैं। अब हम (मनोकामुक अक्षांश के बाद) **मनोसामाजिक आयाम** को ले सकते हैं।

तब के उत्तर प्रदेश की पिछड़ी, सामंतीय तथा उपनिवेशवादी संस्कृति में कायस्थ जाति सर्वाधिक उदार, बुद्धिजीवी पेशा और श्रेष्ठ मध्यवर्गीय आत्मप्रदर्शनों वाली थी। हिन्दी-भाषी हिन्दुओं के सांस्कृतिक पैटर्न में अबला तथा भोग्या नारी महत्वहीन, व्यक्तित्वहीन तथा सामाजिकता-विहीन रही है। भारतेन्दु-युग में नारियां 'आंगन' से बाहर निकलकर सामाजिक-राजनैतिक-सास्कृतिक 'पंथ' में नहीं आयीं। उस समय में वेश्याओं और तवायफों से ही मुहब्बत और ऐश की पौरूषेय अनुमतिमूलकता (पर्मिसिवनेस) थी। द्विवेदी-युग में भी नारियों की विशेष भूमिका दृष्टिगोचर नहीं हुई। किन्तु स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी के नारी-स्वतंत्रता के आरंभिक अभियानों का कर्मफल ऐनी बेसेंट, सिस्टर निवेदिता के बाद सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू, तारूदत्त, अमृताशेरगिल, अमृता प्रीतम और महादेवी वर्मा के सांस्कृतिक वैचारिक प्रसुमन में मिला। संस्कृति के दीपों और नारी-व्यक्तित्व के कमलों की तरह-से ये नारियां अपनी आधुनिक 'अस्मिता' खोजती हैं और सांस्कृतिक आन्दोलनों में अपने पहले-पहल योगदान करती हैं। सन् 1920 के आस-पास श्रीमतियां महादेवी वर्मा (तेरह साल), तोरणदेवी शुक्ल 'लली' (चौबीस साल), और सुभद्राकुमारी चौहान (सोलह साल) का आगमन होता है। सन् 1930 तक ('नीहार' के छपने पर) तो रामेश्वरी देवी 'चकोरी' (सत्रह साल), विद्यावती 'कोकिल' (सोलह साल) और तारा पांडेय (सोलह साल) के अन्य नारी-कंठों के नये स्वर गूंज उठते हैं। इस तरह रोमांटिक आन्दोलन ने सचमुच "नारी" को मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसे सखी और प्रिया, पूज्यदेवी और प्रेरणा-शक्ति के नये अंतर्बाह्य सामाजिक सम्बन्धों से जोड़ा। विद्रोही युवामन नयी चिति का उन्मेष कर रहा था, नये सामाजिक स्वप्न देख रहा था तथा नयी आत्माभिव्यंजनाओं के लिए व्याकुल था। यह एक बेहद नया मनोसामाजिक प्रस्थान था। नारी-चिति भी प्रेम और मुक्ति के दोनों पंखों को खोलकर उड़ने को हो गयी। यारब! सवाल फ्रायडीय 'शिश्न-असूया' (पेनिस-एन्वी) का नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना की सहवर्ती नारी की 'चरित्र-संरचना' के नवीकरण का था। अत: 'नारीजातीय रहस्यमयता' (फेमिनीन मिस्टीक) के उदात्तीकरण तथा उन्मीलन दोनों होते हैं। 'अमर भारतीय नारी' के सामंतीय आदर्श में गहरी दरार फटती है। अब 'समकालीन भारतीय नारी' के प्रेम और विवाह के **सवाल**, आत्म-सम्मान और आत्म-अभिव्यंजना के **पंथ**, जीवन और समाज में नयी **दिशाएं** आदि झिलमिलाती हैं।

मूलत: यह सब कुछ नारी द्वारा सांध्यगीतों वाले 'आंगन' के बन्धनों से छुटकारा पाकर,

सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक **'प्रिय'** तथा पंथ के बहुविध चुनावों के बीच की बाधाएं (शूल), अनिश्चयताएँ, असफलताएँ आदि पार करके, उसके द्वारा समाजानुकूलित हृदय के सत्य तथा अंतर्ज्ञान के आलोक का दोहरा स्वयंवर करने का चिरन्तन बोध और आधुनिक त्रासदी है। इस तरह नारीवृत में प्रिय और पंथ में प्रिय-पंथ का बहुवचनीय त्रिकोण बनता है, जिसका मध्यबिन्दु यह अभिनव नारीत्व है: सामंतीय संस्कारों और आधुनिक संघर्षों के बीच द्वन्द्वात्मक समन्वय के लिए जागरूक और आकुल! (अर्थात्) दीपशिखा और नीरजा!! श्रीमती महादेवी वर्मा में यह द्विधा और द्वन्द्व सबसे सूक्ष्म और सघन है। कारण, उन हिन्दी कवयित्रियों में से उन्हें ही सर्वाधिक सामाजिक पलायन तथा गुप्त अस्वीकृतियां करनी पड़ी हैं, शायद सबसे लम्बी आत्मयातना और सबसे गहरी आत्मवेदना भोगनी पड़ी है। फिर भी महादेवी की रचनाधर्मिता में लगभग इतनी अस्पष्टता, इतनी एकरसता, वैविध्यहीनता, बलात् वेदनावाद आदि क्यों परिव्याप्त होता गया?[1]

विनयमोहन शर्मा कहते हैं:

'महादेवी ने रहस्यवाद की साधनात्मक अनुभूति को स्पर्श किया है, यह संदिग्ध है।' लक्ष्मीनारायण सुधांशु मानते हैं कि उनका लोकोत्तर आलम्बन (प्रभु/देव) पाठक या श्रोता की भावभूमि से इतनी दूर पड़ जाता है कि वहाँ तक कल्पना किसी तरह कभी-कभी पहुंच भी जाती है : हृदय को पहुंचने में बड़ी कठिनता होती है। कृष्णशंकर शुक्ल के अनुसार उनके 'दुख का ठीक-ठीक विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता।' प्रभाकर माचवे को लगता है कि उनमें 'आत्मार्पण और आत्मपीड़न अत्यधिक है यानी कहीं भी उन्होंने अपने को उभार कर नहीं रखा है। पर वैसे उन्होंने अपने सिवा और किसी के भावों की बात भी कहां की है?' शचीरानी गुर्टू ने कुछ समझाते हुए कहा कि उनके 'काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट आकारहीन चाहनाएं आंतरिक विवशता का परिणाम है।' इसीलिए इलाचन्द्र जोशी ने स्वीकार किया: "इतना मैं जान गया हूं कि उनके स्वभाव की कुछ बातें अत्यन्त रहस्यमय हैं और यह रहस्यमयता अन्त तक उनके साथ लगी रहेगी।' उनके रहस्य और अनुभूति की गांठें खुलती चलती हैं। रेखा अवस्थी ज्यादा गहरा मर्म छूती हैं –"महादेवी अपने काव्य में यथार्थवाद को कहीं भी स्वीकार नहीं करतीं–बल्कि यथार्थ के विरूद्ध क्षयग्रस्त दुखवादी रूमानी दृष्टि और अरूप प्रियतम की

1."..... इसी प्रकार महादेवी का काव्य उपकरणों की दृष्टि से भी वैविध्यहीन है। भाव-भूमि की एकरसता के कारण इनके विनियोजित उपकरण मिलते-जुलते से हैं। ..... उदाहरणार्थ, "सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की पृष्ठभूमि अत्यन्त एकरस तथा धारांकित है। 'सांध्य-गीत' में सन्ध्या और 'दीपशिखा' में रात्रि के ही बहुविध आयामों को अंकित किया गया है। फलस्वरूप ..... वातावरण ही एक-सा नहीं मिलता। बल्कि दीपक और बादल जैसे उपकरण बार-बार चित्त में..... 'मोनोटनी' पैदा कर देते हैं।"

लालसा का रहस्यवाद प्रतिष्ठित करती हैं – अध्यात्मपरक दुखवाद।'' एक अछूते कारण को नन्ददुलारे वाजपेयी बताते हैं–'हिन्दी में महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएं छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः कदम रिक्त थीं।' इनके रहस्यवाद पर आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी-ऐसी अनुभूतियां सामने रखी हैं जो लोकोत्तर हैं।' मतलब, कि वे इतनी वास्तविक नहीं हैं अर्थात् वे 'अनुभूतियों की रमणीय कल्पना' (विनय मोहन शर्मा) या 'प्राकृत अनुभूति को छोड़ कर परोक्ष अनुभूति' (नन्ददुलारे वाजपेयी) की भूमि की हैं।

बुनियादी नतीजे साफ हैं–महादेवी के हृदय की अनुभूतियां ठोस और नंगे यथार्थ के विरूद्ध हैं; लोकोत्तर प्रतीत होकर भी रहस्यवाद की साधनात्मक भूमि का स्पर्श नहीं करतीं; परोक्ष अनुभूति बनकर प्राकृत् अनुभूति से भी पृथक् हो जाती हैं। उनकी हृदय की अनुभूतियों में आत्मार्पण और आत्मपीड़न है, वे अत्यन्त अस्पष्ट और आकारहीन चाहनाओं की आंतरिक विवशता का परिणाम हैं; वे रहस्यवादी से ज्यादा रहस्यमय हैं। अत: उनकी धारा न तो छायावादी है, और न ही रहस्यवादी। क्यों?–पुनश्च।

पुनश्च। उत्तर भी साफ है:–इसलिए, कि वे यथार्थवाद को स्वीकार नहीं करतीं और यथार्थ के विरूद्ध हैं; इसलिए कि वे अपनी लौकिक और वास्तविक अनुभूतियों को भी –रहस्यमय नारीत्व और मनोप्रतिरोधकों के कारण–अलौकिक और भ्रान्त बना डालती हैं जिससे वे अस्पष्ट, आकारहीन और अस्वाभाविक बन जाती हैं; इसलिए कि वे चिर-एकाकिनी, चिर-मुक्त और चिर-रहस्यमय हैं; इसलिए, कि वे अत्यन्त स्वाभिमानिनी (अहं-आदर्श की पुजारिणी) तथा अरक्षित आत्मपीडानुगामिनी रही हैं। वास्तव में उनका रहस्यवाद उस समय की नवेली 'नारीजातीय रहस्यमयता' है जो सामाजिक रूढ़ियों, सामन्तीय संस्कारों तथा वैयक्तिक मनोग्रन्थियों का यथार्थ और प्राकृत उल्लघंन नहीं कर सकीं। इसमें उनके विवाहित शरीर तथा कुंवारी चेतनावाली **अनसूया-चिति** है जो देव और प्रभु, प्रभु और प्रिय, प्रिय और पुत्र (शिशु) के एकान्वित चिरन्तन पुरूषबिम्ब की पूरक है। यह उस नारी का छटपटाता हुआ **अर्द्ध-नारीश्वरत्व** है जो उसके मानुषी प्रिय को दिव्य प्रियतम के छद्म में प्रदर्शित करता है।

अपने समकालीनों के बीच अकेले महादेवी को ही इतना विपथन क्रियान्वित करना पड़ा। उनकी सहेली श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान माता और पत्नी के रूप में लगभग सहज और सन्तुष्ट रहीं। उनके जीवन का क्रम घर और जेल के बीच चलता रहा। इनका भी विवाह तभी हो गया था जब ये आठवीं कक्षा में पढ़ती थीं लेकिन इनके आत्मोद्धार का पन्थ

राजनीतिक संघर्ष का था। अत: 'वेदना' के बजाय वे राजनीतिक-पारिवारिक **विद्रोह** के आह्लाद में मुक्ति पाती हैं ('मैने हंसना सीखा है/मैं नहीं जानती रोना')। उनसे बड़ी श्रीमती सरोजिनी नायडू भी राजनीतिक राष्ट्र-संघर्षों के मध्य गीतों के परचम फहराती रहीं। उन्होंने भी भारतीय जीवन के यथार्थ चित्रों और लोक-अनुभवों को रोमांटिक दृष्टिकोणों से पेश किया किन्तु विषय हैं : चूड़ी बेचनेवाली, कारोमंडल तट के मछुआरे, राधा का गीत, शाम की नमाज, वृन्दावन का वंशीवाला, काली माई, कमल, वसन्त पंचमी, गोलकुंडा के मकबरे, मेहँदी, वधूपालकी के कहार, आदि। उनकी समकालीन चित्रकत्री अमृताशेरगिल (1913-1941) भी रोमांटिक सौन्दर्यबोध में मूर्त भारतीयता का ही परिपाक करती हैं। उनके चित्रों में अजंता, और कांगड़ा शैलियों, पॉल गॉगिन और सेजां की विधियों, तथा मुगल और राजपूत कालमों की रंग-योजनाओं का मेल है। उनकी रचनाधर्मिता में भारत (पूर्व) और यूरोप (पश्चिम) का सांस्कृतिक अन्तर्द्वद्व तीव्र है तथापि वे भारतीय ग्रामीणों और भारतीय 'लोक' की आत्मा को पहचान लेती हैं। तीन लड़कियां, पहाडनें, पहाड़ी लोग, हरे तालाब में हाथी झुण्ड, फलवाला, भिखारी, वधूस्नान, दक्षिण भारत के ब्रह्मचारी, आदि उनके चित्र हैं। उनकी कई **निर्वसन** आत्म-छायाकृतियाँ तो उनके नारी-शरीर तथा नारी-आत्मा को स्वच्छ और सहज और सुन्दर बना डालती हैं। पंजाबी कवयित्री अमृता प्रीतम (1919) भी एक तो इश्क के रोमांटिक रूझानों में फंसी है और दूसरे मांसल प्यार में बिरहा की पीर का बार-बार जिक्र करती हैं। वह कम-से-कम ज़ागीरदारानां पुरूष-प्रधान समाज की उस विवर्जना को चकनाचूर कर देती हैं जो प्यार और सुरति को पाप मानती है। मध्यकालीन दृष्टि में निर्बल नारी का हठात् विरह-रोदन ही ज्यादा पवित्र तथा उचित रहा था। आज भी अमृता प्रीतम ने मुहब्बत में असफलता का शिकवा करके नव्य रोमांटिकता का ही इजहार किया है किन्तु काम तथा प्यार में सामाजिक अन्यायों का नंगा प्रकाशन उसे अभी तक भी चिरंतन युवती और प्रिया बनाये रखता है।

फिलहाल कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि हमारे जिस साम्राज्य-विरोधी तथा सामन्तवाद-विरोधी सामाजिक जागरण में, और वैयक्तिक अनुभूति तथा रोमांटिक आदर्श वाले जिस सांस्कृतिक वातावरण में स्वच्छन्दतावादी (छायावादी) कविता का विकास हुआ, उसमें इन सभी कवयित्रियों ने सामन्तीय समाज के बन्धनों तथा मध्यकालीन संस्कारों से ग्रस्त भारतीय नारी की पीड़ा तथा मुक्तिकामना की अपने-अपने ढंग से अभिव्यंजनाएं कीं। इन्होंने भारतीय लोक-जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ में, राष्ट्रीय जागरण के असन्तोष में अपनी-अपनी अस्मिताएं ढूंढी। ये ससीम और ज्ञात की चाह को, नारी-हृदय की पीड़ा और नारी-मन की प्यास को भी साफगोई से उद्घाटित करती रहीं।

लेकिन ऐसे वातावरण और जागरण के बीच भी महादेवी वर्मा सामाजिक यथार्थ और प्रत्यक्ष लौकिक अनुभवों के पूर्णत: विरूद्ध हो जाती हैं। यथार्थवाद की अस्वीकृति के कारण ही उनकी 'रहस्य-चेतना' रहस्यवाद के असीम और अज्ञात अभिव्यंजना-पन्थों में चलकर अलौकिक एवं आध्यात्मिक मिथ्याभासों में उलझ गयी। उन्होंने भारतीय लोक-जीवन तथा खुले सामाजिक विद्रोह में अपनी अस्मिता नहीं ढूंढी; बल्कि तम के पर्दों और सघन घनों की छाया में, क्षयग्रस्त रोमांटिक दृष्टि (साधना) के घेरे में, असीम और अज्ञात और अरूप प्रियतम (चाहों-स्वप्नों-इच्छाओं) का रहस्यवाद (इदं की दमित लालसा का उदात्तीकरण) प्रचारित करती रहीं। इससे उनका सम्पूर्ण रचनाक्रम अविश्वसनीय, अस्वाभाविक, अप्रासंगिक तथा अन्ततोगत्वा अमूर्त-असार्थक-सा सिद्ध होने लगा। न तो उनका 'छायावाद' स्वाभाविक-स्वच्छन्द बन सका और न ही एक 'रहस्यवाद'। 'सांध्यगीत' (1936) के बाद छह वर्षों के अन्तराल में राष्ट्रीय जीवन में जन-आन्दोलनों का महाभियान शुरू होता है, क्षयी आभिजात दृष्टियां निरर्थक होने लगती हैं और प्रगतिवाद के गर्जन-तर्जन फैलने लगते हैं। सन् 1942 में निराला 'कुकुरमुत्ता' लिखते हैं तो महादेवी 'दीपशिखा'! वे रचनात्मक विविधता तथा अभिव्यंजनात्मक प्रासंगिकता के अक्षों में आत्मविकास करने में पूर्णत: अक्षम हो जाती हैं। अत: लिखना ही बन्द कर देती हैं। दीप और शलभ के उपमान उनकी ही सृजनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक 'मृत्यु' की परिणति हो जाते हैं।

'पन्थ' उनके लिए संसार का प्रतिनिधि बना रहा है। इसके संसर्ग से वे **आत्म-निर्वासित** भी हैं, **अभिशप्त** भी हैं, **अजनबी** भी हैं और **अपरिचित** (अनजान) भी हैं। 'नीरजा' (1934), 'सांध्यगीत' (1936) तथा 'दीपशिखा' (1942) – अर्थात् चौबीस साल की पूर्ण युवावस्था से लेकर पैंतीस साल की प्रौढ़ वय तक–में ये आधुनिकताबोध वाले शब्दबन्ध छायावादी-रहस्यवादी अर्थ मीमांसाओं से बाहर आकर देखने लगते हैं। किन्तु इन्हें आधुनिक और सामाजिक हाशिये नहीं मिलते। अतएव ये पुन: वैयक्तिक **वेदना** की आत्ममैत्री के तथा महा **करूणा** की दार्शनिकता के 'रजिस्टर' में अंकित हो जाते हैं। ये पारिभाषिक आद्य **बिम्बों** की सुधियों तथा स्वप्नों में वापस लौट जाते हैं तथा अतिरिक्त काम की अतृप्तियों का बहुरूपिया रूपान्तरण करने लगते हैं। **संघर्षो और यथार्थो वाले संसार** (पंथ) से अपरिचित बने रहकर महादेवी दुख और आंसू की अनुभूतियों तथा अतिरंजनाओं में अभ्यस्त **महज** एक 'रीतिशैलीवाद' (मैनरिज्म) ही विकसित कर पाती हैं। इस तरह **उनके स्वप्नों और सुधियों वाले अतीत-संसार** में वेदना, करूणा और आंसू का अमर लोक बस जाता है। वे अपने जीवन तथा सृजन के भविष्य की दिशाओं की फ़िक्र नहीं करतीं।

उनके बाहरी संसार में बाह्य घटनाओं की पूर्णरूपेण अनुपस्थिति, तथा उनके अंदरूनी

संसार में समुचित अन्तर्मुखी प्रतिबोधों की अनुपस्थिति ने मिलकर 'घटनाविहीनता के मानसिक आघात' (ट्रौमा आफ इविन्टलेसनस)[1] को 'चिर' (स्थायी) बना दिया है। वे अपने ऐतिहासिक अतीत (कथा, कहानी, बात, इतिहास) को संवारने में अपने सम्पूर्ण वर्तमान तथा भविष्य के सृजनात्मक और सामाजिक जीवन को 'उसी अतीत का सातत्य बना डालती हैं। सपनों और सुधियों की, आंसू और दुख की बहुधर्मा कैटेगरियां इसी तथ्य की प्रतिपादक हैं। अत: महादेवी में अतीत के मानसिक आघात (ट्रौमा) की मानो वर्तमान और भविष्य में (अनवरत, असीम, अज्ञात, अनन्त-) पुनरावृत्तियां पाते हैं–सूक्ष्म और अमूर्त। वे अपने वैयक्तिक ऐतिहासिक अतीत का न तो अतिक्रमण कर सकीं, न ही उसका अस्वीकार, और न ही उससे प्रस्थान; बल्कि उसका त्रिमूर्त आदर्शीकरण, आध्यात्मिकीकरण और सौन्दर्यात्मिकीकरण करती रहीं। यह उनकी रहस्य (परक, वादी, मूलक, मय)-भावना का एक प्रधान मनोसामाजिक प्रादर्श (मॉडल) है।

अपने भविष्य और बहिर्गत संसार से अज्ञात और अनजान बने रहने/हो जाने की त्रासदी उन (के सभी 'पन्थों' अथवा अन्तर्मुखी नारीत्व) को बहुधा 'आंगन' की सीमाओं में ही बन्दिनी और विरहिणी, अनुगामिनी और अनुरागिनी बना देती है। वे 'आंगन' (सुरक्षात्मक प्रतिरोधक) में ही शूल बिछातीं तथा दीप जलाती हैं, सपने और सुधियां सजाती हैं। 'आंगन' (बाल्यकालीन प्रतिगमन) के छोटे-से आकाश से ही वे तारे गिनती हैं, शशि के दर्पण तथा मेघों को देखती हैं, आंसू बहाती हैं तथा पथ देखकर रैन बिताती हैं। इसलिए 'आंगन' का महाप्रतीक पिंजर और महान्त मनोकारा उनके काव्य में **प्रकृति** की अज्ञानता तथा भाव-**उपकरणों** की वैविध्यहीनता को उजागर कर देती है। यद्यपि इनके अधिकांश बिम्ब प्रकृति से अँजकर और रँजकर आये हैं लेकिन उनमें तेजी से खुलती हुई फिल्म की रील के जैसे खंड-खंड चित्र हैं। इससे चमत्कार तो होता है किन्तु तन्मयता और रमणीयता का केंद्रीभवन नहीं हो पाता। ये प्रकृति-सौंन्दर्य पर आरोपित चेतन खंड-खंड चित्र-बिम्ब विश्रृंखलित हो गये हैं तथा रूपक, उपमा या अपन्हुति के साधन बन गये हैं। अत: इनमें सूक्ष्म निरीक्षण कम हैं; सम्पूर्ण सौन्दर्य-बिम्ब (कुछ सांगरूपकों को छोड़कर) उससे भी कम हैं। बहुधा एक ही गीत में या तो ऋतु-अनुक्रम के चित्र हैं अथवा कई ऋतुओं के चित्रों का गड़बड़-झाला हो गया है। प्रकृति की राग और रंग से भरपूर अनुभूति नहीं है। बहुधा अमूर्त वस्तुओं तथा घटनाओं (फूल, संध्या, वृक्ष, चन्द्र, तूफान, सिन्धु) की अलंकाराधायक परिगणना हो गयी है। ऐसे आंगन-केन्द्रित अनुभव संसार ने उनमें रहस्यमय 'बाह्याभीति' (एगोराफोबिया) अवस्थित कर दी है। इसलिए विराट् उन्मुक्त प्रकृति-व्यापार और यथार्थ

---

1 दे० राबर्ट साइडेनबर्ग का लेख, "साइकोएनालिसिस एंड वुमेन", लन्दन पैलिक ने 1974, पृ० 350, (सं० जीन बेकर मिलर)

जटिल सामाजिक जीवन के दोहरे देशान्तर भी धुंधले हो गये। उनका स्वमुग्ध अनसूया-मन और तन अपने गोपन-आंगन में मोतियों (आसुओं) और हीरों (तारों) से, सुधियों और सपनों से,'रज' और 'अणु' से नहाता रहता है। उनके ऐसे सम्पूर्ण काव्य के आद्यक बिम्ब **दीपक** और **आंसू** बन गये हैं।

(3)

कवि महादेवी की 'चिति' (साइके) को 'चेतना' (कांशसनेस), और 'सचेतनता (कांशियेंस) में पल्लवित-पुष्पित करने वाले शक्तिबिन्दु तथा सौंदर्यबीज कई रहे हैं।

उनकी लिखावट में अक्षर (तिरछे उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व की ओर) हैं जो विपंथनवाले दृष्टिपथ तथा दूरदर्शिता के द्योतक हैं। अक्षर छोटे-छोटे तथा सधे-सजे हैं। ऊपर इकारान्त-ईकारान्त मात्राएँ घेरे डालती हैं तथा ओकारान्त-एकारान्त मात्राएं नुकीले तीर-से फेंकती हैं। पंक्तियां ठीक सीधी रेखा में हैं (बाहरी सतर्कता और संतुलन वाली) किन्तु शब्दों की ललाट-पाईयां किले की परकोटे-सी नुकीली हैं मानो भालों की कतारें हों। यहां लिपिविज्ञान उनकी चिंतन-प्रणाली पर उंगली रखता है।

उनके चित्रों के जरिये भी कुछ दिशाएं खुलती हैं। 'दीपशिखा' के चित्र एक ही रंग में बने हैं और 'उनमें भाव-अंकन का आयास भी अधिक हुआ है। चित्र-कत्री 'बहुत थोड़े' और 'विशेषत: नीले, सफेद से ही काम चला लेती' हैं। 'जहां कई को मिलाना **आवश्यक** होता है वहां ऐसे मिलाना **अच्छा** लगता है कि किसी की स्वतन्त्र सत्ता न रह सके।'[1]

उनके भाव-चित्र जल-रंगों से बने हैं। बुनियादी तौर पर वे रेखाचित्र हैं जिनमें-से अधिकांश में नारि-छवियां अंकित हैं। उन चित्रों में दीपक, कमल, कुंतल, आदि चित्र-शब्द का काम करते हैं। जिन फलकों में बड़ी आकृतियां बनी हैं उनमें एक ओर तो मूर्तिकला के तीसरे आयाम का आभास है तथा दूसरी ओर उनकी आकृतियों में अर्द्धनारीश्वरत्व है अर्थात उनका उभयलिंग (जेन्डर) है।

नारी-छवियों के ज्यादातर नेत्र बन्द हैं। उनकी ठोढ़ी नाक की तरह नुकीली-गर्वीली है तथा अधर रेखा की तरह पतले हैं। अत: आसक्तिहीन मुख से लगभग निर्मादकता ही अभिव्यंजित होती है। इन आकृतियों को साड़ी से इस कदर लपेट लिपटा दिया गया है कि उरोज, नितंब, कटि, जंघा आदि की वर्तुलाएं वर्जित हो गयी हैं। केवल मुख, भुजाएं और चरण भर दिखाये गये हैं। इस तरह नारी सुरक्षित और रहस्यमयी हो गयी है। साड़ी की

1. "दीपशिखा", भूमिका, आठवां संस्करण (इलाहाबाद, भारती भंडार) 1971 पृ॰ 60

निचली चुन्नटों में खुली सीपी की जैसी लहरियां हैं (दे० चित्रगीत 28)। कुछ चित्रों में वस्त्रों के घुमावों तथा फहरानों में बोटिचेली या माइकेल ऐंजिलों के जैसी संगमर्मरी कटानें हैं।

चित्र की सहवर्ती संरचना में ज्यादातर बन्द कमल-कलियां हैं जो मृणाल के साथ हैं। ये उर-कली (किशोरी/कुंवारी) के प्रतीक हैं। ये कमल-कलियां अथवा बन्द कमल कंटीले कमल नालों से गुंथे हैं। (नाल कंटीले या कंटकित नहीं होते)। मृणालसमेत ये पुष्ट कमल एक विचित्र सांकेतिकता देते हैं–सर्पों के जैसे जिनके फण खुले-चमकीले हैं (दे० चित्रगीत 20)। गीत 20 का कमल (उभयलिंगी) दुमुंहे सांप के जैसा है जिसके साथ एक कमलपत्र भी सिकुड़ा है और एक मुंह दोनों पांवों के बीच में है।

बन्द कमलों की संख्या ज्यादातर तीन है (दे० चित्रगीत 1, 26, 38)। इसी तरह दीपकों की संख्या भी ज्यादातर तीन है (दे० चित्रगीत 27, 14)। यह तीन की संख्या सत्व, रज और तम के त्रिगुणों का, अथवा इच्छा क्रिया-ज्ञान के त्रिकोण का, या फिर ब्रह्म-विष्णु-शिव के त्रिदेवत्व के नानाविधि प्रतीकात्मक रूपों को अनुरंजित करती है और अनूसूया के आर्केटाइप से जुड़ जाती है। कवि भी अपने सम्पूर्ण काव्यलोक में अरूणा (विष्णु), चांदनी (ब्रह्मा), तिमिर (शिव) के आंगन-संसार में डूबी-भीगी-नहाई हुई आत्मरत है।

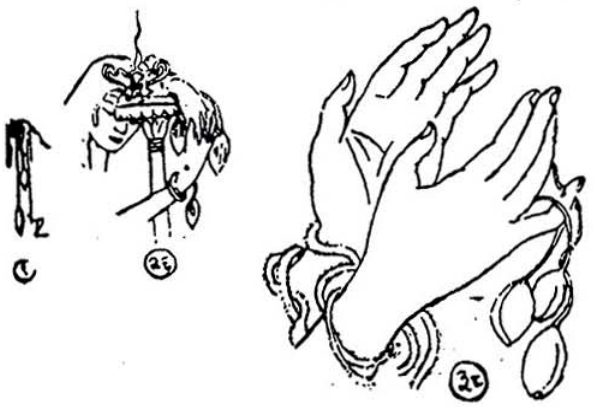

चित्रगीत 49 की रहस्यमयता विलक्षण है। गायिका की गोद में जादूगरनीवीणा है जिसमें पांच तीरों (पंचबाण) जैसी मूठियां है। वीणा की आकृति भी उभयलिंगी है (अर्द्धनारीश्वरत्व)

पंचबाणयुक्तयिष्ट सीधे वीणा गर्भ तक धंस गयी है। चारों ओर की योनि-आकृति का आभास भी स्पष्ट है (यह आकृति चित्रगीत 26 के दीपक से भी मिलती जुलती है)। पंचबाणयुक्त सीधे दंड के ऊपर जो आकृति है वह मानव-भ्रूण से मिलती-जुलती-सी है।

चित्रगीत 6, 22 और 33 में से पहले दो में अर्द्धनारीश्वरत्व (हर्माफ्रीडाइटिज्म) और समरति (होमोसेक्सुअलिटि) की जो छायाएं घुल-मिल गयी हैं वे अन्तिम में आकर विभक्त हो जाती

हैं: कृष्ण के आभास वाला सघनमेघाच्छादित छाया रूप (प्रिय) और उसके स्पष्ट बिम्ब (प्रिया) में। 'प्रिय के अंक में या प्रिया के अंक में बड़ा कमल' – कलात्मक अर्थों का यह विस्तारण ही कविताओं के सम्बोधनों को अर्थभ्रांतियों में चमत्कृत करता है।

चित्रगीत 25 में नारीदेह के कामुक क्षेत्रों (स्तन, कटि, नाभि) को वस्त्रों से लपेट कर बिल्कुल चपटा और सपाट बना दिया गया है। मानो निर्मदता क्रूरता-पूर्वक लिपटाई गई है।

इसी तरह अजंता-चित्रित अथवा कालिदास-चर्चित वे पारम्परित मृणाल-वलय यहां कुछ दूसरी ही अवचेतना को लिख जाते हैं–'लिखती हूं कुछ, कुछ लिख जाती!' इन चित्रों की शैली में अजंता और बंगला-स्कूल की नव्यरोमांटिकता के बावजूद कविचितेरे विलियम ब्लेक या ताहिती-द्वीप वाले चित्रकार पाल गोगेन के चित्रों जैसी आदिम तथा अकुंठ मुक्ति और मिथक नहीं हैं।

'प्रिय' के संदर्भ में ये तीन दीप तथा तीन कमल और भी अचेतन गहराई में गोताखोरी करते हैं [क्योंकि ये प्रगीतों में पुंजरूप नहीं हैं]। ये प्रिय-पति-पुत्र की त्रयी हैं जो अनसूया को सुहागिनी-अभिसारिका, दोनों बनाती है। 'नीहार'-वृत्त में **देव** है; 'नीरजा' और 'दीपशिखा' में **'प्रिय'** आ जाता है। 'सांध्यगीत' में उसका कौतूहल 'वह' में ज्यादा है। किन्तु सम्पूर्ण वृत्त में **बालक** और **बाल**(पुत्र) की ममता कहीं-कहीं झिलमिलाती है। प्रिय-पति का द्वन्द्व ही सम्पूर्ण काव्यात्मक प्रेमानुभूति को-'वह' यथा 'उसका' में अस्पष्ट बना डालता है। कवि केवल एक ही प्रगीत ('जग ओ मुरली की मतवाली!') में खुलकर कह पायी है कि नारीचिति की विमुक्ति या तो गोपिका के रूप में सम्भव है जब वह करूणा की मंगल गागर **धर** ले अथवा मीरां की तरह सनेह बेली के खारे जल से सींचकर और विष की प्याली को मधु बनाकर वर ले। किन्तु कवि के लिए तो 'इस शीत निशा' (निर्मदता) का कोई अंत नहीं।

इस कड़ी में 'भिक्षुक' का प्रयोजन है। इसकी दार्शनिक सांकेतिकताएं स्वयं गौतम बुद्ध (कोई) और उनके आर्य सत्यों से निश्चित रूप से सम्बद्ध है ('कोई यह आंसू आज मांग ले जाता'/; 'तू धूल भरा ही आया'।)। कवि स्वयं बाली उमिर में भिक्षुणी बनना चाहती थी। अत: जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में निराशा के बजाय 'एक गंभीर करूणा की छाया' ('आधुनिक कवि' भूमिका) ही दिखती है क्योंकि उस पर पार्थिव दुख की छाया नहीं पड़ी ('यामा'-भूमिका पृ० 12)। अत: कवि के पास 'अपनी विकलांगता के बल पर याचना करने वाले भिक्षुक की दरिद्रता भी' नहीं है ('दीपशिखा', भूमिका पृ० 64)। इन कारणों से उसे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं–मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से बन्धन में बांध देने वाला, तथा; काल व सीमा के बन्धन में पड़े असीम चेतन का क्रन्दन। अतएव कवि का **व्यक्तिगत दुख** विश्व के कण-कण से उमड़ी एक **करूणा की धारा** में घुल-मिल गया है। इस तरह भिक्षुक का अभिप्राय उनके व्यक्तिगत दुख को असीम चेतन के क्रन्दन तथा विश्वकरूणा की धारा में विराटीकृत कर देता है। यह और भी करता है–माइथीम-बीज को अंकुराकर। यह कवि को कृतित्व तथा जीवन में आद्यंत ईर्ष्याहीन (अनसूया) बनाता है, उसके परिवेश में अरूण (सूर्य, विष्णु), चन्द्रमा (मधु, ब्रह्मा)

तथा तम (रात, शिव) को भिक्षुकवत् **उपस्थित रखता** है; उसके चिति-आंगन में प्रभु (देव) और प्रिय और बाल को नाना प्रतीकों में/की भिक्षा चाहता है; 'मानस-दोलों में सोतीं शिशु इच्छाएं अनजान'। चकोर से तादात्म्य करके कवि कहती है–तू अकिंचन भिक्षुक है मध् ा का,/अलि तृप्ति कहां जब प्रीत नहीं।' कई ढंगों से यही प्रतीक खुलता है–'चिर जाग्रत थी तू दीवानी,/प्रिय की भिक्षुक दुख की रानी!'.....तेरे वैभव की भिक्षुक या कहलाऊं रानी।'.....भिक्षुक-सा यह विश्व खड़ा है पाने करूणा प्यार/हंस उठ रे नादान खोल दे पंखुरियों के द्वार।'....'अश्रु मेरे मांगने जब नींद में वह पास आया/'....जिन अधरों पर कांप रही हैं/अनमांगी भिक्षाएं सारी/'.....'पुजारी, दीप कहीं सोता है!' [सचेतनता और पवित्रता से गुप्त क्षणिक चोरी]। कवि के चित्रों के तीन दीपक या कमल, कविता का त्रिमूर्त्तिप्रिय और नारी-शरीर में दृग-अधर-उर की त्रिकोणता एकतान हो जाती है।

सारे काव्य-कर्म में सत्व (सत्य), रज (कण-कण, अणु-कणु, रज-बिन्दु) और तम (घन, धूल) के आंधी-प्रलय के बीच कवि लगभग हरेक प्रगीत में आंसू और बूंदों से, मोती और तारों से नहाती हैं, उनसे भीगी और भीनी हो जाती है क्योंकि वह नभ और अवनी, कमल और दीप, बीज और बिन्दु, रस और रज की उर्वर मादकता भी जानती है। इसीलिए नहाने-भींगने के अनसूया-प्रतिकर्म के माध्यम से उजले होने, स्वच्छ होने, पवित्र होने, शुद्ध होने, मुक्त होने तथा दिव्य होने का आत्मोद्धार मिलता है। यह विरेचन त्रिगुणों के अवगुंठन में रहस्यमय होकर भी प्रत्यक्ष हो उठता है–'जो नभ में **विद्युत मेघ** बना वह **रज में अंकुर** हो निकला'।.....रज में **शूलों** का मृदु चुम्बन/नभ में मेघों का आमंत्रण/'. ....हल्के आतप में रस-भीनी/शतरंगी **रज** बरसा करती/'....देख तो रज में अचंचल,/स्वर्ग का युवराज तेरे अश्रु से अभिषिक्त है यह/'.....'पदरज धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे!' 'नीरजा' में 'श्रृंगार कर ले री सजनि!' तथा 'रूपसि तेरा धन केशपाश!'। जैसे प्रगीतों में रमणी-शिशु के तथा सद्यःस्नाता विलासिनी, दोनों के चित्र विरेचन को स्पष्ट करते हैं ['तारक लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज']। 'सांध्यगीत' तक आकर निर्मदमयी कवि रजवती होकर भी विरज' [रज(स्वला)हीन] होने का पवित्रीकरण चाहती है; 'रजकणों में खेलती किस विरज विधु की चांदनी मैं?' संदर्भों में चुनाव की गुंजाइश रहते हुए भी कवि ने रज के बजाय रेणु या धूल का इस्तेमाल नहीं किया। ऐसी ही विटगेंस्टाइनीय भाषा-क्रीडा 'सुभग' अर्थात् सौभाग्यशाली प्रिय और (सु-भग-स्वांमी) प्रिय में हुई है; शायद केवल कुछ बार; वह भी सांध्यगीत' में ('विरह का इतिहास कहती जो कभी सुभग सुन'.....प्रिय बसा उर में सुभग सुधि खोज की बसती कहां?')। यहां सौभाग्य और सुभगता के अर्थों का बाजूबंद खुल ही गया, मानों।

'आंगन'-'स्नान' के आद्य अभिप्रायों से बंधी हुई नारी-शरीर की **पवित्रता** तथा नारी-रति की **दिव्यता** के पुरातन संस्कारों के बारे में भी कवि की सौन्दर्य-प्रतिक्रिया **बेहद** अस्पष्ट, अमूर्त, अप्रत्यक्ष, रहस्यवादी तथा रहस्यात्मक हो गई है। वह सामाजिक आयामों में नारी-संघर्षों को प्रकट करने का जातीय तथा वर्गीय साहस और स्वतंत्रता प्रदर्शित नहीं करती। उसने वेदांती- रहस्यवादी शब्दों को सामाजिक स्वीकृति तथा अन्तर्मुखी गोपनता के लिए भी प्रयुक्त किया।

स्वयं कवि कहती हैं कि 'नीहार' (17-21 वर्ष) का अधिकांश उनके मैट्रिक होने के पहले लिखा गया है जबकि उनकी अनुभूतियों में कुतूहलमिश्रित वेदना थी। "रश्मि" (21-24 वर्ष)-काल में उन्हें अनुभूति से अधिक उसका चिंतन प्रिय हुआ। "नीरजा" (24-27 वर्ष) और "सान्ध्यगीत" (27-29 वर्ष) की अवधि में उनका हृदय अनायास ही सुख-दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा था (दि० 'यामा', भूमिका पृ० 6)। 'दीपशिखा' (29-35 वर्ष), के रचनाकाल में उनकी अनुभूति बौद्धिक (दार्शनिक) हो गई। यद्यपि इसमें आशावादी स्वर नहीं हैं तथापि अविश्वास का भी कोई कंपन नहीं है और (कवि की आकांक्षा है कि) रात की सघनता को इसकी 'लौ' झेल सकती है (दी०भूमि० 64)। अत: पहले (1) अनुभूति में कुतूहलमिश्रित **वेदना**; फिर (2) अनुभूति का **चिन्तन**; फिर (3) सुख-दुख मिश्रित अनुभूति के चिंतन का **सामंजस्य**; फिर (4) बाहर; भीतर के बीच परस्पर-पूरक अनुभूति का **समन्वय**; और अंतत: (5) अनुभूति की विराटता में **विश्वास**।

इस तरह उनकी वेदना, चिन्तन, दुख-सुख-सामंजस्य, बाहर-भीतर समन्वय, करूणा के दार्शनिक विश्वास–इन पांचों की महाधुरी अनुभूति ही है। इसीलिए वे बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय की मूल्यता कुबूल करती हुई भी अन्तर्जगत की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि को अनमोल मानती हैं। वे अपने अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न करने की विश्वासिनी हैं जिससे कि सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता एक अनिवार्यता हो उठे। इसीलिए उनके लिए 'एकरस अनेक वर्षों की तुलना में', अंतर्मुखी 'सहानुभूति स्नेह, सुख-दुख के कुछ क्षण' ज्यादा मूल्यवान हैं। हमने उनके इस "**घटनाविहीनता के आघात**" का स्पष्टीकरण किया है। बुनियादी तौर पर वे रोमांटिक ही बनी रहीं। अकेलेपन-सूनेपन-अनजानेपन की तत्कालीन आधुनिक दशाओं ने उनमें रोमांटिक आत्मबलिदानी वेदना (रोमेंटिक एगनी) की बूंदे-धाराएं, प्रलय-आंधियां इतनी भर दीं कि उनके निषेध से बन्धनहीन और नैसर्गिक व्यक्तित्व का लीलाकमल नहीं खिल पाया। उनका यह विशिष्ट क्षणभोग ही उन्हें वैयक्तिक कहानी (जीवनी) तथा सामाजिक इतिहास, दोनों के पंथों से अपरिचित और अनचाही बना देता है। इसीलिए उनके सम्पूर्ण कविकर्म में कण और अणु, क्षण और पल,

आंसू और तारे, मोती और चिनगारियां हजारों बार छिटकी हुई हैं। अन्तर्लोक की अनुभूति-धुरी की तरह उनके संबोधनत्रिकोण में 'प्रिय' मध्यबिन्दु है। 'नीहार' में वह 'नायक बिम्ब' के रूपों वाले देव, करूणेश अतिथि, नाविक आदि के स्वकर्म निभाता है। 'रश्मि' में चितेरा और गायक होकर कलाकार-नायक भी बनता है। साथ में अलि और सजनि की स्त्रीलिंगात्मक अस्मिताएं भी हैं। 'सांध्यगीत' तक प्रिय और पाहुन की ज्यादा इयत्ता फैलती है। 'दीपशिखा' में प्रिय का शीर्ष सम्बोधन केवल एक गीत में ही शेष रह जाता है। 'तुम' और 'मैं' का अमूर्तीकरण परिणत हो जाता है।

पुल्लिंग 'तुम' सम्बोधन में अन्तरंग वार्तालाप है: किन्तु स्त्रीलिंग (तू, सजनि) सम्बोधन में आत्मोद्घाटन और आत्मारोपण ज्यादा है। 'वे' में सूचनाएं-सामंजस्य हैं। 'कौन/किस' में रहस्यमयता है तथापि ये सभी 'प्रभु प्रिय' के दोहरे विरोध के प्रतिफलन हैं।

सम्पूर्ण कृतित्व में से कुछ और भी चिनगांरियां दमक उठती हैं। 'नीहार' में स्वप्न, छाया, नींद, माया ज्यादा हैं जो यथार्थता का विभ्रांत निषेधन हैं। किशोरी महादेवी सुधि तथा पीर के द्वारा अपनी यथार्थता और अस्मिता की पहचान करती हुई कुतूहलमय होती हैं (यहां रहस्यमयता लक्षित नहीं है)। यहां वेदना कम है किन्तु मुग्धावस्था की आत्मरति और आत्मपीड़न-रति के बीच सेतु न बन पाने के कारण मरणपीड़ा (एगनी, थैन्टास) कुछ ज्यादा है। अत: इसमें कहीं नखशिख नहीं हैं; कहीं पूरे ऋतुचित्र नहीं हैं; केवल खंडचित्रों की रमणीय लड़ियां हैं। मानवीय सम्बन्धों में संज्ञाएं लगभग नहीं हैं। केवल सर्वनाम (मैं-तुम, वह-कौन, किस-किसे) आदि हैं जो अस्पष्टता फैलाते हैं। मानव-शरीर पूरा नहीं उभरता। आंखे और अधर सर्वाधिक ललित हैं। चरण और कर इसके बाद आते हैं। मनोदेह में प्राण, मन, मानस, उर ज्यादा आये हैं। यहां किशोरी-मन में तो शरीर छूना ही मानो बिजली का गिर जाना है।

रश्मि' और 'नीरजा' में जब यह सुहागिन कुंवारी-कवयित्री सहज होती है तो तुरन्त एक मुग्धा किशोरी की अवस्था में पहुंच जाती है; अन्यथा उम्र से ज्यादा की एक प्रौढ़, वियोगिनी तथा साधिका के रजरंगे चीवरों से अपने को नख-शिख ढांक लेती है। एक तो रश्मि का प्रतीक ही स्पष्ट है; दूसरे यहां नींद ज्यादा है, पथ व चरण कम हैं। "नीरजा" में पग और पद छाने लगते हैं। साथ ही प्रिय भी आ जाता है। 'दीपशिखा' और 'सुभग' भी शायद पहली बार आ जाते हैं। अंधेर है कि अभी तक 'दीपक' कम हैं; 'प्याली' ज्यादा है! 'कली' तो सर्वत्र विद्यमान है। मधुप हैं। किन्तु 'शलभ* कम हैं। यह युवती महादेवी के प्रणय-स्वप्नों के अनुविस्तारण (सेकेंडरी एलाबोरेशन) हैं। यहां 'दीपक' बनाम 'हिम' के

विरोधाभासों से सहज रति और नैतिक निर्मदता के द्वन्द्व की गांठ खुलती हैं। 'सान्ध्यगीत' में अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों से जुड़ी हुई भाषा का मैनरिज्म परिष्कृत हो जाता है। यहां नारीत्व के संस्कारी तथा परम्परागत छवि-बिम्ब को ही आदर्शीकृत और अमूर्तीकृत किया गया है। प्रस्थान और भाषिक विपथन नहीं ही है। यहां प्रिय के लिए 'वह' स्थानापन्न होता है। 'आज' का बोध प्रमुख होने लगता है। इन्द्रधनुष ज्यादा हैं; दामिनी कम है। 'दीपशिखा' में यह सब आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पण और आत्मज्ञान बनकर ज्यादा रहस्यात्मक–बहुधा रहस्यवादी भी–हुआ है। इसमें मरण-स्वप्न-प्रलय की त्रयी भी शक्तिमान है। निर्वाण बहुत बार आया है। कमल तथा कली लगभग गायब हो गयी हैं। प्रलय से जुड़े उल्का, झंझा, तडित्, ज्वाला, चिनगारियां आदि छायी हैं। नगेन्द्र के अनुसार इसमें 'स्पष्टत काम का स्पन्दन है ही।'

वास्तव में भाषिक संरचना और अप्रस्तुतों का शिल्प-कौशल ही ज्यादातर रहस्य फैलाते हैं। अव्यक्त और अपरिचित को खोजने की भावातिशयता तुम, मैं, तुम वह, प्रिय देव आदि की सर्वनामीय भाषा-क्रीड़ा बनती है। इसके मूल में कवि का आत्मगोपन है। वह स्वयं को मिथ्या चेतना की 'छाया' में निरन्तर अपहचानी-अनजानी रखती है; छिपाती हैं, भुलाती है, अजनबी बन जाती है। इसके अलावा वेदना/दुख/करूणा का केन्द्रीय बोध भी उसे बहिर्मुखी नहीं बनने देता। वह अपने को संरक्षित भी रखती है। इसीलिए काव्य में सम्पूर्ण नारी-शरीर या पुरूष-काया नहीं है। पलक, नयन, अधर, चरण ही प्रमुख हैं। इसी के संग सम्पूर्ण शरीर की ऐन्द्रियिक अभिव्यंजना रोमों के द्वारा, तथा भोग की व्यंजना सुरभि के द्वारा की गयी है। नारी के अंगों में पुलक, सिहरन तथा रोमांच (कंटकन) के द्वारा ही सारी कहानी कही गई है; शेष कथा सुधि-सपने, आंसू-हास, शूल-कली; दीपक-कमल आदि पूरी करते हैं।

सम्पूर्ण काव्य में 'आनन्द' और 'अमृत' कहीं भी नहीं हैं। 'ब्रह्म' और 'आत्मा' भी कहीं नहीं हैं। इसी तरह धार्मिक तान्त्रिक-हठयोग की रूढ़ शब्दावली तकरीबन नहीं है (समाधि, निश्वास-श्वास-उच्छ्वास के अतिरिक्त)। सूफी **'प्रेम की पीर'** तथा मधुरोपासना वाली **'प्रेमदीवानीपन'** का संयोग ही महादेवी के अनुभूति-गर्भ का शिशु-सृजन तथा चिरंतन रहस्य है। समूचे काव्य-मंडल में मिथक भी कहीं नहीं है (जबकि सभी छायावादी कवियों ने इसका भरपूर उपयोग किया है)। महादेवी की रचनाधर्मिता में ये उपर्युक्त बिन्दु विलक्षण तथा सकारात्मक हैं। तथापि उनके काव्य की अन्दरूनी बुनावट, तथा चिति के स्वभावों को समझने में उनके काव्य-संग्रहों की भूमिकाएं बेलाग स्पष्टीकरण करने के बजाय बहकाती और भटकाती हैं। वे अपने काव्य-प्रेमियों तक के साथ क्यों ऐसा वाक्छल करती रही थी?

रहस्यवाद भी उनका ऐसा ही चमत्कारिक अवगुंठन था जिसे उन्होंने, उतार फेंककर अनसूया की तरह नैसर्गिक हो जाने की बजाय, अपने 'देवी-साधिका' वाले मिथक को पवित्र-शुद्ध-असीम-अनन्त बनाते जाने में ओढ़े रखा।

'सांध्यगीत' के कुछ आखीरले प्रगीतों में उनके जबर्दस्त विद्रोह और प्रस्थान के लक्षण नज़र आते हैं। उनका सौन्दर्यबोध तथा यथार्थबोध विप्लवी बदलाव की सूचना देते हैं। वे क्षितिज को तोड़कर 'उस ओर' के 'क्या' को देखने की चुनौती मंजूर करती हैं; अपनी छांह (छाया, भावना) को अपने लिए कारा न बनाने का आत्म-तर्क करती हैं तथा वह जलती कहानी भूलने की बात कहती हैं; सामाजिक मुक्ति के लिए कीर का पिंजर खोलने को राज़ी हो जाती हैं; लेकिन 'दीपशिखा' में वे मुक्ति तथा निर्वाण के लिए लौट पड़ती हैं और पुन: दार्शनिक रहस्यवाद से 'लौ' लगा लेती हैं। इस वापसी के कारण भारतीय नारी की विमुक्ति के इतिहास का सही और सच्चा अध्याय कोरा रह जाता है। दुर्भाग्य से उनके बाद इतनी प्रतिभाशली और महिमामयी नारी-कवयित्री ही नहीं आ सकी। वें पंथ को अपरिचित तथा प्राण को अकेला छोड़ देती हैं।

उनकी **'नारी-रहस्यमयता'** (फेमिनीन मिस्टीक) की अतल गहराइयों में ही शायद इसका उत्तर मिले कि आखिर इतनी प्रबुद्ध, प्रसिद्ध और प्रवीण नारी के साथ ऐसा क्यों हुआ? हमारा आधार तो केवल उनका काव्य ही है! अनसूया के 'आद्य नारीत्व-बिम्ब' से तो बहुत ज्यादा ज्योति-पंथ दिखे हैं ही; हमें समाज-सौन्दर्यात्मक (सोश्यो-ऐस्थेटिक) अक्ष पर और भी कुछ प्राप्त हो सकता है।

'नीहार' का अधिकांश मैट्रिक पास होने के पहले लिखा गया है। इसमें सत्रह से बीस साल की कवि के किशोरी-कौतूहल की तथा दमित यौवन की इच्छा-पूर्ति तथा मरण-व्यथा की आकुलता है। कहीं भी आध्यात्मिकता रंचमात्र नहीं हैं। वह अपने यौवन के मधुमास की तीव्र मादकता तथा व्यर्थता का एक साथ खुलकर अनुभव करती है। वह मधुमदिरा, मधुमय पीड़ा, मनमोहन गान, मूक मिलन, मधुमय पीड़ा, मादक राग, और 'विधुर हृदय' आदि का ऐसा वातावरण है जहां चांदनी खाली कलियों के प्याले धोती है और राकेश निशा की अलकें चांदनी में धोती है, लेकिन उसकी मधुवाली मदिरा ढुलका दी जाती है और एवज़ में छोटी जीवन-प्याली पीड़ा से भर दी जाती है। इस अवस्था में यह मूलत: अनंग-पीड़ा है जिसने अंगवीणा के तारों को बिखरा दिया है और वह श्रद्धा-सम्मान तथा पूजा के कैशोर भावों के साथ किसी भी **'अनन्त पथ'** की ओर नहीं जा सकती।

वह चांदनी में भी **'असीम तम'** में सो जाती है क्योंकि 'उसने' छोटी **जीवन प्याली** से उसकी मधुमदिरा ढुलका दी है तथा निष्ठुर काल ने सुकुमार जीवन को पाषाणों का शयनागार दिया है। उसका वह जीवन मधुर था, संगी था, सुभग था (मधुर वह था मेरा जीवन)। वह भोला था। उसे मोह की मदिरा से **'अज्ञान'** बना डाला गया। अत: वह समझ लेती है कि 'विच्छेद' (तलाक) सहन करना पड़ेगा, और छोटी जीवन-प्याली को ऐसा बनाना पड़ेगा कि उसमें सारा संसार डूब जाये। यह उसका लक्ष्य-बिन्दु बनता है। उसे यह भी अभिज्ञान है कि जिसकी उसे खोज है, वह तो **'अज्ञात'** है; जिसे सन्देश भेजा है वह **'शून्य'** है। इसी तरह उसे यह भी ज्ञात है कि उसका एकान्त ही अब उसके 'अनन्त' 'असीम' 'उस पार' का चिरसाथी होगा। एकान्त ही तपोवन है, साधना है, विरागी है। यदि एकान्त न (होकर मिलना/!साथ) होता तो वह सब कुछ होता जो समीर, फूल, निर्झर, वसन्त करता। इसलिए उसका प्यार केवल पागल ही नहीं हैं बल्कि वह एक ऐसा नया और अनोखा संसार चाहता है जिसमें विरोधाभास हो: जैसे सपने पहरेदार हों, सीमा और सीमाहीन मिल जायें, वेदना ही मधुमदिरा की धारा हो जाये; कोमल प्राण बुझ-बुझकर आलोक करते हों, जलने में विश्राम हो, तथा मिटने में **'निर्वाण'** हो। इस तरह उसका 'छोटा दीप' जो मुग्ध, लजीला और नेही है, अब वियोगी, बुझता तथा **निर्वाणोन्मुख** हो जाता है। उसके इस प्रणयदीप में मूक ताप, सुप्त उन्माद, जलते प्राण और छिपे अन्तर्नाद का संचय है। वह अपने को 'नीरस वन का फूल' जैसा पाती है जिसे सूने (एकान्त) में छिन्न, मलिन तथा परिचयहीन बने रहना है ['जिसमें नहीं सुवास'–गीत अत्यन्त महत्व वाला है।]। यह किशोरमना महादेवी की प्रतीकात्मक आत्मकथा है जो स्वयं एक पूरा आलेख है।

'रश्मि' में छोटी प्याली, छोटे दीप और नीरस वनफूल के तादात्मयों से एक अगला कदम रखा गया है। यहां 'जल' के स्थान पर जलने का बोध जागता है। 'रश्मि' उर्फ 'मैं', उर्फ कवि, उर्फ युवती–अजान और मुग्धा है तथा विधु के बिम्ब का पूरक है। वह 'कौतूहल के बाणों' से खिंची आयी है। किन्तु 'तुम' भी मधुमय गान सिखाने, रश्मि बनकर चुपचाप आता है। अर्थात रश्मि–में अर्द्ध-नारीश्वरत्व (हर्माफ्रोडाइटिज्म) है। 'रश्मि' कवि के लिंग-बोध (सेस आफ जेन्डर) को क्षीण कर देती है: किंवा उसे आत्मरत (नार्सीसस) जैसा बना देती है। ये रश्मियां (कौतूहल के अनंग-बाणों-सी) फूलों के उर खुलवाकर मधु भी पीती हैं ('प्राणों के अन्तिम पाहुन')।

यहां 'रश्मि' की सहवर्ती 'कलिका' है जिसकी पूर्णता मधु में छलककर साकार होती है, जिस पर अलि का पहला गान मृदु मुस्कान बनकर थिरकता है। उस किशोरी प्रिया का शरीर

भी तो नवलतिका जैसा है (कंपित हो उठता सुख से भर नवलतिका-सा गात!)। इसमें भी वही चिरकिशोरी प्रिया का बिम्ब है (सजनि तेरे दृग बाल! चकित से विस्मित से दृग बाल) जिसमें मुग्धावस्था वाली हास और अधर और पद की वस्तुरति (फेटिश) है। अपनी आत्मसखी के बाल दृगों से वह 'चातक के (से) बालक-मन को भी देखती है। तब झुलसती तितली और तारे पिघलाती रातों के बीच लज्जा उसकी जीवन-प्याली को निर्द्वन्द्व होकर, मृदु पुलकों के कारण, छलका देती थी। उसके मन-बालशिखी में चपला के बेसुध नर्तन से हूक उठती थी। उन दिनों में उसका जग से परिचय हो रहा था। तब मन आंसू छूते ही मिश्री-सा घुल जाता था; तब मानस मुकुर में अपनेपन की छाया के स्थान पर सबके दुख-सुख प्रतिबिम्बित लगते थे। तब कवि छोटी थी, मामूली थी–विराट संसार से परिचय हो रहा था; हंसी और आंसू दोनों अदल-बदल रहे थे(अन्तर्विरोध खुल रहे थे)। संसार का सत्य पीड़ाएं दे रहा था और मन कुतूहल से भरा था। हंसी और आंसू, दोनों ही शिशुओं जैसे क्रीड़ा कर रहे थे। किन्तु भोलापन चुरा लिया गया अनजाने में; अर्थात भोलापन ही विस्मृत हो गया; विस्मृति का सपना हो गया और उसी सपने ने जीवन के छूकर चौंकाया। इसीलिए साथ-साथ कवि में युवावस्था में ही शारीरिक निर्मदता (शीत की निठुर रात; हिम शीतल चुम्बन; हिम का चिर निष्पन्दनभार; 'कर गया तुझे पाषाण कौन') आदि के सांकेतिक लक्षण महसूस होने लगे।

अत: मन की मुग्धावस्था और रतिकौतूहल, तथा तन में छाती हुई अतृप्ति और ठंडापन मिलकर ऐसा द्वंद्व रचते हैं कि 'पाहन' का रूपान्तरण 'पाहुन' में और बाद में 'प्रतिमा (सांध्यगीत) में होता है। कवि नारी-शरीर का सत्य समझ लेती हैं – भला इस सुन्दर शरीर को तू कैसे संभालकर रख पायेगी जब तू स्वयं 'बीते वसन्त की चिरसमाप्ति' जैसे हो गयी है। तूने तो वह जीवन देखा है जिसमें वसन्त भी पतझर था। अत: तेरा पाहु तो समाधि है अर्थात् तू बीते वसन्त की चिर समाधि है, तू मूक प्राण है, अर्थात् निष्फल पवित्रता (दिन बरसा अपनी स्वर्ण रेणु मैली करता जिसकी न सेज) तथा निष्पंदन (साधिका) की शिकार है! ऐसी मूकता और निष्पंदता में कवि (एकान्तप्रिया होने के बाद तृप्ति के विरूद्ध हो जाती है(चिर तृप्ति कामनाओं का निष्फल कर जाती जीवन) क्योंकि वह जीवन निष्फल करती है, विरक्ति बन जाती है, तथा मधु से मन फिरा देती है। इन लिए वह चाहती है कि यह जीवन चिर अतृप्ति हो तथा मिट जाना ही चिर तृष्णा हो इस दशा में झटके और झोंके की मदु, लघु, सुकुमार और करूण त्रासदियां फैलती जाती हैं–अपरिचित और अनजान! (किसी नक्षत्र लोक से टूट-')। इस चरण में कवि के शब्द-संसार के नये 'रजिस्टर' बनते हैं। दृग बाल, बालक मन, सुकुमार कली की त्रयी उसके 'लौकिक' 'जीवन' को स्मृतियों, सपनों तथा पुलकों में सघनीभूत कर डालते हैं। यहाँ

कवि अपने कुमारित्व पर ज्यादा मानसिक प्रतिबन्ध (टैबू आफ वर्जिनिटी) लगाती चलती है। यहीं उसके नारी-कवि की उभयलिंगी किशोरावस्था भी खूब कुसुमित होती है। चित्रों में वह बन्द कमलों तथा पलक-सीपों के रूप में अंकित हुई है।

'नीरजा' में वह सांकेतिकताओं (एल्यूज़न्स) तथा छायाओं (इल्यूज़न्स) के द्वारा अपने अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकट करती है। अब काव्य-व्यापार ज्यादातर प्रकृति के आंगन में तथा जीवन की सुधियों-सपनों में चलने लगता है अर्थात ज्यादा वैयक्तिक और रहस्यात्मक और सूक्ष्म होने लगता है।

यहां 'पथ' का रूपक बदलते ही पंथ-प्रिय-पग (पद) के सन्दर्भ बदल जाते हैं। प्रथम असीम तम लघुतम जीवन का स्थानापन्न बनता है; फिर 'असीम का सुन्दर मन्दिर' बन जाता है जहां प्रिय का अभिनन्दन श्वासें करती हैं तथा आंसू उसकी पदरज धोने को उमड़े आते हैं। पुलकित रोम अक्षत बन जाते हैं, तथा पीड़ा चन्दन हो जाती है। इस तरह 'शरीर-पवित्रता' की संस्कारी धारणा का नये ढंग से पूजन-अर्चन हुआ है। इस दिशा में पूर्ण आत्मसमर्पण और पूर्ण आत्मपीड़न-रीति की स्वीकृति ही होनी है ('तुम सो जाओ मैं गाऊँ'); प्रिय को असीम बनना है, पथ को अनंत बनना है तथा प्रिय के पदचिन्हों की पथरज को अंजन बनना है। यही सब कुछ होता है।

पथ और प्रिय का द्वन्द्व बन्धन तथा मुक्ति का संघर्ष भी छेडेगा। किन्तु यह संघर्ष अन्तर्जगत में होता है–सपनों तथा सुधियों में; बाहा यथार्थ और संसार में नहीं। अत: पथ अज्ञात होता है, प्रिय दूर होता है; अथवा प्रिय सुधि भूलता है और प्रिया (मैं) पथ भूलती है। वह स्वयं को पथ की निशानी नहीं मानती बल्कि प्रिय की अमर सुहागिनी, मिलनयामिनी में कामिनी तथा मतवाली, भी मानती है। अत: प्रिय और मैं के बीच यह सवाल केन्द्रीभूत होता है: मेरा मुक्ति पथ क्या है और प्रिय-बन्धन कैसा है?

यदि मैं (कवि, नारी, चिति) तुम्हें सपने में बांध पाती तो अपने-में सौ-सौ 'लघुतम' बन्धनों से मुक्ति को भी बांध लेती क्योंकि स्वप्न में बन्दी प्रिय अवचेतन के असीम बन्धनों से मुक्ति दिलाता है, क्योंकि वह सौ-सौ निषेधों, वर्जनाओं, नैतिकताओं आदि के बन्धनों को बन्दनवार बना देता है। आगे वह अपने 'छोटे से' क्षण में चिरजीवन की प्यास बुझा लेती अर्थात् उस छोटे से क्षणभर को उसका मरु उर्वर हो जाये और उपल पुलकित–से निर्झर बन जायें अर्थात् कुंठा और निर्मदता दूर हो! केवल 'क्षण' ही महत् है ('केवल जीवन का क्षण मेरे')। एक क्षण की मुक्ति तथा एक क्षण में कर्म नारी-लालसा की प्रमुख सामाजिक टोह है। वह क्षण भर को गा लेना चाहती है (कुंठाहीन, मुक्त होना चाहती है) क्योंकि संसार-दर्पन में चातक, फूल, दीपक भी ऐसा ही करते हैं। अर्थात 'क्षण' में

कवि **अपनापन** (आइडेंटिटी) खोजती है क्योंकि अपनेपन के **अवगुंठन** के बिना उसका अपलक आनन सूना है ('तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण सूना') जिस तरह शिशुओं के बिना अनसूया-आंगन सूना है (वही;)। अंततः 'मेरा' **अपनापन** 'तेरे' छिपने का **अवगुंठन** बन जाता है ('टूट गया वह दर्पण निर्मम')। यहीं चिति की ग्रंथि खुलती है। उपाय तो द्वन्द्वातीत हो जाने में है क्योंकि "तुम मुझमें हो" (तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या!) कवि के "मैं–तुम" का यह विरोधाभास रहस्य द्वारा नंगा साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसे केवल टाला जाता रहा है।

'कौन तुम मेरे हृदय में?' शीर्षक प्रगीत इसी प्रश्न को आत्मसंघर्ष में धधका देता है। वह ऐसा है (मैं–तो) जो कसक में मिठास तथा नींद में स्वप्न भरता है; जो मुझे बन्दी करके अपनी विजय में बँधता है; जो एक करूण अभाव में तृप्ति है; जो एक लघु क्षण में निर्वाण है; जो मुझे खुद को खोने पर **विपरीत-सा** खोया मिला। अतः मैं जीवन और प्रलय (मैं तो) में एक ही झंकार सुन रही हूं। यह क्यों है? इसलिए कि मैं स्वयं अंतर्विरोधों वाली हूं ('प्रिय! मैं हूं एक पहेली भी!')। मैं स्वयं दुख और सुख दोनों की प्यास-धारा हूं; मेरे रोमों में निर्झर और आग दोनों हैं, और मैं सीमा की गोद में पलकर भी असीम से खेली हुई हूं। यह विरोधों का बाहरी तथा शारीरिक सामंजस्य मनोलोक और अपनेपन में विचित्रता, रमणीयता तथा चमत्कार बन जाता है। इसीलिए "तुम मैं" अंततः "मैं (-तुम-) मैं" में रूपांतरित होकर द्वन्द्वातीत होने की अंतर्मुखी डायलेक्टिक्स पेश करता है। द्वन्द्वों को तीव्र करके समाधान के पथ तो कवि-नारी ने स्वीकार ही नहीं किये क्योंकि वह मिलन-वेला में कुछ जागकर अलस सो गयी (रहस्यमयता), क्योंकि उसके वे स्वप्न, भूलें और मान यहां कांच (की चूड़ियों) से टूटे पड़े हैं; (अवगुंठन) जब वे अवसर गये, तो 'उर तिमिरमय, घर तिमिरमय!' यहां एक बात इसी आत्मसंघर्ष को ज्यादा खोलती है। जब कवि श्रीमती सुभद्राकुमारी से जाकर मिलती तो वे अपने थैले से दो चमकीली चूड़ियां निकालकर हंसती हुई पूछतीं–"पसन्द हैं? मैने दो **तुम्हारे** लिए खरीदीं और दो **अपने** लिए। लाओ अपना हाथ, **मैं तुम्हें**' पहना दूँ, तुम तो पहनने में तोड़ ही दोगी।" ऐसी ही अंतर्मुखी डायलेक्टिक्स के द्वारा कवि एक दूसरा सामंजस्य भी लागू करती है–'जग (करूण-करूण) मैं (मधुर-मधुर)/दोनों मिलकर देते रजकण/चिर करूण मधुर।' केवल एक बार इसे वे सामाजिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों में लाकर ('जाग बेसुध जाग') करूणा के दुलारे सिद्धार्थ तथा वृंदाविपिन वाले कृष्ण के क्रमशः दुख और संताप में तथा शंख और मुरली के प्रकार्यों में बहिर्मुखी करती हैं। किन्तु तर्कणा फिर भी अंतर्मुखी रही है जिसमें अज्ञानता तथा अस्पष्टता निश्चित रूप से अंतर्निहित रहेगी-'जान न पायी अपना ही उर/तुमको क्या बांधूं छायातन!'

अतएव मुक्ति-बन्धन का अंतर्विरोध केवल सौन्दर्यशाली चमत्कार-न्याय से "तुम≤ मैं" की समरसता बन जाता है तथा रहस्यात्मक अवगुंठनों में प्रतीकार्थों के अनेक बाण छोड़ने लगता है।

'वह' और 'तुम' और 'प्रिय' एक से हैं। 'मैं' और 'अलि' या 'सजनि भी एक सी हैं'।

इस पहेली का खुलाव रहस्यवाद नहीं है। वह तो बस संगति बैठाता है। जीवन की पवित्रता तथा शरीर की शुचिता की जीवन-दृष्टि ग्रहण करने पर यह सम्बन्ध-ग्राम गहरी **अर्थमीमांसक** संरचनाएं (डीप सीमेंटिक स्ट्रक्चर्स) रचता है।

एक खास ढंग से गांठ खुलती है:-'मुझमें हो तो आज तुम्ही' 'मैं'/बन दुख की घड़ियां देखो!/मेरे गीले पलक छुओ मत/मुर्झाई कलियां देखो!' यदि तुम 'मुझमें हो' (मनोदेशी/मनोज़ हो) तो 'मैं' बनकर दुख की घड़ियां देखो अर्थात् मैं ≤ तुम; मैं = तुम (विश्व); मैं = मैं (जग)। यहां सचेतनता-भूमि पर विरूद्धों का समन्वय तथा एकात्म हुआ है।

अब इसका विस्तार आगे है – 'जब **मैंने** अपने प्राणों में **प्रिय** की छांह छिपा ली'। आगे: 'काया छाया में रहस्यमय! प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या!' आगे: 'तम ही तुम हो और विश्व में मेरा चिरपरिचित सूनापन/मेरी छाया हो मुझमें लय/छाया में संसृति का स्पंदन–'। अनुमान हुआ कि "नीहार"-वाला असीम तम ही प्रियतम अर्थात् प्रियतम अर्थात् प्रिय बन गया (इस असीम तम में मिलकर मुझको पलभर सो जाने दो)। यह प्रियतम 'छाया' भी हो गया जिससे (नारी) काया प्रेयसि हुई। किन्तु यह तो स्वयं नारी-काया की ही छाया होकर "अर्द्धनारीश्वरत्वग्रन्थि" का अनूठा और अद्भुत उद्घाटन है। वस्तुत: प्रिय कायातन न होकर छायातन है ('जान न पायी अपना ही उदर/तुमको क्या बांधू छायातन!')। लगता है कि विभक्त मनस्कता में कवि की आत्मरक्षक वृत्ति मूलत: काममय है लेकिन उसका ही नारी-अहं साध्य भी हो गया है। साधन उसकी काया है। यह "स्व-रति" (ऑटो-इरोटिसिज्म) ही है। उसकी लुब्धा (लिबिडो) अहं में ही स्थित है तथा आत्मोन्मुखी (सेल्फ-डाइरेक्टेड) है। कामुक वृत्ति पर अहंवृत्ति की विजय हो जाती है (कौन बन्दी कर मुझे अब बंध गया अपनी विजय में)।

इस 'प्रिय' और 'तम' का अगला आयाम यूं हैं–'प्रिय, तुमने अर्थात् जिसने' (प्रिय जिसने दुख पाला हो).....,अर्थात् [मेरी तरह] जिसने, [उसे मैं आंसुओं की जयमाला से स्वयं वरूंगी.....] अर्थात् 'प्रिय' अर्थात् 'तुम' अर्थात् 'मेरे जैसे' 'अर्थात् वही मेरा वरेण्य पुरूष या तादात्म्य है। यहां "प्रिय= मेरे जैसा" का समीकरण है। यह एक "चिरंतन पुरूषत्व"

(ईटर्नल मैस्कुलिन) की खोज है। नारीत्व के जैसा पुरूषत्व! एक असम्भव आदर्शीकरण! ! ! ! किन्तु इस प्रिय पथ अथवा प्रिय-पंथ का कण-कण आकर्षण है और यह नादान उलझन नहीं सुलझती ('दूर घर मैं पथ से अनजान')। अंततः वह आत्मोद्घाटन करती है–'यह क्षण क्या? द्रुत मेरा स्पंदन;/यह रज क्या? नव मेरा मृदु तन;/यह जग क्या? मेरा लघु दर्पण;'/प्रिय तुम क्या? चिर मेरे जीवन;/' इतने आत्मोद्घाटनों के बाद आरोपित प्रतीकों को उधेड़कर आत्मभर्त्सना करती हुई नारी सहज और सरल हो उठती है–'मिथ्या, प्रिय मेरा अवगुंठन,/पाप-शाप, मेरा भोलापन!/चरम सत्य; यह सुधि का दंशन;/अन्तहीन, मेरा करूणा-कण;/यूं वह उसी आरंभिक मूर्त यथार्थता को शिरोधार्य कर लेती है।

लगता है कि 'प्रभु/प्रिय' के संरचनात्मक पुलिन्दे से महादेवी 'दिव्य/मानुषी' पुरुष के रूप में ऐसे "प्रिय" की स्व-रचना करना चाहती हैं जो उसके सूनेपन को भरे, जो उस जैसा हो, जो उसका हो, जो उभयलिंगी अर्थात् अर्द्धनारीश्वरत्व हो। अतः ऐसा प्रिय अमूर्त और आध्यात्मिक प्रतीत होने लगता है क्योंकि वह चाहती है कि ऐसा प्रिय उस पर शासन न करे और उससे पार्थिव यौन-तृप्ति भी न मांगे बल्कि चिर प्यास देता रहे। तथापि स्त्री-जीवन को जो आदिम और चिरंतन 'पहेली' है – जो सेक्स-प्रेम-स्थायित्व की त्रयी है और प्रिय-पति-पुत्र के त्रिकोण से उसे बांधती है वह 'उलझन' ही बनी रह जाती है।

"सांध्यगीत" में आकर यह पूर्ण युवती किशोरता तथा भोलेपन से अलविदा ले लेती है क्योंकि अब उसकी उम्र सत्ताईस से उन्तीस साल की है। यह सांध्य-भाव उसे समकालीन समय-चेतना अर्थात् 'आज" से बड़े समर्थ ढंग से जोड़ता है ['क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं'..... 'तारक-लोचन से सींच-नीच नभ करता रज को विरज आज'....क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे?'..... आज विस्मृति-पंथ में निधि से मिले पद-चिह्न उनके'.... आदि] वर्तमान-काल के प्रति जागरूकता ऐसी नारी-चेतना को जग तथा युग के नज़दीक लाती है। अतः अब दूसरा संस्कार 'नीरजा' कालीन "छाया" का होता है। वस्तुतः यह छायावाद की छायामयी की आत्मगोपनता तथा आत्मरक्षा है।

अब उसका प्रियतम छाया नहीं है; अब खुद उसकी ही छाया का उलझाव नहीं है; बल्कि वह 'किसी की मूक छाया' है। वह अपनी सज़नि को बताती है कि 'छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर प्रात में हंस छिप गयी ले छलकते युग यामिनी मैं!' यहां नारी-चेतना को पुरुष की आकांश की अनुगामिनी तथा अनुरागिनी होने की दशा तो है किन्तु वह केवल कुछ सूने पहरों तक ही चली। उसमें एक गहरा द्वन्द्व है: "मिलन-मन्दिर

में उठा दूं जो सुमुख से सजल 'गुण्ठन'... सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूं अभिमानिनी मैं!'' महादेवी की नारीचिति का यह **'अपनापन'** (निजत्व) ही उनकी नारी-रहस्यमयता. ..... (फेमिनीन मिस्टीक) है अर्थात् 'अवगुण्ठन, है। उनके सामाजिक व्यवहारों में ये दोनों उन्हें बेहद अभिमानिनी बना चुके हैं। अतएव 'अपनापन–अभिमान–अवगुण्ठन–' के इस त्रिकोण में केवल आध्यात्मिकता को ही थोपना, महज सौन्दर्यात्मक विसंगति होगी। इसी मनोदशा के कारण इस सृजन-चरण में उन्हें प्रिय के लिए ''वह'' सर्वनाम ज्यादा सुप्रिय हो गया। अभिमान अर्थात् 'सुपरईगो' की साधक नैतिकता का यह उद्घाटन कवि के भावों के इतिहास की कई समस्याएं सुलझा सकता है।

मसलन, वह स्पष्टतया स्वीकार करती हैं कि 'पद चले जीवन चला पलकें चलीं स्पन्दन ही चल,/किन्तु चला जा रहा मेरा क्षितिज भी दूर धूमिल,'/पहले मधुभरी प्यालियां ढुलका दी गयी थीं। उन्हें पीड़ा से भरा गया था। अब प्यालियों में हलाहल बांटा गया है। यह हलाहल भी आँसुओं में घुलकर हाला हो जाता है जिसकी खुमारी से विश्व झूमता है तथा नक्षत्र भी घूमते हैं। फिर भी, अगर, आज तक, 'तुम' घना अँधेरा बनकर साधकर **रंगीला अवगुंठन** उठाते और आंसुओं की रेखा गिन लेते।' यह हविश ही नारी के मिलन-पथ को 'अनन्त' बना देता है। इस जीवन-चरण में कवि-नारी आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण की अपेक्षा आत्म-विश्लेषण की ओर ज्यादा उन्मुख हो रही है।

कवि आत्मसंशय करती है कि ऐसा ही क्यों रहा है? पपीहे के प्रिय और अपने प्रिय की भावना के बीच एक नाटकीय संवाद-गीत [रे पपीहे पी कहाँ] में कवि एक तो स्वयं पपीहे जैसी हो जाती है दूसरे यही पाती है कि उसका प्रिय तो उर में बसता है तथापि उसका प्रिय समाकर भी उसके प्राण कहाँ नाप पाता है? उसका जीवन तो प्यास ही है। अत: वह तृप्ति में कहाँ जी सकेगी? वह यदि दीप-सी न जलती और (आंसू से सजल न होती) तो यह सजलता कहां रहती ? इस गीत की तार्किक योजना में ही चमत्कार है। उसे पुरुष-शरीर के स्पर्श का सलज्ज और सरज आतंक इतना है कि एक तो वह उसे दिव्य (दिव) मान लेती है; दूसरे उसे पता है कि छूने पर अपनी चित्रमय क्रीड़ा तो अधूरी रह जायेगी। इसलिए वह दूर रहकर खेलने का आत्मसंयम बांधती है। जब हृदय हठ करता है तो वह पलकें मूंदकर रात करती है; वह चिन्मय आराध्य की मृण्मयी अनुरागिनी है। इसकी वजह भी साफ़ है। कवि ने बड़े लम्बे अभ्यास (युगों की साधना) से प्राण का क्रन्दन सुलाया है तब आज यह लघुजीवन किसी निस्सीम प्रियतम में समाया है। अत: अरुण वासना (मादक रंग-राग वाली) उषा इस पथ में राग छलकाली मत हँसे! (दे. 'ओ अरुण वसना!')। कारण कि, अब दूरी और देरी हो चुकी है (दिव अब वरदान कैसा!), अत: अब

तो मैं ही भाला बन जाती हूं और मेरा हृदय वेध दो। इसमें प्रतिकूल है भी क्या ? यदि मैं तुम्हें इस कूल ही पहचान लूं तो उस कूल में क्या है?

आत्म-विश्लेषण कवि-नारी को एक अन्तर्निहित मोहभंग की दशा का 'निष्ठुर' साक्षात्कार कराता है। आज तो 'वेदना लौट रही है विफल खोए स्वप्न गिन के;'। पपीहे से उसके पी का पता पूछने वाली नारी प्रतीकतया कीर का पिंजर खोलने का फ़र्मान देती है क्योंकि यह युगों का अलस बन्दी शिथिल कारा को ही ले उड़ेगा, क्योंकि घायल परों का सारा विभव जाग उठा है।

जीवन-बोध और सौन्दर्य-बोध में इस परिवर्तन का प्रमाण यह है कि काव्य की मिथ्या चेतना के स्थान पर सामाजिक चेतना का उन्मेष होता है। अब तक के काया-छाया वाले द्वन्द्व के बाबत फैसलाकुन जवाब देती है–'तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना।' अब कोकिल के यह राग गाने पर 'मेरे रोम में सुकुमार उठते विश्व के दुख जाग।' अब वह यह भी बता देती है–'पंथ बिन अन्त, पथिक छायामय,/साथ कुहकिनी रात री!'

"दीपशिखा' में पूर्ववर्ती आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति आत्म-संदर्शन में चरमोत्कर्ष प्राप्त कर लेती है। कवि-नारी की जीवन दृष्टि तथा जीवन दर्शन, दोनों सूक्ष्मता, बौद्धिकता और सघनता के शिखर छू लेते हैं। 'सांध्यगीत' से जो **एक स्पन्दित मृत्यु की छाया'** (आ०कवि०, भूमिका 31) भी झिलमिलाने लगती है, वह यहां एक ओर तो प्रलय तथा आंधी के आतंक एवं संघर्ष में ढलती है तो दूसरी ओर विद्युत् तथा चिनगारियों के माध्यम से मृत्यु बनाम निर्वाण के अन्तर्दर्शन के प्रबल आत्मविश्वास पाती है जिसमें आत्मोत्कर्ष, आत्मोत्सर्ग तथा आत्मदर्शन निरूपित होता है। 'नीहार' और 'दीपशिखा' में प्रयुक्त निर्वाण, स्वप्न, जैसे शब्दों की तुलना, अथवा 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' में प्रयुक्त चंचला (तड़ित्/दामिनी) और दीप जैसे शब्दों की तुलना ही मानसिक उत्थान को परिलक्षित कर देती है। अलबत्ता 'सांध्यगीत की अन्तिम अवस्था में कवि में जो सामाजिक चेतना का हाशिया खुला था, इस संग्रह में उस दिशा से भी मोड़ आया है और कवि ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिक दर्शनाभासों के प्रभामण्डल में गयी है।

'सांध्यगीत' तक भी मधुर मधु की यामिनी, निशि के कुन्तल, मृदु उर, गुदगुदाता वात, स्नात चंचला, सांवली बरसात आदि जो संकेतक और बिम्ब आ गए थे वे यहां लगभग नहीं हैं अर्थात् मधुरता और पीड़ा के वातावरण का विलयन होता है/आत्मशुचिता और आत्मदर्शन की अवस्था के लिए पूजा का रूपक तथा पवित्र भावन कई ढंग से पुन: -संस्कारित होती है:'–शून्य मन्दिर (सूने घर) में बनूंगी आज **मैं** प्रतिमा तुम्हारी' वाली मन:स्थिति अब 'यह

मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो' (मैं [प्रतिमा] = यह [दीप] में बदलती है जहां पहले के 'दुख मेरा पुजारी' के बजाय 'ज्योति का यह लघु प्रहरी पुजारी' बन जाता है। पवित्रता और शुचिता के अनुभावक 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन', अथवा 'धूप-सा जन दीप-सी मैं', हो जाते हैं। पहले तक ये शूल कई बार तीर और उर बेधने वाले बाण भी बने हैं, तथा रज भी शय्या पर रंग गयी है।

प्रौढ़ वय वाली महादेवी जैसी बुद्धिजीवी नारी की 'चिति' एवं 'चेतना' में ऐसी तब्दीली के मनोसामाजिक कारण ज्यादा प्रखर रहे होंगे। वह स्वयं भी कही-कहीं अतीत के इतिहास और अनुभव-संसार का लेखा-जोखा कर डालती हैं–"आज तार मिला चुकी हूं!..... यह अनामा रगिनी अब सांस में ठहरा चुकी हूं! ...एक स्वर में विश्व की दोहरी कथा कहला चुकी हूं!..... एक ही झंकार में अश्रु-हास घुला चुकी हूं!... राग में अपने कहो किसको न पार बुला चुकी हूं!..... पर न मैं अब तक व्यथा का छन्द अन्तिम गा चुकी हूं....!'' अब तक वे "उनके स्वर से अन्तर भरने,/उस गति को निज गाथा करने,/ उनके पदचिह्न बसाने को,/ मैं रचती नित परदेश रही!''

अत: अब तक वह ज्यादातर भावक्षेत्र में विरुद्धों के असम्भव तथा चमत्कारिक अन्तर्विलयन ही करती रही और इससे आज तक भी उसका पन्थ अपरिचित बना रहा तथा प्राण अकेला रहा। वह मेघ-सी घिरी और झर भी चली। इसी प्रति-कर्म के कारण पहले भी 'परिचय इतना इतिहास यही/उमड़ी कल थी मिट आज चली!'। 'दीपशिखा' में यह 'नीर भरी दुख की बदली' अब 'मेघ-सी' हो गयी है अर्थात् वह पन्थ के हर शूल का मुख मोतियों से भर चली है, रज में गगन का दर्प लेकर सहज उतर-निखर चली है, वेदना-पायी धरोहर, अश्रु की निधि धर चली है, जीवन के प्रश्न स्वयं मिट आज उतर कर चली है।' इस तरह वह अपने अन्तर्जगत के पूरे इतिहास-कर्म का लेखा-जोखा इसी संग्रह में करती हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में अभिमानिनी कवि-नारी का अपनत्व आत्मगर्व अथवा विश्वास में दीप्त हो उठता है ['नीहार' का मेरा लघु दीप, 'नीरजा' का मधुर-मधुर मेरा दीपक, 'दीपशिखा' में 'दीप मेरे जल अकम्पित्/घुल अंचचल !' हो जाता है]। 'प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं' अथवा 'मेरी पी रही कब साध/जग होता तनिक अनुकूल ?', अथवा 'वरद मैं मुझे, कौन वरदान देगा?' जैसे कवि-कथन निर्णय और निष्कर्ष का दर्जा पा लेते हैं। ये प्रबल आत्म-विश्वास और अहंलीनता के सुफलागम हैं।

इसी चिन्तन-दशा में कवि अब "मैं (मन) ≤ तन'' के, अथवा "तन ≤ मन'' के सम्बन्धों का भी अनुचिन्तन करती है। पवित्र अग्नि-शुद्धि वाले रूपक के अनुसार -

'धूप-सा तन दीप-सी मैं' के रिश्ते हैं तो अन्तर्मुखी रोमांटिक मरणपीड़ा वाले रूपक के अनुसार 'मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है।' ढलती उमर और प्रौढ़ चिन्तन अन्ततोगत्वा रहस्यवाद की अपेक्षा परिणामों के उत्कर्ष पेश करते हैं। आत्मपीड़न-रति की पूर्ववर्ती मधुरता अब मृत्यु-छाया भी बनने लगती है ('आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन और समीप-सी मैं!')। इसी तरह 'घुले' हुए तन और 'जले' हुए मन की दशा में चेतना का स्वर्ण जलती वेदना में 'गल' चुकता है अर्थात् चेतना अग्निधर्मा (सत्वप्रधान) हो गयी है। अब 'शिथिल कर से सुभग सुधि-पतवार भी बिछल चुका है।' पहले तन-मन के रिश्तों में दीप-सी जलने (तन) और आंसू से सजल (मन) रहने की, अथवा 'नयनों में दीपक-से जलते/पलकों में निर्झरिणी मचली' की अवस्थाएं (सांध्यगीत) थीं। इसके साथ-साथ ही शलभ-दीप के रिश्ते उभरे - (शलभ मैं शापमय वर हूं!/किसी का दीप निष्ठुर हूं!')। यहां कवि 'शून्य मन्दिर' के स्थान पर 'मृत्यु मन्दिर' और 'राख का घर' भी है तथा 'दिवस की चाह का शर' और 'विरह में चिर' भी है। लेकिन कवि इस अन्तर को स्पष्ट करती है [क्या जलने की रीति शलभ समझा दीपक जाना?] जिसके लिए उसे जल/निर्झर की विरोधमूलकता छोड़नी पड़ी। अब दीपक की धूमरेखा और शलभ के झुलसे पंख, दीपक का आलोक और शलभ का क्रन्दन अलग-अलग होते हैं। इसके साथ ही कवि का 'मेरा प्रिय चिर दीप' अथवा 'मेरा प्रिय (वह) चिर दीप' जैसा सिद्ध होता है – जिसे छूकर जीवन जल उठता है; जिसमें दीपक का आलोक तथा शलभ का क्रन्दन मिला है। इसीलिए प्रभावधर्मता के कारण "दीपशिखा' में ('-आँसुओं के देश में!-') निशा के शेष में स्वयं शलभ जलकर दीप बन जाता है। "दीपशिखा'' में इस तरह दीप-शलभ समान तथा एकैक हो गए हैं। तन और मन, दोनों का सात्विकीरण तथा अपोलो कैथार्सिस हो गया है। इसी तन ≤ मन के द्वन्द्व तथा द्वैत का आकल्पन कई बार मिलन-विरह के विरोधी सामंजस्यों में हुआ है। आदर्शवादी भाव-सौन्दर्य बोध के मुताबिक इनकी एकता **तिमिर** फैलाती है तथा दूरी रूप-शतदल खिलाती है। मिलन क्षण है, जबकि विरह युग है **[दि० 'मैं** न यह पथ जानती री!]। इसी भावात्मक यथार्थता के मध्य यह नारी इस तरह **से** जीती चली आयी – 'पन्थ को निर्वाण माना,/शूल को वरदान जाना / जानते यह चरण कण-कण छू मिलन-उत्सव मनाना!.... प्यास ही से भर लिए अभिसार रीते! निमिष से मेरे विरह के कल्प बीते!' अत: 'दीपशिखा' में वह मलय मारुत से मतवाले झकोरे को लौटा देती है क्योंकि अब शेष हैं, 'प्यालियां रीती कली की,/शन्य पल्लव के कटोरे!'

इतनी पवित्रता और शुचिता के बाद अब उसे यह सत्य ज्यादा प्रासंगिक लगता है कि उसका चंचल जीवन-बाल धूल-भरा ही आया है, उसका मन अंगार- खिलौनों का अनुरागी था,

गाढ़े विषाद ने उसके अंग पंकिल कर दिए, उसके पगों में व्यथा के दुर्मिल शूल बिंध गए, उसे शत-शत प्यासों की लुभाती छाया चलाती रही और फिर उसे मृत्यु-जननी ने ही अंक लगाया। "नीहार-रश्मि" के 'दृग-बाल' तथा 'बालक-मन' का 'जीवन-बाल' में यह विराटीकरण एक पूरे अनुभूति के इतिहास की भी व्याख्या करता है।

ऐसा ही दूसरा कंस्ट्रास्ट पूर्ववर्ती मलय, मारुत, सुरभि, वात, समीर आदि के मुकाबले में 'दीपशिखा' में व्यंजित प्रलय, झंझा, आंधी, अंगारे, ज्वालाएं, चिनगारियों आदि के परिवेश में परिलक्षित होता है। यह नया परिवेश बाहर के सामाजिक संघर्षों, राजनैतिक आन्दोलनों और सांस्कृतिक विद्रोह का मिला-जुला तथा संकेतात्मक-प्रतीकात्मक संघनीकरण है।

इस भांति प्रिय पथ और प्रिय-पन्थ से लेकर अग्निपथ तक की ये अन्तर्यात्राएं कवि महादेवी की अतीत की 'कहानी', शेष 'कथा', अन्तर्मुखी 'इतिहास' आदि को भी तम के परदों से बाहर ले आती हैं। इस काव्यरूप इतिहास-कथा में कार्य-कारण की एकता वाली भूमिका 'प्रिय" करता है, अन्तर्द्वन्द्वों को उद्घाटित "मैं-तुम" के सम्बन्ध करते हैं; आत्मनिर्वासन और अजनबीपन की अव्याख्याएं "वह" करता है। अंततः अर्द्धनारीश्वरत्व ही उसकी 'नारी-रहस्यमयता' (फेमिनीन-मिस्टीक) को क्षणालौकिक तथा क्षीणालोकित करता है।

यह आत्मेतिहास काव्यबिम्बों तथा सौन्दर्य-प्रतीकों के सूक्ष्म तथ्यों तथा भावों द्वारा लिखा गया है। 'नीहार' में छोटे दीप, छोटी प्याली, वनफूल के केन्द्रीय बिन्दु हैं; – 'रश्मि' में रश्मि और कली है; 'नीरजा' में प्रिय पथ, मुक्ति-बन्धन, दीप-कमल आदि हैं; 'सांध्यगीत' में शलभ-दीप, चंचला-संजनि आदि हैं; तथा 'दीपशिखा' में मृत्यु-निर्वाण, प्रलय-ज्वाला, प्राण-पन्थ आदि हैं।

पांच काव्य-कृतियों के माध्यम से कवियत्री के "**भावों के इतिहास**" का अवगुंठित तथा नन्दतिक अभ्यास ऐसा ही हो सकता है।

8. उर्वशी : दर्शन और काव्य

गजानन माधव मुक्तिबोध

भगवतशरणजी उपाध्याय ने 'कल्पना' के अप्रैल 1962 के अंक में 'उर्वशी' की जो आलोचना प्रस्तुत की है वह बाहर से भीतर की ओर यात्रा है; और इस प्रकार की यात्रा के जो खतरे होते हैं वे भी उसमें हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के ज़ोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखाई देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसीलिए भगवतशरणजी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है।

लेख अत्यन्त रोचक, पाण्डित्य-पूर्ण और प्रखर है। उसकी मूल आत्मा से मेरी अनायास सहमति हो जाती है; किन्तु अपने विचारों को या अभिमत को सिद्ध करने के लिए जो उदाहरण या प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे सब जगह सही नहीं मालूम होते। वे अनुचित भी मालूम होते हैं। भगवतशरणजी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियाँ न आ पातीं।

उदाहरण के लिए, 'उर्वशी' के कथा-तत्व या कहिए ऐतिहासिक पक्ष को हम लें। माना कि दिनकर ने बहुत समारोहपूर्वक अपनी कृति 'उर्वशी' के चारों ओर एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोकवलय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु, इससे 'उर्वशी' ऐतिहासिक काव्य नहीं हो जाता। दिनकर का प्रयत्न यह है कि वह एक पुरानी सांस्कृतिक परम्परा से अपने को जोड़ें। किन्तु, वेदपुराण-कालिदास आदि के पास उस काम-रहस्य (मेरा मतलब रहस्यवादी दर्शन से है) के सूत्र नहीं हैं जो 'उर्वशी' में पाये जाते हैं। निस्सन्देह प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है प्राचीन आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक जगत में, परम तत्व के साक्षात्कार के लिए काम-मार्ग नहीं चुना गया, और यह सिद्धों और तान्त्रिकों की, और उनसे प्रभावित अन्य मार्गों की देन है। दिनकर ने कालिदास की कृतियों, पुराणों और वेदों से न केवल कथा-तत्व या ऐतिहासिक पक्ष लिया, वरन् एक काव्य-संस्कृति ग्रहण करने का आभास उत्पन्न किया, और उस प्राचीन सौन्दर्यपूर्ण सांस्कृतिक उन्मेष के साथ-ही-साथ, मध्ययुग के सूर्योदय काल में उपस्थित सिद्धों-तान्त्रिकों की काम-साधना ली और फिर इन दोनों को एकभूत करने का प्रयत्न कर दिय।। सिद्ध और तान्त्रिक ऐश्वर्य नहीं चाहते थे। दिनकर ऐश्वर्यपूर्ण विलास चाहते हैं, जिसका सम्मोहक आलोक-मण्डल उन्हें प्राचीन काव्य-संस्कृति में दिखाई दिया। किन्तु, उन्हें प्राचीन कवि-मनीषियों के पास साधना का कोई काम-मार्ग

नहीं मिला। सिद्धों और तान्त्रिकों में उन्हें वह दिखाई दिया। इसलिए, कविस्वभावानुसार उन्होंने दोनों को मिलाकर 'उर्वशी' का रूप-स्वरूप तैयार किया।

ऐसा उन्हें क्यों करना पड़ा? कौन सी वह मूल वृत्ति है जिसके फलस्वरूप उन्हें प्राचीन और मध्ययुगीन उत्सों की ओर जाना पड़ा? वह है दुर्दम, ऐश्वर्य-पूर्ण-काम-विलास की व्याकुल इच्छा, और उसकी तृप्ति के औचित्य की स्थापना की आकांक्षा। चूँकि इस प्रकार की इच्छापूर्ति के औचित्य का सर्वोच्च विधान आध्यात्मिक-रहस्यवाद ही हो सकता है, इसलिए उन्होंने सिद्धों के 'महासुखवाद' का पल्ला पकड़ा।

पुरूरवा-उर्वशी के कथानक ने लेखक की कल्पना को झकझोर दिया। उस कथानक ने एक बृहद् कल्पना-स्वप्न प्रदान किया, जिसमें दिनकर की मूल इच्छा-वृत्तियों का परितोष होता था। 'उर्वशी' एक बृहद् कल्पना-स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से, लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शीकरण करता है और उन्हें एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानक की ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।

यहाँ यह आपत्ति की जायेगी कि पुरूरवा-उर्वशी की कथा वस्तुत: एक चौखटा है, एक ढाँचा है। उसे कल्पना-स्वप्न कहना निराधार है। किन्तु मैं अपने पाठकों का ध्यान इस तथ्य के प्रति आकर्षित करना चाहता हूँ कि कोई भी कथा-अपने कथा-रूप में-लेखक को (अपने विशेष उपयोग के लिए) आकर्षक तब प्रतीत होती है जब वह एक कल्पना-स्वप्न बनकर उसके मनश्चक्षुओं के सामने तैर उठती है—एक ऐसा कल्पना-स्वप्न जिसमें उसकी (लेखक की) आत्म-वृत्तियों को तृप्ति और सन्तोष प्राप्त होता हो। इस विशेष अर्थ में, मैं किसी भी कथा को—विशेषकर आत्मपरक काव्य के रचयिता-द्वारा अपने उपयोग के लिए चुनी गयी कथा को—एक बृहद् कल्पना-स्वप्न कह देता हूँ, भले ही 'कामायनी' की कथा हो या पुरूरवा-उर्वशी की। हाँ यह सही है कि काव्य में उसी कथा को उपस्थित करते हुए उसे स्व-बाह्य वस्तुपरक रूप और आभा प्रदान की जा सकती है, की जाती है; किन्तु मूल रूप में वह केवल एक कल्पना-स्वप्न ही रहता है। जिसमें लेखक की आत्म-वृत्तियों का परितोष और परिपोष तथा विश्व-बोध प्रकट होता है। और लेखक उस कल्पना-स्वप्न या कथा के द्वारा अपना अन्तर्जगत और उस अन्तर्जगत् में संचित विश्व-बोध प्रकट करता है।

'उर्वशी' की रचना इतिहास-शास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं की गयी है। उसका उद्देश्य प्राचीन आनन्द जीवन के वस्तुतथ्यों के भूगोल-इतिहास को, दिक्-काल, को उपस्थित करना नहीं है। वह एक ऐसा काव्य है, जिसमें प्राचीन जीवन के मनोहर वातावरण की कवि-प्रणीत कल्पना को बृहद् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

ऐसी स्थिति में भगवतीशरणजी की यह आपत्ति कि उसमें 'अयस्कान्त' और 'शरभ'-जैसे शब्द, जो उस समय प्रचलित नहीं थे, प्रयुक्त क्यों किये गये, हमें युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। इस आपत्ति का आधार केवल यही हो सकता है कि 'उर्वशी' का कवि 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक का लेखक होने के कारण अपने को इतिहासशास्त्री बनाने का आडम्बर भी तो करता है। 'उर्वशी' में स्वाभाविकता के स्थान पर, शब्द-जाल और आडम्बर होने के कारण दिनकर के प्रति इस प्रकार के सन्देह की पुष्टि होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन-द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी में खूब ही हैं, रहे हैं। ऐसी स्थिति में दम्भ और आडम्बर का उद्‌घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है। मैने सुना है 'उर्वशी' किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने जा रही है। अगर यह सच है तो उसे ऐतिहासिकता की दृष्टि से सुसंगत काव्य माननेवाले भी कम नहीं रहेंगें। इस सम्भावना को ध्यान में रखकर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'उर्वशी' के तथाकथित ऐतिहासिक पक्ष की भगवतीशरणजी ने जो आलोचना की है वह महत्वपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी है।

'उर्वशी का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है। कामात्मक इन्द्रिय-संवेदनाओं के जाल में खो जाने के क्षणों में उनका आध्यात्मिकीकरण नहीं किया जा सकता। न किसी दार्शनिक भावना का, न ही धर्म-भावना का बोध हमें उस समय होता है। हमारा समाज इस समय न मोहन्जोदड़ो के युग में है न वज्रयानियों के युग में, जहाँ यौन अनुभव के क्षणों को धार्मिक-मनोवैज्ञानिक रूप दिया जा सके। हाँ यह सही है कि एक फ्रान्सीसी उपन्यासकार ज्यूल रोमे के 'बॉडीज रैप्चर' (अँगरेजी में अनुवादित) नामक उपन्यास की नायिका सम्भोग की नग्नावस्था में पुरूष की नग्नावस्था के प्रतीक को (भारतीय) शिवलिंग मानकर रति-विधान करती है। किन्तु एक क्षण-भर के लिए उसका वह रहस्यवाद जीवनशास्त्रीय प्रगाढ़ सुख का साधन है, न कि साध्य, लक्ष्य या आदर्श। क्षण-भर के लिए उसकी कल्पना का वह खेल था।

किन्तु यहाँ बात उलटी है। लेखक ने यह स्थापित करना चाहा है कि कुछ 'प्रज्ञावान भोगियों के लिए' ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों की परिणति अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि में होती है। क्या उनका मतलब सिद्धों और तान्त्रिकों से है? इस समय वे कहाँ हैं? क्या इस प्रकार की उपलब्धि पुरूरवा और उर्वशी को हुई थी? क्या सचमुच हुई थी? और यदि हुई थी तो उससे दिनकर जी ने क्या ग्रहण किया? वे क्या स्थापित करना चाहते हैं?

और यदि ऐसी उपलब्धि सचमुच हुई होती तो भारत के विभिन्न मार्गों (धर्मों) में जितेन्द्रियत्व का इतना महत्व न होता। फिर, प्रश्न यह उठता है कि आखिर दिनकर इस 'लाइन' की पैरवी क्यों कर रहे हैं? क्या उनकी मन्शा पर शक करना ग़लत है? कौन हैं वे प्रज्ञावान भोगी जिन्हें रति-सुख की चरम परिणति से अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारत में उपलब्ध हैं? और क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जाना चाहिए, किया जा सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर जवाब दें।

रति-सुख की समुत्तेजित कल्पना-द्वारा, पुरूरवा और उर्वशी, कामात्मक संवेदनाओं में पुन:-पुन: खो जाते-से, उन संवेदना-जालों में बार-बार उलझते से उद्दीप्त कल्पना के आकाश की रंगीनियों में उड़ते-से, (वे प्रतीकों में भी बात करते हैं) वागाडम्बर-द्वारा, शब्द- सुख-द्वारा, रति-सुख का पुन:-पुन: बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशी के रतिकक्ष में भोंपू लगे हों जो शहर और बाज़ार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।

वैसे तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि रति-सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारी के बीच चर्चा का विषय हो सकती हैं। यही क्या, नर भी सम्भवत: उन्हें भूल जाता होगा। फिर भी, अगर यह मान भी लें कि रति-सुख के स्मरण-चित्र उसके मन में उपस्थित होते हैं तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण-चित्रों में उसे अतीन्द्रिय सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती। वह उन स्मरण-क्षणों में रत रहते हुए इतना विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों के चित्र उपस्थित होते ही उसे अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि का मार्ग दिखाई दे। संक्षेप में, न वास्तविक कामोत्कर्ष के क्षणों में न रति-सुख के स्मरण-चित्रों में डूबे होने की अवस्था में, अतीन्द्रिय सत्ता-परमतत्व का बोध हो सकता है। यह कहना कि कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ऐसा होता है या हो सकता है, कोई मतलब नहीं रखता, क्योंकि सामान्य मनुष्य के लिए आज जो स्थिति अप्राकृतिक है वह सम्भवत: केवल अस्वस्थ मनोदशावाले के लिए ही प्राकृतिक हो सकती है।

दूसरे, काम-सुख के उद्दीप्त स्मरण-चित्र इतने सतत-गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते—उनका अयन-क्रम इतना नहीं रह सकता—कि उनसे उमड़े भाव-समुदायों पर घण्टों बात की जा सके। किन्तु पुरूरवा और उर्वशी समुत्तेजित कल्पना-द्वारा रति-सुख के क्षणों को ऐन्द्रिक संवेदनाओं पर प्रदीर्घ वार्तालाप करते हैं, करते रहते हैं, मानो वाक्-सुख-द्वारा देह-सुख प्राप्त करते हुए अदेह होना चाह रहे हों। यह कैसी विचित्रता है।

लेखक का संवेदनात्मक उद्देश्य यह बताना है कि (कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ही क्या न सही) काम-संवेदनाओं का चरम उत्कर्ष अतीन्द्रिय सत्ता के बोध में संक्रामत होता है। अतएव 'उर्वशी' की रचना के दौरान उसे इन्द्रियसंवेदनाओं की आतिशयिक सुखात्मकता और तीव्रता के स्तर पर, विधायक कल्पना के स्वर्गीय जगत में टिके रहना पड़ता है। किन्तु क्या इस तरह कामात्मक प्रसंगों के मनश्चित्रों की दीर्घकालीनता सम्भव है? क्या वे चित्र बार-बार खो नहीं जाते?

और चूँकि वे बार-बार खो जाते हैं इसलिए लेखक कल्पना-शक्ति को बलात् समुत्तेजित करता है। किन्तु इस प्रकार बलात् उत्तेजित कल्पना अधिकाधिक वायवीय और आकाश-विहारी बनती है। कल्पना का आकाश-विहारी होना लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है, क्योंकि उसे काम-संवेदनाओं को दिव्य स्पर्श भी तो देना है। नतीजा यह होता है कि कल्पना कभी-कभी इतनी समुत्तेजित हो जाती है कि वह जड़ होकर मात्र अलंकरण बन जाती है। भावोच्छ्वास बार-बार समाप्त हो जाता है, अतएव पुनःपुनः प्राप्त उस अभाव की पूर्ति के लिए सांस्कृतिक शब्दों का आडम्बर और मनोरत्यात्मक प्रवचन का सहारा लिया जाता है।

सच तो यह है कि लेखक को, सिर्फ एक बात को छोड़कर, और कोई खास बात नहीं कहनी है। उसके पास कहने के लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं। और जो कहना है वह यही कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध हो सकती है। किन्तु यह कहने के लिए उसने व्यापक आयोजन किया है, वह उसे पूरे समारोह के साथ, अपना समय लेते हुए, कहना चाहता है।

किन्तु, काव्य-कृति के रूप में यह प्रस्तुत करने के लिए, काम-संवेदनातिरेकों के चित्रों-द्वारा, उनके माध्यम से ही, वह यह कह सकता है। इसलिए उसे अतिरेक के स्तर पर खुद रहना पड़ता है। कोई भी सामान्य मनुष्य अतिरेक के स्तर पर अधिक काल तक नहीं रह सकता, पर लेखक ने तो दीर्घ समारोह का आयोजन किया है और इसीलिए, उसे बलात् मनोरति का श्रम करना पड़ता है। कल्पना को बलात् समुत्तेजित करना पड़ता है। भावों की पुनरावृति होती है, और प्रतीत होता है कि लेखक किसी मनोवैज्ञानिक काम-ग्रन्थि से पीड़ित है। कामात्मक अनुभवों-द्वारा आध्यात्मिक अनुभव की सिद्धि को प्रस्थापित करने के लिए लेखक को जिस अतिरेक के स्तर पर रहना पड़ता है, वही अतिरेक अस्वाभाविक होने के कारण, (क्योंकि इस प्रकार का कोई भी मनोरत्यात्मक अतिरेक दीर्घकालीन स्थिति नहीं रख सकता) प्रयास-सिद्ध होने के कारण, वह भाषा को भी आयास-सिद्ध और जड़ बना देता

हैं। कवि दिनकर के प्रथम उत्कर्ष काल में उसकी काव्य-भाषा ऐसी जड़ नहीं थी। उसमें स्वाभाविक रूमानी चपलता थी, स्वाभाविक गीतात्मक स्वर था।

भगवतशरणजी ने लेखक की इस मूलभूत मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता पर ध्यान नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने कुछ स्थानों पर उसके कुछ भावों का उल्लेख अवश्य किया है। उन्होंने 'उर्वशी' की तथाकथित दार्शनिकता की भी कठोर आलोचना की है; किन्तु वे इस बात पर प्रकाश नहीं डाल सके कि आखिर दिनकर को दर्शन की आवश्यकता क्यों पड़ गयी। अतिशयिक कामात्मक अहं अपनी औचित्य-स्थापना के लिए दर्शन का सहारा ले रहा है। इस प्रकार, वह दार्शनिक भाव-क्रम, वस्तुतः, औचित्य-स्थापना का मनोविज्ञान है।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात जो भगवतशरणजी ने की, वह 'कामायनी' के सम्बन्ध में है। उन्होंने राह चलते 'कामायनी' की निन्दा कर डाली। उन्होंने कहा कि 'कामायनी' में काव्य-सौन्दर्य नहीं है, उसमें तो केवल दर्शन है और दर्शन के ग्रहण के लिए कोई भी 'कामायनी' की तरफ नही जायेगा। उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं-"कामायनी काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है, और जहाँ तक दर्शन की बात है, मुझे ऐगेंल्स की बात दुहरानी पड़ेगी। वैसे, दर्शन पढ़ने के लिए 'कामायनी' की अपेक्षा दर्शन की दिशा में सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेंगें।"

इसके पूर्व, भगवतशरणजी ने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि "मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शन के कारण विशिष्ट है तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है, वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्यगुण के कारण विशेष प्रशंसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है। दर्शन की ही तथाकथित विशिष्टता प्रसाद की 'कामायनी' का मानदण्ड बन गयी है। उसके दर्शन की ही अधिक, काव्य की कम, चर्चा हुआ करती है।"

उपर्युक्त सारी स्थापनाएँ असंगत, अनुचित, निराधार एवं दुर्भाग्यपूर्ण हैं। वे दर्शन और कला इन दोनों को परस्पर पृथक् परस्पर-असंपृक्त श्रेणियों में बाँटकर चलती हैं, और इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रभाव के तथ्य को दृष्टि से ओझल करती हैं।

हाँ, यह सही है कि शास्त्रीय दर्शन, जो तर्क के सहारे, मूल सत्ता का व्याख्यान करता है, अन्य दार्शनिक धाराओं का खण्डन करता है, मनुष्य के परम लक्ष्य का बोध करता है तथा मूल्य-व्यवस्था प्रस्तुत करता है–वह शास्त्रीय दर्शन अपनी शास्त्रीय दृष्टि के कारण शास्त्रीय रूप में काव्य में प्रस्तुत नहीं हो सकता। काव्य में किसी भी प्रकार की शास्त्रीयता, शास्त्रीय रूप में, चल नहीं सकती। किन्तु उस दर्शन के तात्विक निष्कर्ष तथा मूल स्थापनाएँ काव्य में ग्रहण कर ली जाती हैं। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का एक भाग इसका

ज्वलन्त प्रमाण है। इस सम्बन्ध में, मैं एक बात भगवतशरण जी के सामने रखना चाहता हूँ। वे इस पर सोचें।

'ज्ञानेश्वरी', मराठी का एक प्रसिद्ध-ग्रन्थ है। वह असल में गीता की टीका है। और इसलिए उसमें (एक हद तक) शास्त्रीयता भी है। किन्तु वह न केवल दार्शनिकता के लिए वरन् रसमय काव्यात्मकता के लिए भी प्रसिद्ध है। यदि सम्भव हो सके तो मराठी के साहित्य-मर्मियों से वे इस विषय पर चर्चा करें, और इस विषय की थाह लगायें।

किन्तु यह सही है कि ऊहापोहपूर्ण तर्क-प्रधान शास्त्रीयता काव्य नहीं बन सकती। (भगवतशरणजी शायद यही कहना चाहते हैं।) काव्य में जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वह इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति से नहीं होता। दर्शन की कुछ स्थापनाएँ कवि अपनी मूल भावधारा में अनायास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कवि के आभ्यन्तर संवेदनात्मक ज्ञान का अंग बन जाता है। अथवा यह भी होता है कि जीवन-समस्याओं का काव्यात्मक चित्रण करते हुए लेखक अनायास उन समस्याओं के निराकरण का मार्ग बताता है – यह निराकरण का मार्ग ही उसका दर्शन है। ('कामायनी' में ऐसा हुआ है।) यह भी सम्भव है कि अपनी किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के लिए, लेखक दर्शन का सहारा ले (जैसा कि 'उर्वशी' में हुआ है)। यह भी सम्भव है कि कोई दर्शन कवि को विशाल विश्व-स्वप्न प्रदान करे, और वह विश्व-स्वप्न उसकी अनुभूति का अंग बन जाये । इस प्रकार का दर्शन कवि की भावना के नेत्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में, दर्शन तरह-तरह से, काव्य में प्रकट होता है, एक काव्य-कृति में दर्शन एक विशेष बात की पूर्ति के लिए, तो दूसरे में केवल औचित्य-स्थापना के लिए, तीसरे में किसी भिन्न रूप से।

किन्तु सबमें एक बात सामान्य है और वह यह कि दर्शन – जीवन के ही आयाम के रूप में, जीवन की ही एक अनुभूति के रूप में, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है। वह ऊहापोहपूर्ण खण्डन – मण्डन – प्रधान तर्क - संचालित शास्त्रीयता के रूप में प्रकट नहीं होता। 'कामायनी' में भी वह शास्त्रीय ढंग से प्रकट नहीं हुआ है। जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप में ही उसे उपस्थित किया गया है। वह मनोवैज्ञानिक रूप से, अनुभूति के ढंग पर, सत्य-स्पर्शी भावना के रूप में, प्रकट किया गया है, बौद्धिक ऊहापोह के रूप में नहीं।

हाँ, यह सही है कि दार्शनिक भावना भी एक विशेष प्रकार की भावना होती है। और बहुतों को उसमें नीरसता दिखाई देती है, यदि वह भावना संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं का प्रकाश-रूप है, तो यह हृदय-स्पर्शी होगी ही, बशर्ते कि पाठक उसके

ज्ञान-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान मानकर चले। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उस दार्शनिक भावन में (उस पाठक के लिए) हृदय-स्पर्शी गुण का अभाव होगा।

हिन्दी के साहित्य -पण्डित भले ही 'कामायनी' की दार्शनिकता के कारण, उसे महत्त्व दें, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ' कामायनी' उत्कृष्ट काव्य न होकर 'निकृष्ट', 'घटिया' काव्य है। (भगवतशरणजी के उक्त कथन को मैं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूँ।)

'कामायनी' अपनी काव्यात्मकता के लिए, जीवन-समस्याओं के काव्यात्मक चित्रण के लिए, हमेशा प्रसिद्ध रहेगी। उसमें उत्कृष्ट काव्यात्मकता है। उसका दर्शन जीवन-समस्याओं पर अनवरत चिन्तन के फलस्वरूप है। अतएव वह जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है। उस दर्शन में, उस दर्शन के चित्रण में, कोई दोष नहीं है। उसमें आडम्बर नहीं है। उसमें दार्शनिक दम्भ नहीं है। और बहुत-से स्थानों पर, आधुनिक सभ्यता की कुछ मूल विषमताओं पर, कठोर और प्रखर काव्यात्मक आक्रमण है। संक्षेप में, प्रसादजी की दार्शनिक अनुभूति उनकी भावना के नेत्र हैं।

प्रसादजी की 'कामायनी' का दोष यह नहीं है कि उसमें दार्शनिकता प्रधान है। दोष यह है कि जीवन-समस्याएँ जिस स्तर और क्षेत्र की हैं उस स्तर और क्षेत्र का उसका दार्शनिक समाधान नहीं है (उसकी दूसरी कमज़ोरियों पर प्रकाश डालने का यहाँ स्थान नहीं है) किन्तु यह कहना कि 'कामायनी' में काव्यात्मकता नहीं है, तत्सम्बन्धी अपने घनघोर अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है।

'उर्वशी' का दर्शन वस्तुत: कामात्मक संवेदनाओं की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिए उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। वह कामात्मक अहं की गतिविधियों के औचित्य-स्थापन का प्रयास है। भगवतशरणजी कहते हैं कि वह अप्रासंगिक है। वह अप्रासंगिक नहीं, पूर्णत: प्रासंगिक है। वह ऐश्वर्यवान् सम्पन्न श्रेणी की अनर्गल काम-स्पृहाओं को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि पुरूरवा की विवाहिता स्त्री को केवल तपस्या का उपदेश दिया गया; किन्तु उसके प्रति दिनकर के हृदय में विशेष करुणा नहीं है।

यदि हम उपर्युक्त सभी स्थापनाओं को एक साथ ध्यान में रखें तो पायेंगे कि आख़िर दिनकर की भाषा विचित्र और बोझिल क्यों है। वे कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि को सांस्कृतिक–आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन – हाँ प्रतिपादन – करना चाहते हैं। अतएव उन्हें

काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है। इसीलिए भाषा में बोझिल गुण हैं, विचित्र-विचित्र प्रयोग हैं, शब्दों की तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है। भाषा का अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नहीं मिलता। भाषा भी समारोह-पूर्वक चलती है, बृहत् आयोजन के साथ; इसीलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियों में सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद है, और बहुत-से स्थानों पर अर्थ की वायवीय शून्यताएँ हैं। कामात्मक ऐकान्तिक क्षणों की आत्मीयता का स्वर तो भाषा में है ही नहीं। वहाँ तो हर चीज़ प्रदर्शनीय है, भड़कीली है।

9. मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी'-विवाद

डॉ० नामवर सिंह

जनवरी 1964 की 'कल्पना' में प्रकाशित उर्वशी-परिचर्चा ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है जिससे समकालीन साहित्य में मूल्यों की सीधी टक्कर का पता चलता है। 'उर्वशी' के निमित्त इस चर्चा में विभिन्न पीढ़ियों और विचारों के इतने कवि-आलोचकों का भाग लेना एक घटना है। एक केन्द्र पर इतने प्रकार के विचारों की टकराहट के ऐसे अवसर कम ही आते हैं। 'कल्पना' 138 में श्री दिनकर की 'उर्वशी' पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा-लेख लिखा था। 'कल्पना' 140, 141 और 144 में उस पर कुछ पाठकों के पत्र प्रकाशित हुए। "अन्यत्र प्रकाशित समीक्षाओं, उस समीक्षा और उस पर प्राप्त प्रतिक्रियाओं से हमें लगा कि हमारे **यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं हैं** और अगर हैं भी तो इतने वायवीय हैं कि हमारी पकड़ से बाहर हैं। किसी भी कृति के मूल्य के सम्बन्ध में जितने माथ उतने मत हो सकते हैं, लेकिन कोई-न-कोई इतनी निरपेक्ष कसौटी तो होनी ही चाहिए जिस पर उसे कसा जा सके और जिसे सब स्वीकार करें। ...किसी भी कृति के सम्बन्ध में कम-से-कम इस बात पर मतैक्य तो होना ही चाहिए कि वह साहित्यिक कृति है या नहीं। मतभेद इस बात पर हो सकता है कि वह उत्कृष्ट है या नहीं।'' सम्पादकीय टिप्पणी का यह अंश औसत पाठक की निराशा और आतुरता को बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत करता है। जहाँ यह आम निराशा है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है, वहीं यह आतुरता भी है कि उत्कृष्टता के बारे में मतभेद की गुंजाइश होते हुए भी किसी कृति की साहित्यिकता के निर्णय के लिए कोई-न-कोई सर्वसम्मत प्रतिमान होना ही चाहिए। उर्वशी-परिचर्चा जैसे इन्हीं प्रश्नों का उत्तर है, इसीलिए उसकी पड़ताल उपयोगी हो सकती है।

चर्चा में भाग लेनेवाले प्राय: सभी लेखक इस बात पर एकमत दिखायी पड़ते हैं कि काव्य-कृति की आलोचना के लिए काव्येतर प्रतिमान इस्तेमाल न किया जाये। जिन्होंने श्री भगवतशरण उपाध्याय की समीक्षा के साथ कुछ बातों में अपनी सहमति प्रकट की, उन्होंने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया कि वह ठेठ साहित्यिक आलोचना नहीं है। मुक्तिबोध के अनुसार "वह बाहर से भीतर की ओर यात्रा है और इस प्रकार की यात्रा के जो खतरे होते हैं वे भी उसमें हैं।'' इसलिए उनका सुझाव है कि "भगवतशरणजी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर, यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियाँ न आ पातीं।'' रघुवीर सहाय की आपत्ति है कि "उस रचना को काव्य नहीं, इतिहास का ग्रन्थ मानकर उसका मूल्य आँका जाना

बिल्कुल अनर्गल बात है।'' धर्मवीर भारती के अनुसार "वास्तव में उस लेख की कमी यह है कि उन्होंने एक काव्यकृति की समीक्षा उस मनोभूमि से की है जो काव्य की समीक्षा के उपयुक्त ही नहीं है।'' दूसरे शब्दों में उसकी कसौटी 'काव्येतर' है। देवीशंकर अवस्थी एक आलोचक की दृष्टि से इस काव्येतर कसौटी की सीमाएँ उद्‌घाटित करते हुए कुछ और गहराई में जाकर कहते हैं कि "उपाध्यायजी ने पूरे 'उर्वशी' काव्य को एक दृष्टि की समग्रता, अन्तर्योजना, मूल्य-साँचे से सम्पृक्ति के आधार पर नहीं जाँचा। वे कभी तो कथा-स्रोतों की खोजबीन करके बहुत-कुछ चोरी का माल साबित करने पर तुलते हैं तो कभी कवि के भाषा-सम्बन्धी अज्ञान का मजाक उड़ाने लगते हैं। कभी वे छन्द की चर्चा करते हैं तो कभी असंगत बिम्ब-विधान की। उनकी समीक्षा-शैली पुरानी खानेदार आलोचना से कुछ बहुत भिन्न नहीं है। यहाँ आलोचना एवं आलोच्य में संवेदनागत धरातल की एक विचित्र एकता है।'' इस प्रकार उस आलोचना के प्रतिमान की असाहित्यिकता के साथ ही पद्धति अथवा शैली के पुरानेपन का उद्‌घाटन हुआ। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है। कम-से-कम इस बात में सभी सतर्क हैं कि काव्य-कृति की समीक्षा काव्य-मूल्यों से ही की जाय, किसी काव्येतर मूल्य से नहीं।

किन्तु जब काव्य-मूल्यों की रक्षा का प्रश्न उठता है तो उसके साथ एक नैतिक दायित्व और जुड़ जाता है जो काव्य-मूल्यों को एक व्यापक मूल्य-प्रणाली से सम्बद्ध कर देता है और उर्वशी-परिचर्चा से स्पष्ट है कि जागरूक नये लेखक समस्या के इस पहलू के प्रति अत्यधिक सतर्क हैं। उदाहरण के लिए, इतनी दूर तक तो मुक्तिबोध और अज्ञेय दोनों सहमत हैं कि भगवतशरण उपाध्याय की समीक्षा बहुत-कुछ साहित्येतर है, किन्तु इसके बाद अज्ञेय की दृष्टि में जहाँ वह "लेख छपने लायक नहीं था'' मुक्तिबोध उसे "अत्यन्त उपयोगी'' मानते हैं, क्योंकि 'सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी में खूब ही हैं। ऐसी स्थिति में दम्भ और आडम्बर का उद्‌घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है।''

कहना न होगा कि काव्य-मूल्यों की शुद्धता के बारे में मुक्तिबोध को उतनी ही आस्था है जितनी अज्ञेय को; फिर भी दोनों की दृष्टियों में यदि अन्तर है तो जाहिर है कि उसका स्रोत कहीं और होगा। अज्ञेय के लिए जो लेख 'दूषित दृष्टि' और 'द्वेषभरी मनोवृत्ति' का परिचायक है उसे मुक्तिबोध व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हुए यह कहते हैं कि "सामाजिक प्रतिष्ठा के जोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्रतत्र दिखायी देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

इसीलिए भगवतशरणजी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है।'' अज्ञेय जिसे एक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याधि समझकर सन्तोष कर लेते हैं मुक्तिबोध उसी को सामाजिक व्याधि के रूप में देखकर मूल्य-निर्णय देते हैं। इस प्रश्न पर लेखकों में स्पष्टत: दो वर्ग हो ज़ाते हैं–यहाँ तक कि पीढ़ियों का भेद भी मिट जाता है। लेखकों का एक वर्ग वह है – जो सुरूचि, संयम, सन्तुलन और भद्रता के नाम पर भगवतीशरण उपाध्याय के लेख की भर्त्सना करता है और दूसरा वर्ग वह है जो ईमानदारी, सच्चाई, साहस और खरेपन के लिए उस लेख को सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी मानता है। एक ओर अज्ञेय, नगेन्द्र, कुँवरनारायण, शिवप्रसाद सिंह आदि हैं तो दूसरी ओर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी आदि। स्पष्ट है कि स्वयं नयी कविता के अन्दर ही इस प्रश्न पर दो दल हो गये और उनमें से एक हिस्सा सुरूचि के नाम पर तथाकथित प्रस्थापित दल (इस्टैब्लिशमेंट) के साथ मिल गया। इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्थापित दल के श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सुमित्रानन्दन पन्त प्रभृति वरिष्ठ कवि इस प्रश्न पर एकदम मौन हैं। एक की दृष्टि में सारा प्रश्न सुरूचि और सन्तुलन का है तो दूसरे की दृष्टि में लेखक की नैतिकता का। स्पष्टत: बुनियादी मतभेद प्रश्न की वास्तविक प्रकृति–प्रश्न को निरूपित करने के सन्दर्भ और उसकी भाषा का है। आपातत: तुच्छ प्रतीत होनेवाला यह मतभेद मूल्य-सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टियों का गहरा अन्तर है। एक ओर कुँवरनारायण का कहना है कि "यों उस टोन'' में लिखी गयी समीक्षाएँ मुझे नहीं पसन्द आती–चाहे जितनी महत्वपूर्ण बात उसमें उठायी जाय''; क्योंकि वह स्वर 'असांस्कृतिक' है। दूसरी ओर रघुवीर सहाय की राय में "वह बहुत ताजी, ईमानदार और खरी आलोचना है और दिनकरजी को इस तरह का व्यवहार गुण भी करेगा।''

मूल्यबोध के स्तर पर इन दोनों दृष्टियों में जो अन्तर है उसे लक्ष्मीकान्त वर्मा ने स्पष्ट करते हुए कहा कि "यह हिन्दी के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जब कभी भी कोई बात तीव्र एवं तीक्ष्ण ढंग से कही जाती है तो लोग बराबर उसका अर्थ व्यक्तिगत राग-द्वेष से जोड़कर उसके महत्व को कम कर देते हैं। बात जो कही गयी है मीठी है या कड़वी है, तेज है या कुण्ठित है, इसका विश्लेषण तो होने लगता है किन्तु यह प्रश्न उठाना लोग भूल जाते हैं कि बात गलत है या सही है, सप्रमाण है या गैरजिम्मेदार है।.....सत्य की परख जब छूट जाये या उसकी क्षमता न रह जाये और उसके बदले 'शराफत' की दुहाई देकर सत्य का गला दबाने का प्रयास किया जाये, तो वह घातक सिद्ध होता है। मेरा अपना मत है कि इससे विकास की गति तो धीमी पड़ती ही है, साथ ही मूल्य भी कृत्रिमता का रूप धारण करने लगते हैं।' इस प्रकार इस प्रसंग में सुरूचि के विरूद्ध सत्य को प्रस्तुत करके

जागरूक नये लेखकों ने काव्यविषयक मूल्यांकन को नैतिकता का एक नया आयाम प्रदान किया जिसमें निहित अर्थापत्तियाँ काफ़ी दूरगामी हैं। इस तीखे मूल्यबोध को देखते हुए क्या यह कहना संगत है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है? क्या पुराने प्रतिमानों की कृत्रिमता को विस्थापित करके नये प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने का यह प्रयास नहीं है? निस्सन्देह मूल्यगत संक्रमण के इस युग में नये मूल्यों की पूरी प्रतिष्ठा के पूर्व वातावरण में कुछ तो धुन्ध रहेगी ही, किन्तु उसे मूल्यहीनता कहना संगत नहीं है।

कुछ लोगों के लिए यह मूल्यगत मतभेद काव्य के लिए अप्रासंगिक अथवा काव्येतर हो सकता है किन्तु जैसा कि मुक्तिबोध ने इसी प्रसंग में दिखलाया है, उक्त साहित्येतर आडम्बर स्वयं रचना के साथ प्रगाढ़ भाव से सम्बद्ध है। "उर्वशी' में स्वाभाविकता के स्थान पर शब्दजाल और आडम्बर होने के कारण दिनकरजी के प्रति इस प्रकार के सन्देह की पुष्टि होती है।'' यह कथन नये जागरूक लेखकों के उस सुसंगत मूल्यबोध का सूचक है जिसके अनुसार काव्य-मूल्य किसी लेखक के जाने-अनजाने उसके सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों की प्रणाली का अविभाज्य अंग है। इसीलिए आकस्मिक नहीं कि स्वयं काव्यकृति के मूल्यांकन में भी मूल्यों की टकराहट परिलक्षित होती है।

'उर्वशी' एक काव्यकृति है—सम्भवत: सफल एवं महत्वपूर्ण काव्यकृति है, इससे किसी को बहस नहीं है; बहस है तो उसके महत्व को लेकर। आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जो उसे 'रामचरितमानस' के बाद 'कामायनी' के समकक्ष नहीं तो उससे कुछ ही घटकर मानता है और यदि छायावादोत्तर कविता के सन्दर्भ में 'उर्वशी' के मूल्यांकन का प्रश्न उठे तो वे उसे असन्दिग्ध भाव से इस दौर की सर्वोत्कृष्टि कृति घोषित कर दें। किन्तु स्पष्ट है कि 'महत्व' का प्रश्न मूल्यों से सम्बन्द्ध है इसलिए नये मूल्यों की खोज और निर्माण में रत नये सर्जक यदि 'उर्वशी' के उस महत्व के सामने प्रश्नचिन्ह लगाते हैं तो यह मूल्यगत अराजकता के प्रसार का प्रयास नहीं बल्कि पुराने और नये मूल्यों का सर्जनात्मक टकराव है।

परिचर्चा में भाग लेनेवाले अन्य लेखकों को छोड़कर यदि केवल 'तारसप्तक' के कवियों के विचारों तक ही अपने को सीमित रखें, तो अत्यन्त रोचक तथ्य उपलब्ध होते हैं। अज्ञेय के 'उर्वशी' के काव्यगुण पर कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, किन्तु संयोग से 'तारसप्तक' के पाँच कवियों ने उस पर अपना मत व्यक्त किया है—रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारत-भूषण अग्रवाल और मुक्तिबोध। इनमें केवल रामविलास शर्मा और भारतभूषण अग्रवाल को 'उर्वशी' पसन्द आयी और महत्वपूर्ण भी लगी।

रामविलास शर्मा के अनुसार "दिनकरजी उदात्त" भावनाओं के कवि हैं। उनके स्वरों में ढलकर उर्वशी की प्राचीन कथा सहज ही रीतिकालीन श्रृंगार-परम्परा से ऊपर उठ गयी है। निरालाजी के बाद मुझे किसी वर्तमान कवि की रचना में ऐसा मेघमन्द्र स्वर सुनने को नहीं मिला जैसा दिनकर की 'उर्वशी' में। इस काव्य में जीवन-सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रश्न प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें वर्तमान युग का कवि ही प्रस्तुत कर सकता था। 'उर्वशी' में नारी-सौन्दर्य के अभिनन्दन के अतिरिक्त मातृत्व की प्रतिष्ठा भी है। आज के कुण्ठावादी मरूप्रदेश में आस्था के ये स्वर मुझे अच्छे लगते हैं—

चिन्तन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिन्ता से,
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि
तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में
ध्वनियाँ पहुँच रही हैं।"

भारतभूषण अग्रवाल को 'उर्वशी' इसलिए महत्वपूर्ण लगती है कि "प्रणय-काव्य होते हुए भी 'उर्वशी' में लुजलुजी कोमलता नहीं है, उसमें ओज का विलक्षण सम्मिश्रण है। यह प्रमाण है कि कवि प्रणय-कथा कहने नहीं बैठा है, नया सन्देश देने आया है।.....नारी-जीवन का कोई भी पक्ष उसकी दृष्टि से नहीं छूटा है।" इस प्रकार "यह एक प्रौढ़ कवि की प्रौढ़ कृति है जो हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता की घोषणा करती है।" यहीं नहीं बल्कि भारतभूषण अग्रवाल की दृष्टि में समसामयिक हिन्दी काव्य के चार उल्लेखनीय प्रबन्ध-काव्य 'कुरूक्षेत्र', 'अन्धायुग', 'कनुप्रिया' और 'उर्वशी' में 'शिल्प और काव्यत्व की दृष्टि से 'उर्वशी' इनमें अन्यतम है।"

इसके विपरीत प्रभाकर माचवे और नेमिचन्द्र जैन को दिनकर की 'उर्वशी' की अपेक्षा 'कुरूक्षेत्र' पसन्द है। नेमिचन्द्र जैन की राय में 'कुरूक्षेत्र' की तुलना में उर्वशी बहुत ही अक्षम और दुर्बल है। माचवे को दिनकर की कविता में केवल एक विशेषता दिखायी पड़ती है—वक्तृत्व-गुण। नेमिचन्द्र जैन की दृष्टि में "इस पंचांकी नाटक का तीसरा अंक केन्द्र ही नहीं, उसका सारभाग है" जिसमें मार्मिक स्थल विपुल हैं; फिर भी "कुल मिलाकर 'उर्वशी' में अनावश्यक और अनर्गल की मात्रा बहुत अधिक है। उसमें आन्तरिक असंगति.

अस्पष्टता, उद्देश्य तथा उसके कार्यान्वित होने में शिथिलता, भागवत तथा रूपगत दोनों प्रकार की मिथ्या स्फीति, छोटी बात को बढ़ाकर कहने, भारी-भरकम बनाने और विस्तार देने की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि उसकी बहुत-सी मार्मिकता और सुन्दरता मरू-प्रदेश की धारा की भाँति विलीन रहती है।'' यही नहीं बल्कि रामविलास शर्मा और भारतभूषण अग्रवाल के मत के सर्वथा विपरीत नेमिचन्द्र जैन का यह दृढ़ मत है कि "'उर्वशी' आधुनिक चेतना का काव्य नहीं है।''

मुक्तिबोध की बुनियादी आपत्ति दिनकर की काव्यभाषा पर है जिसमें माचवे को 'वक्तृत्व गुण' दिखायी पड़ता है और रामविलास शर्मा को निराला के बाद 'मेघमन्द्र स्वर' सुनायी पड़ता है। भाषा के प्रति अपनी संवेदनशीलता का परिचय देते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि पुरूरवा और उर्वशी "वागाडम्बर द्वारा, शब्द सुख द्वारा, रति-सुख का पुनः-पुनः बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशी के रति-कक्ष में भोंपू लगे हों, जो शहर और बाज़ार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।'' इसका कारण "बलात् उत्तेजित कल्पना'' है; इसलिए "प्रयास-सिद्ध होने के कारण वह भाषा को भी आयाससिद्ध और जड़ बना देती है।'' इस प्रकार मुक्तिबोध काव्य-भाषा से अपना विश्लेषण आरम्भ करके 'उर्वशी' की रचना-प्रक्रिया की बारीकियों में प्रवेश करते हैं और वागाडम्बर के मूल स्रोत को खोज निकालते हैं। निष्कर्षस्वरूप "उर्वशी का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है।'' वास्तविकता यह है कि "वे कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि को सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं। अतएव, उन्हें काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है। इसलिए भाषा में बोझिल गुण हैं, विचित्र-विचित्र प्रयोग हैं, शब्दों की तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है। भाषा का अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नहीं मिलता। भाषा भी समारोहपूर्वक चलती है—बृहत आयोजन के साथ; इसलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियों में सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद है, और बहुत-से स्थानों पर अर्थ की वायवीय शून्यताएँ हैं।''

मुक्तिबोध ने 'उर्वशी' की जो आलोचना की है उसके पीछे नयी कविता का आत्मसजग भावबोध है और प्रकारान्तर से 'उर्वशी' की आलोचना में उस नये भावबोध की ही विभिन्न छायाएँ प्रकट हुई हैं। 'उर्वशी' के निमित्त स्वयं 'तार-सप्तक' के प्रयोगशील कवियो के काव्यबोध के बहुरंगी स्तरों का उद्घाटन हो जाता है और पता चलता है कि किसके बोध में पिछली रूमानियत का कितना रंग अवशिष्ट है। 'उर्वशी' की आलोचना के प्रसंग

म यादे रामविलास शर्मा एक छोर पर हैं और मुक्तिबोध दूसरे छोर पर—तो केवल संयोग की बात नहीं है। अन्तर भाषा-बोध का ही नहीं बल्कि मूल्यबोध का भी है। एक के लिए जो भाषा उदात्त है, दूसरे के लिए कोरा वागाडम्बर है। एक को जहाँ आस्था का स्वर सुनायी देता है, दूसरे को थोथी दार्शनिकता। दोनों ही 'तारसप्तक' कवि हैं और साथ ही प्रगतिशील विचारधारा से सम्बद्ध भी, फिर भी काव्यबोध में इतना अन्तर ! स्पष्ट ही यह व्यक्ति रूचि-भेदमात्र नहीं बल्कि दो भिन्न सुसंगत मूल्य-प्रणालियों का अन्तर है, जिनके सीधे टकराव में सार्थक एवं प्रसंगानुकूल मूल्यों के विकास की सम्भावना निहित है। सम्प्रति नयी पीढ़ी ने मुक्तिबोध में रचनात्मक सम्भावना का पुनराविष्कार कर प्रमाणित कर दिया है कि उस टकराहट में मुक्तिबोध की ही दिशा ठीक थी।

भूमिका

आधुनिक हिंदी कविता का यह संकलन इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के एम.ए. हिंदी के दूसरे पाठ्यक्रम 'आधुनिक हिंदी काव्य' के लिए तैयार किया गया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) से लेकर श्रीकांत वर्मा (1931-1986) तक जितने भी कवियों पर पाठ-सामग्री इस पाठ्यक्रम में दी गई है उन सभी की कुछ प्रतिनिधि कविताओं को इस संकलन में शामिल किया गया है। ये कविताएँ इस पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा हैं और इनका अध्ययन पाठ सामग्री के साथ ही किया जाना अपेक्षित है।

आधुनिक हिंदी कविता का रचनाकाल लगभग सवा सौ वर्षों की अवधि में फैला हुआ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र से इस आधुनिक काल की शुरुआत होती है, इसके बाद कई दौरों से गुज़रते हुए हिंदी कविता भाव-भाषा के स्तर पर नये बदलते युग की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती रही। आज की हिंदी कविता परिपक्वता की कई मंजिलें तय कर चुकी है। इस पाठ्यक्रम में शिक्षार्थी हिंदी कविता के इस बदलते मिजाज़, सम्प्रेषण की नयी-नयी विधियाँ, भाव-भाषा-संरचना के नये-नये प्रयोगों से रूबरू होंगे। साथ ही काव्य-भाषा के स्वरूप में खड़ी बोली हिंदी के विकास का दिग्दर्शन भी कर सकेंगे।

शिक्षार्थियों के सामने कविता को समझने की समस्या सदा से रहती आई है। कविता को पढ़ना और पढकर समझना आधुनिक कविता के संदर्भ में थोड़े परिश्रम और धैर्य की माँग करता है। आधुनिक युग में जिस प्रकार जीवन जटिल से जटिलतर होता जा रहा है, उसे समझने और अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार को भी नये से नये तरीके अपनाने पड़ते हैं। प्रतीक बिंब, मिथक, फंतासी आदि का सहारा लेकर कवि अपने युग के काव्य-सत्य को ढूँढ़ने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में काव्य-रचना भी जटिल हो सकती है और उसका आस्वादन भी संगीत के स्तर से और पारंपरिक छंद-विधान से परे जा सकता है। इसलिए आधुनिक हिंदी-कविता को समझने के लिए भिन्न तरह का अध्ययन और तैयारी लाज़िमी है।

हमारी राय है कि किसी भी कवि का अध्ययन करने से पहले आप उस कवि के युग पर भी नज़र डाल लें। काव्य-परंपरा का अध्ययन भी इस सिलसिले में जरूरी है ताकि आप यह भी जान सकें कि अपनी विकास यात्रा में हिंदी कविता किन-किन चरणों में क्या रूप-रंग अख्तियार करती रही है और किन-किन प्रकार के भाव-बोधों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती आ रही है।

उदाहरण के लिए भारतेंदु युगीन कविता को पढ़ने से पहले इस बात की तरफ ध्यान देना जरूरी है कि भारतेंदु युग से ठीक पहले किस प्रकार की कविता का चलन था, उस कविता के सरोकार क्या बने थे, भाव-भाषा किस प्रकार की थी, इत्यादि। यह इसलिए भी ज़रूरी है

क्योंकि भारतेंदु युग से हिंदी कविता में एक नये युग की शुरूआत होती है। एक नये बनते राष्ट्र, समाज और इनके सरोकारों की गूँजें भारतेंदु युगीन कविता में सुनाई देने लगती हैं। कविता श्रृंगारिक भाववोध, परंपरागता छंद-विधान और व्रजभाषा को तजते हुए नव भावबोधों छंद-विधानों और नयी भाषा की खोज की ओर अग्रसर होती नज़र आने लगती है। कविता अभिजन समाज के आश्रय से निकलकर लोक समाज से रिश्ता कायम करने लगती है। बदलते युग के सरोकारों को अभिव्यक्त करने में व्रजभाषा-कोमल कांत पदावली के कारण असमर्थ सावित हो रही थी; नये युग का यथार्थ कठोर था, उसमें अंग्रेजों का शोषण, जनता की गरीवी, अशिक्षा, सामाजिक कुरीतियाँ और खुद की पहचान प्रश्न बन कर सामने खड़े थे और कविता इनसे रूबरू होने की कोशिश कर रही थी। इसलिए अभिव्यक्ति का माध्यम वदला, भाव वदले, और कहने का ढंग भी बदला।

इसी प्रकार द्विवेदी युगीन कविता का अभिधात्मक सपाट रूप-रंग भी अकारण नहीं है। यह आज़ादी के आंदोलन का वह दौर है जव हिंदुस्तानियों को इस बात का स्पष्ट एहसास हो चुका था कि उनके जीवन और समाज का यथार्थ क्या है। लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम था कि उनका भविष्य कैसा होगा और उसके लिए किस तरह के प्रयत्न करने होंगे। यह खड़ी बोली में काव्य अभ्यास का युग है। कहने के ढंग में भारतेंदु जैसी लक्षणा, व्यंजना नहीं है वल्कि सरलता है, सामान्य कथन ही कविता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती के माध्यम से इस अभ्यास के कर्ता-धर्ता हैं।

इसके वाद आता है छायावाद जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन की व्यापक अनुगूँजे पूरे आत्म-विश्वास के साथ सुनाई पड़ने लगती हैं। नवमध्यम वर्ग की आकांक्षाएँ रूपाकार ग्रहण करने लगती हैं। खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने के अनथक प्रयास इस युग में दिखाई पड़ते हैं, इसलिए संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली की इस युग में प्रबलता दिखाई पड़ती है। पौराणिक, ऐतिहासिक कथाओं, चरित्रों के माध्यम से स्वयं की पहचान के प्रयास होते हैं। गुलामी के विरूद्ध स्वच्छंदता की व्यापक अनुगूंजों से छायावादी कविता गूँजने लगती है। यह स्वच्छंदता मनुष्य की स्वतंत्र इयत्ता और प्रेम की रोमांटिक स्थापना में अभिव्यक्त होती है। यह नारी के सहचरी रूप के चित्रंण में, प्रकृति के मुक्त एवं आलंबन रूप में, एक नये युग की कल्पना में भी प्रकट होती है।

छायावादी कवि निराला छायावाद की सीमाओं को लांघ कर हिंदी कविता के नये रूप रंग से परिचय करवाते हैं। छंदों के बंधन से मुक्त होकर कविता का ऐसा रूप सामने रखाते हैं जो आने वाली हिंदी कविता का आधार-स्तम्भ बनता है। यदि कविता को व्यापक समाज का हिस्सा बनना है, उनके दुख-सुख को साथ लेकर चलना है तो संस्कृतनिष्ठ शब्दावली की जगह आमफहम भाषा का इस्तेमाल करना होगा। निराला आमफहम, बोलचाल की भाषा में भी कविता करके कविता का रास्ता आसान बनाते दिखाई पड़ते ह। इस प्रकार भारतेंदु युग से छायावाद तक हिंदी कविता की यात्रा खड़ी बोली को हिंदी काव्य भाषा के रूप में स्थापित करने की भी यात्रा है और उसे लोकजन जीवन से जोड़ने की भी।

इसी प्रकार छायावाद के बाद की हिंदी कविता की जो प्रवृत्तियाँ हैं - प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, प्रगतिशीलता इत्यादि, इनके बारे में भी आप जानकारी हासिल करें जिससे इन युगों की कविता को समझने में आपको मुश्किल न हो।

इस संग्रह में जितने भी कवि संकलित किए गए हैं, उनके संक्षिप्त जीवन-परिचय, साहित्यिक योगदान की पहले चर्चा की गई है। उसके बाद निर्धारित कविताएँ दी गई हैं। इन कविताओं का सामान्य परिचय, अंतर्वस्तु, भाषा-शैली तथा महत्व का उल्लेख भी किया गया है। कविता में आए कठिन शब्द और आपकी सुविधा के लिए एक-एक काव्यांश की व्याख्या भी दी गई है।

इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम में निर्धारित उक्त कवियों के रचनाकर्म पर आधारित पाठ लेख (इकाई) भी हैं जो आपको छह खण्डों में अलग से उपलब्ध होंगे। इन खण्डों में दी गई पाठ-सामग्री के अध्ययन के द्वारा आप पाठ्यकम में निर्धारित कवि और उनकी कविता की विषयवस्तु, भाषा-शिल्प आदि विभिन्न पक्षों में जानकारी हासिल करेंगे जिससे कविता के विश्लेषण-विवेचन-मूल्यांकन के बारे में आपको मदद मिलेगी। प्रत्येक कवि के बारे में अतिरिक्त अध्ययन के लिए आप उन पुस्तकों का अध्ययन भी करें जिनकी सूचना प्रत्येक खंड के अंत में पुस्तक-सूची के रूप में दी गई है। प्रत्येक इकाई के अंत में कुछ प्रश्न भी दिये गये हैं, जिन्हें आप अवश्य हल करें। इससे आप अपने अध्ययन का स्व-मूल्यांकन कर सकेंगे। और सत्रीय कार्य करने तथा परीक्षा के प्रश्न-पत्र हल करने में भी आपको मदद मिलेगी।

इन इकाइयों के अलावा कविताओं पर आधारित कुछ महत्वपूर्ण आलेखों का एक संग्रह भी हमने तैयार किया है जो आपके अध्ययन में मददगार साबित होगा। यह आलेख-संग्रह 'हिंदी काव्य-विवेचना नामक पुस्तक के रूप में आपको अन्य अध्ययन सामग्री के साथ उपलब्ध होगा।

हमारा आपको सुझाव है कि आप अध्ययन में शार्ट-कर्ट का तरीका न अपनाएँ। और जितनी भी सामग्री अध्ययन के लिए आपको उपलब्ध करवाई गई है उस सबका सिलसिलेवार पूरा अध्ययन करें। आपकी सुविधा के लिए विश्वविद्यालय ने अध्ययन केंद्रों की स्थापना की है, उनका पूरा-पूरा लाभ उठाएँ। वहाँ चलने वाले परामर्श सत्रों में उपस्थित होकर अध्ययन तथा अन्य तरह की समस्याओं की भी परामर्शदाता से चर्चा करें तथा समाधान ढूँढ़े। विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालय वर्ष में चार बार 'न्यूज़लेटर' प्रकाशित करता है जिसे प्रत्येक विद्यार्थी को भेजा जाता है। यदि आपको 'न्यूज़लेटर' की अपनी प्रति कभी न मिले तो अध्ययन केंद्र में जाकर उसे देखते रहें। विद्यार्थियों से संबंधित आवश्यक जानकारियाँ न्यूज़लेटर' में भी प्रकाशित होती हैं।

हमें उम्मीद है कि आप इस कार्यक्रम में सफलतापूर्वक अध्ययन पूरा करेंगे।

10. भारतेंदु हरिश्चंद्र

जीवन परिचय

भारतेंदु हरिश्चन्द्र का जन्म वाराणसी के एक सम्पन्न परिवार में 1850 ई0 में हुआ था। इनके पिता का नाम गोपाल चंद्र और माँ का नाम पार्वती था। इनके पिता ब्रजभाषा में गिरिधरदास के नाम से कविता करते थे। जब ये पाँच वर्ष के थे, तब मा का और तेरह वर्ष के होते-होते पिता का भी देहांत हो गया था। साहित्य के संस्कार भारतेंदु को बचपन से ही घर पर लगने वाली साहित्यिक मजलिसों से प्राप्त होने लगे थे। हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी-भाषा की अधिकांश शिक्षा भी इनकी घर पर ही सम्पन्न हुई। कुछ समय तक काशी के क्वींस कालेज में भी इन्होंने अध्ययन किया। 25 जनवरी, 1885 में मात्र 35 वर्ष की अल्पायु में इनका निधन हो गया।

हरिश्चंद्र के प्रखर व्यक्तित्व और साहित्यिक अवदान से प्रेरित होकर 1880 में 'सार-सुधा-निधि' पत्रिका में साहित्यकारों ने इन्हें 'भारतेंदु' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव रखा। तभी से इन्हें भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाम से जाना जाने लगा। यह उपाधि हरिश्चंद्र को अंग्रेज़ों द्वारा राजा शिवप्रसाद को 'सितारेहिंद' की उपाधि से विभूषित किए जाने की प्रतिक्रिया के रूप में इनके साहित्यिक मित्रों ने इन्हें दी थी। बाद में ये इसी नाम से पहचाने जाने लगे।

साहित्यिक योगदान

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता का सूत्रपात किया जिससे हिंदी भाषा और उसके साहित्य के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली। 1868 ई0 में इन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' और 1873 में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' पत्रिका निकाली। इसके बाद 1884 में इन्होंने नारी-शिक्षा हेतु 'बाला बोधिनी' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। इनकी उदारता, लगन और साहित्यिक नेतृत्व की क्षमता से प्रभावित होकर हिंदी साहित्यकारों का एक मण्डल भी इनके इर्द-गिर्द तैयार हो गया, जिसे भारतेंदु मण्डल के नाम से जाना जाता है। इसमें पं0 बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमधन', पं0 प्रताप नारायण मिश्र, पं0 बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, पं0 राधाचरण गोस्वामी, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें पं0 बद्री नारायण 'प्रेमघन' ने 'कादम्बिनी,' पं0 प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' एवं पं0 बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' नामक पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक साहित्यिक वातावरण के निर्माण में भारतेंदु की प्रेरणा सराहनीय रही है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हुए भारतेंदु ने अपने लगभग बीस वर्षों के छोटे से रचनाकाल मे छोटे-बड़े 175 ग्रंथों की रचना की।

भारतेंदु की काव्य-रचना में इनकी भक्ति-भावना की प्रमुखता के बावजूद, श्रृंगार, राजभक्ति और देशभक्ति की भावना भी उजागर हुई है। इनकी भक्ति संबंधी रचनाएँ कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा को ही पुनर्जीवित करती हैं। श्रृंगार के संयोग-वियोग चित्रण में रीतिकालीन मनोवृति की हल्की झलक दिखाई देती है। भारतेंदु ने राजभक्ति से संबंधित कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। इनमें महारानी विक्टोरिया के प्रति, एलबर्ट की मृत्यु, डयूक ऑफ एडिन्बरा के भारत आगमन, प्रिंस ऑव वेल्स की बीमारी, सम्राट एडवर्ड सप्तक के भारत आगमन, लार्ड रिपन की प्रशंसा में 'रिपनाष्टक' अंग्रेजी की मिश्र विजय पर 'विजयिनी-विजय-पताका' आदि से सम्बद्ध रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। बावजूद इसके, भारतेंदु की देशभक्ति संबंधी रचनाएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने अंग्रेज़ी शासन और भारतीय जनता के मध्य उपस्थित अंतर्विरोध को अच्छी तरह समझा था। इसे व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है :

अंगरेज राज सुख-साज सज्यौ है भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।

भारतेंदु ने ब्रिटिश शासन की व्यावसायिक वृत्ति को भारत की दुर्दशा का कारण भी माना है। अपनी 'प्रबोधिनी' कविता में इन्होंने स्वदेशी का समर्थन करते हुए लिखा है :

धन विदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिलहत रचत सकल कल।।
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं कर सकत।

विदेशी के प्रति विरोध भाव और स्वदेशी के प्रति तीव्र आग्रह भारतेंदु को स्वदेशी आंदोलन का प्रथम पुरस्कर्ता सिद्ध करता है। महात्मा गांधी का स्वदेशी आंदोलन सिर्फ विदेश की बनी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन था। लेकिन भारतेंदु ने स्वदेशी को एक अत्यंत व्यापक आयाम दिया। उनके लिए विदेशी वस्तुओं का त्याग मात्र प्रमुख मुद्दा न होकर सुदेशी भाषा, सुदेशी संस्कृति, सुदेशी चिंतन, सुदेशी आचरण आदि सभी स्वदेशी के अतर्गत आ जाते हैं। 'हिंदी वर्द्धिनी सभा' में 'स्वभाषा' पर अपने काव्य-भाषण में इन्होंने स्पष्ट रूप से अपने भाषा-प्रेम और उसके महत्व को इस प्रकार रेखांकित किया है :

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न ऊस को सूल।।
पढ़ो-लिखो कोइ लाख विधि भाषा बहुत प्रकार।
पै जब कछु सोचिहो निज भाषा अनुसार।
निज भाषा निज धरम निज मान, करम यौहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि, कहत पुकार-पुकार।।

वस्तुतः यहाँ भारतेंदु की स्वदेशी संबंधी अवधारणा, विशेष रूप से स्वभाषा-संबंधी निष्कर्ष अत्यंत वैज्ञानिक और सार्थक हैं। चाहे कोई कितनी ही भाषाओं का अध्यध्न कर ले, लेकिन

जब वह सोचने-विचारने, या चिंतन करने लगता है तो यह कार्य अपनी मातृभाषा में ही सम्पन्न होता है। चिंतन एवं सभी प्रकार के आविष्कार की क्रिया अपनी मातृभाषा के द्वारा ही सफलतापूर्वक हो सकती है। इसीलिए भारतेंदु ने'निज भाषा उन्नति को सब उन्नति का मूल' कहा है। इस वास्तविकता को ध्यान में रखकर भारतेंदु ने हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए अपने साहित्य, अपनी पत्रिकाओं, अपने नाटकों द्वारा जो व्यापक अभियान चलाया था, वह अविस्मरणीय है। यह अभियान उनकी नवजागरण की चेतना से ओत-प्रोत होकर एक व्यापक समाज-सुधार का अभिन्न अंग भी रहा है। अपने नाटकों, मुकरियों (पहेलियों), निबंधों, समसामयिक समस्याओं से सम्बद्ध टिप्पणियों आदि के द्वारा भारतेंदु ने जो व्यापक सुधार आंदोलन छेड़ा था, उसमें स्वभाषा ज्ञान की विशेष भूमिका थी।

भारतेंदु साहित्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है - उनकी व्यंग्यात्मक शैली। अपनी कविताओं, विशेषकर गद्य साहित्य में उन्होंने व्यंग्य का अत्यंत सहज और सार्थक उपयोग किया है। धार्मिक पाखण्ड, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, रूढ़िवादी रीति-नीति, छुआ-छूत, जाति-पाँत को लेकर उनके व्यंग्य अत्यंत सार्थक सामाजिक भूमिका का निर्वाह करते हैं। इनकी काव्य-भाषा यद्यपि ब्रजभाषा है, लेकिन गद्य की भाषा में हिंदी खड़ी बोली के व्यावहारिक रूप को ही इन्होंने महत्व दिया है। इस दृष्टि से इन्होंने राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद के उर्दू-प्रेम और राजा लक्ष्मण सिंह के संस्कृत-निष्ठ भाषा-प्रेम का विरोध करते हुए'आमफहम' (सभी लोगों के बीच प्रचलित) भाषा को हिंदी को जातीय भाषा के रूप में स्वीकार किया।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने आधुनिक युग की नयी चेतना को गहराई से परखकर साहित्य की विभिन्न विधाओं में व्यक्त करने का अद्‌भुत प्रयास किया। अपने युग की वस्तु-स्थिति को समझते हुए, उसके सामाजिक अंतर्विरोधों को पहचानते हुए, राष्ट्रीय-जागरण की आवश्यकता महसूस करते हुए एक जागृत विवेक के साथ साहित्य को आम जनता के साथ उन्होंने कुशलतापूर्वक जोड़ा। आधुनिक नाटक, निबंध, टीका-टिप्पणी, संस्मरण, जीवनी, आलोचना आदि अधिकांश गद्य विधाओं के जन्मदाता होने का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है। अपने इस महत्व के कारण ही वे एक युग-प्रवर्तक रचनाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। भारतेंदु का समस्त साहित्य नागिरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित'भारतेंदु ग्रंथावली' में संग्रहीत है। फिर भी उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :

काव्य : 'प्रेम मल्लिका', 'प्रेम सरोवर, 'प्रेमाश्रु वर्णन', 'प्रेम माधुरी', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम-प्रलाप, 'प्रेम पचासा', 'प्रबोधिनी', 'विजयवल्लरी', 'विजयिनी', 'विजयपताका', 'वर्षा विनोद', 'कृष्ण चरित','रास लीला', 'जैन कुतूहल', 'संतसई श्रृंगार', 'नये जमाने की मुकरी' तथा 'उर्दू का स्यापा' आदि।

नाटक : 'सत्य हरिश्चंद्र', 'भारत दुर्दुशा', 'नीलदेवी', 'भारत जननी', 'पाखंड विडम्बन', 'अंधेर नगरी', 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम', 'सती प्रताप' तथा 'प्रेम योगिनी' आदि।

भारत-दुर्दशा

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई[1]।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
जहं भए शाक्य[2] हरिचन्द[3] नहषु[4] ययाती[5]।
जहं राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।।
जहं भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहं रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।।
अब जहं देखहु तहं दुख ही दुःख दिखाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन[6] सैन पुनि भारी।।
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु वारी[7]।
छाई अब आलस कुमति कलह अंधियारी।।
भये अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी[8]।
ताहू पै महंगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूनो दुख ईस[9] देत हा हारी।।
सबके ऊपर टिक्स[10] की आफत आई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

---

1 दिखाई; 2 गौतम बुद्ध, 3 सत्यवादी सूर्यवंशी राजा हरिश्चंद्र, 4 ऋग्वेद के अनुसार मनु का पुत्र और अयोधा का राजा, 5 नहुष का पुत्र, 6 यवन, 7 विविध-प्रकार से, 8 दुर्दशा, 9 विधाता, 10 टिकट

'नवोदिता हरिश्चंद्र चंद्रिका' खं. 11 सं. 1 में
सन् 1884 में प्रकाशित

जब सभाविलास संगृहीत हुई थी, तब वैसा ही काल था कि ('क्यों सखि सज्जन ना सखि पंखा) इस चाल की मुकरी लोग पढ़ते पढ़ाते थे किंतु अब काल बदल गया तो उसके साथ मुकरियाँ भी बदल गईं। बानगी दस पाँच देखिये -

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
भीतर तत्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि सजजन नहिं अंगरेजी! 1

तीन बुलाए तेरह आवैं।
निज निज बिपता रोई सुनावैं।
आँखों फूटे भरा न पेट।
क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट। 2

सुंदर बानी कहि समुझावै।
बिधवागन सों नेह बढ़ावै।
दयानिधान परम गुन-आगर।
सखि सज्जन नहि विद्यासागर। 3

सीटी देकर पास बुलावै।
रुपया ले तो निकट बिठावै।
ले भागै मोहि खेलहि खेल।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि रेल। 4

धन लेकर कछु काम न आव।
ऊँची नीची राह दिखाव।
समय पड़े पर सीधै गुंगी।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि चुंगी। 5

मतलब ही की बोलै बात।
राखै सदा काम की घात।
डोले पहिने सुंदर समला[1]।
क्या सखि सज्जन नहिं सिख अमला[2]। 6

रूप दिखावत सरबस लूटै।

1 गंदा, 2 सरकारी सेवक

फंदे मैं जो पड़े न छूटे।
कपट कटारी जिय मैं हुलिस।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पूलिस। 7
भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज
क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज। 8
सतएँ अठाएँ मों घर आवै।
तरह तरह की बात सुनाव।
घर बैठा ही जोड़ै तार।
क्यों सखि सज्जन नहिं अखबार। 9
एक गरभ मैं सौ सौ पूत।
जनमावै ऐसा मजबूत।
करै खटाखट काम सयाना।
सखि सज्जन नहिं छापाखाना। 10
नई-नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावै।
नित नित हमैं करे बल-सून।
क्यों सखि सज्जन नहिं कानून। 11
इनकी उनकी खिदमत करो।
रुपया देते देते मरो।
तब आवै मोहिं करन खराब।
क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब। 12
लंगर छोड़ि खड़ा हो झूमै।
उलटी गति प्रतिकूलहि वूमै।
देस देस डोलै सजि साज।
क्यों सखि सज्जन नहीं जहाज। 13
मुँह जब लागै तब नहिं छूटै।
जानि मान धन सब कुछ लूटै।
पागल करि मोहि करे खराब।
क्यों सखि सज्जन नहीं सराब। 14

भक्ति के पद

सम्हारहु[1] अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग[2] पेंच[3] कसि राखहु अलक संवारी।।
हिय हलकत वनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखो कंकन फसन निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाइ, किंकिनी खींचहु करहु तयारी।
पेयरो पटि परिकरि कटि कसिकै बांधो हो वनवारी।
हम नाहीं उनमैं जिनको तुम सहजहिं दीनों तारी।
वानो जुगओ नीक अब की हरीचंद की वारी।।

नवल वन फूली दुम बेली।
लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुरांधहिं रेली।।
प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन वसन वनाई।
आंचर उड़त बात बस फहरत प्रेम भुजा लहराई।।
गूंजहिं भंवर विहंगम डोलहिं बोलहिं प्रकृति बधाई।
पुतली सी जित तित तितली गन फिरहिं सुगंध लुभाई।।
लहरहिं जल लहकहिं सरोज मनु हिलहिं पातु तरु डारी।
लखि ऋतुपति आगम सगरे जग मनहुं कुलाहल भारी।।

जिय पै जु होय अधिकार तौ विचार कीजै,
लोकलाज भलो बुरो भले निरधारिये।
नैन स्रौन पग कर सबै परवस भये,
उतै चलि जात इन्हैं कैसे कै सम्हारिये।
हरीचंद भई सब भांति सों पराई हम,
इन्हें ज्ञान कहि कहो कैसे के निवारिये।
मन में रहै जो ताहि दीजिये बिसारि, मन
आपै बसै जामे ताहि कैस कै बिसारिये।।
बिछुरे पिय सों जग सूनो भयो
अब का करिये कहि पेखिये[5] का।
सुख छाड़ि के संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिये[6] का।

---

1 संभालना, 2 पगड़ी 3 फेंटा, 4 विष्णु भगवान के हाथ में सुशोभित चक्र, 5 देखना, 6 लिखना।

हरिचंद जू हीरन[7] को व्यवहार कै,
कांचन[8] को लै परेखिये का।
जिन आंखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आंखिन सों अब देखिये का॥

हौं कुलटा हौं कलंकिनी हौं, हमने सब छाड़ि दयौ कहा खोलौ।
आछी रही अपने घर में, तुम क्यों यहा आयी करेजो छोलौ[9]।
लागि न जाय कलंक तुम्हें, कहूं दूर रहो संग लागि न डोलौ।
बावरी हौं जो भई सजनी तो, हटौ हमसों मति आइ के बोलौ॥

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तो तुमरे सब भांति कहावैं।
मेरी उराहनी[10] है कछु नाहिं, सबै फल आपुने भाग कै पावैं।
जो'हरिचंद' भई सो भई, अब प्रान चल चहं तासो सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति, बिदा की समै सब कंठ लगावैं!!

7 हीरे की कठोरता का सा व्यवहार, 8 कांच की तरह कोमल, 9 स्पर्श, 10 उलाहना।

कविताओं के बारे में

भारतेंदु की तीन प्रकार की कविताएँ पाठ्य पुस्तक में रखी गई हैं। एक कविता जो उनके 1875 ई0 में रचित दुखांत नाटक 'भारत दुर्दशा' की प्रस्तावना के रूप में है, उसे लिया गया है। एक कवितांश अमीर खुसरों की शैली में रचित 'नये जमाने की मुकरी' कविता से है जो 1884 ई0 में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में प्रकाशित हुई थी। तीसरे प्रकार की कविता पारंपरिक ढंग की कविता है जिसमें भक्ति तथा ऋतु वर्णन है।

'भारत दुर्दशा' नाटक के आरंभ में लावनी गाते हुए एक योगी का रंगमंच पर प्रवेश होता है। प्रस्तुत कविता को लावनी के रूप में गाया गया है। इस कविता का मुख्य प्रतिपाद्य देश प्रेम है। कविता का् संबोधन सामूहिक भारतीयों के प्रति है। कवि का संदेश है : सामूहिक रूप में भारतीयों को अपनी वर्तमान दुर्दशा पर चिंता करनी चाहिए। इसमें गौरवपूर्ण अतीत और वर्तमान भारत की जीर्ण-शीर्ण अवस्था का द्वंद्वात्मक रूप में चित्रण किया गया है। भारत के महान् पुरुषों के पुरुषार्थ का वर्णन भी है। उनके कर्तव्य की दृढ़ता का दृष्टांत दिया गया है। वर्तमान भारत में आंतरिक कलह, अविद्या, धार्मिक भेदभाव जैसी सामाजिक बुराईयो का गहराई से विवेचन किया गया है। उस समय देश महँगाई, अकाल और रोग की विभीषिका से जर्जर था। अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक शोषण से देश दरिद्र हो चुका था। इस समसामयिक विषयवस्तु को ही कवि ने इस कविता का आधार बनाया है।

'नये ज़माने की मुकरी' में भारतेंदु समकालीन जीवन के अंतर्विरोधों पर व्यंग्य करते हैं। अंग्रेज़ी ग्रेजुएट, विद्वान, रेल, चुंगी, अमला, पुलिस, अंग्रेज अखबार, छापाखाना, कानून खिताब, जहाज और शराब आदि उनके व्यंग्य का निशाना बनते हैं। उपर्युक्त सभी विधयों का संबंध व्यवस्था से है। सत्ता के द्वारा वे पोषित होते हैं। अविवेक के कारण किस प्रकार से उनकी स्थिति समाज में हास्यास्पद हो जाती है इसे रचनाकार ने भलीभाँति रखा है। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त लोगों में ठोस आंतरिकता का अभाव है, पश्चिमी शिक्षा की अविवेकपूर्ण नीति के कारण समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, नौकरशाही व्यवस्था द्वारा सामान्य जन का शोषण आदि ऐसे विषय हैं जिन्हें भारतेंदु सूक्ष्मता से विश्लेषित करते हैं।

भक्ति के पदों में कृष्ण के बाह्य व्यक्तित्व का आकर्षक वर्णन मिलता है। वे भगवान से अपनी मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। वसंत वर्णन में वे प्रकृति की स्वच्छंदता के माध्यम से जीवन में स्वच्छंदता के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। कुछ पदों में वे प्रेमी-प्रेमिका के आत्मिक प्रेम की पीड़ा का भी वर्णन करते हैं।

भारतेंदु ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की शुरूआत की। श्रृंगार और भक्ति की उनकी कविता ब्रजभाषा में ही है। किंतु जीवन के बदलते संदर्भों की नयी अनुभूति के लिए उन्होंने खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने की शुरूआत की। खड़ी बोली कविता में उन्होंने लोकशैली के

छंदों का इस्तेमाल किया है। भारत-दुर्दशा कविता में उन्होंने लावनी छंद को लिया है जो आल्हा शैली की तरह का लोकगान है। इस शैली का प्रसार लोक नाटक की नौटंकी शैली में देखने को मिलता है। भारत-दुर्दशा में उन्होंने लोक-जीवन में व्यवहार होने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। लोक जीवन के शब्दों का स्थानीय बोली की टोन में प्रस्तुत होने से भाषा की मिठास बढ़ गई है। 'भारत दुर्दशा' की भाषा में बनारसी बोली का गहरा रंग चढ़ा हुआ है :

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।।

'नये जमाने की मुकरी' में भाषा की भंगिमा अद्भुत है। यहाँ हास्य, विनोद, व्यंग्य, याग्विदग्धता और विडंबना को एक साथ देखा जा सकता है। मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से काव्य भाषा में लोकजीवन के अनुभव का साक्ष्य उपस्थित हुआ है।'अपनी खिचड़ी अलग पकावै तीन बुलाए तेरह आवै' कपट कटारी जिय मैं हुलिस आदि कई मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग हमें यहाँ देखने को मिलता है।

ब्रजभाषा में भारतेंदु ने कवित्त और सवैया में भक्ति के पद रचे हैं। उनकी ब्रजभाषा काव्य की बहुत बड़ी एक विशेषता यह है कि वे बोलचाल की भाषा के निकट है। जन साधारण में प्रचलित, ब्रजभाषा के शब्दों को उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। इस संदर्भ में सम्हारिय, निरधारिये आदि ऐसे अनेक शब्दों को देखा जा सकता है। उनकी कविता की भाषा की मुख्य ताकत तद्भव शब्दों का प्रयोग है। संगीतात्मकता और लय नियोजन की विशिष्ट क्षमता से उन्होंने काव्य में संगीतात्मक अनुभूति पैदा की है। उनके काव्य के छंद किसी न किसी राग के उदाहरण हैं।

'भारत दुर्दशा' भारतेंदु की प्रतिनिधि कविता है। इस कविता का केंद्रीय महत्व राष्ट्र-प्रेम है। इस कविता में देशभक्ति दो प्रकार से अभिव्यंजित हुई है। अतीत गौरव और वर्तमान भारत की दशा को आमने-सामने रखकर कवि ने राष्ट्रीय जीवन को समझने की चेष्टा की है आंतरिक द्वेष और ब्रिटिश साम्राज्य का औपनिवेशिक शोषण भारत की वर्तमान दशा के लिए दोषी हैं। कविता का मूल संदेश वर्तमान राष्ट्रीय जीवन को जाग्रत करने का है। यह कविता मूलतः शोषण तंत्र की पहचान कराती है। 'नये ज़माने की मुकरी' में व्यवस्था के विभिन्न संदर्भों की यथार्थ पहचान है। अंग्रेज़ी, ग्रेजुएट, विद्वान, रेल, कानून, पुलिस आदि व्यवस्था के हिस्से हैं। भारतेंदु आस-पास की जिंदगी के यथार्थ के प्रति गहरे रूप से सचेत थे। इस कविता का महत्व उन्नीसवीं सदी के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक यथार्थ को पहचानने में है। भक्ति की कविता की अनुभूति स्वच्छंद है। यह स्वच्छंद अनुभूति रीतिकालीन जड़ता से ऊपर उठने का परिणाम है। इस प्रकार की कविता का महत्व जड़त्व से ऊपर उठकर नवीन मानवीय चेतना को स्पर्श करने में है।

व्याख्या

नवल वन फूली ..... मनहुं कुलाहल भारी

नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी साहित्य की आधुनिक धारा के युग प्रवर्तक रचनाकार हैं। उनकी कविता में हमें सामान्य मनुष्य और उसके सुख-दुख के भाव मिलते हैं। उन्होंने रीतिकालीन काव्य को जड़ता से मुक्त कर सामान्य मनुष्य के लिए संभव बनाया। प्रकृति वर्णन में भी कवि का अंदाज रीति कवियों से भिन्न है। भारतेंदु के प्रकृति वर्णन का चित्रण बहुत कुछ विद्यापति जैसा है।

प्रस्तुत पद में कवि ने बसंत-ऋतु का वर्णन किया है। भारतेंदु के लिए बसंत नई उमंग और सृजन का प्रतीक है। यह उमंग प्रकृति में भी है और मनुष्य के आंतरिक जगत में भी है। कवि ने प्रकृति वर्णन के रूढ़ उपमानों को छोड़कर ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा बसंत वर्णन को नई भंगिमा प्रदान की है। लहलह लहकहिं यह शब्द किसानी जीवन से लिया गया है। अभी तक काव्य में फसल लहलहाती थी। फूलों का लहलहाना पहली बार भारतेंदु के काव्य में दिखाई पड़ता है। रीतिकाल के कवियों के यहाँ फूल लहलहाते नहीं है, वे नायिका के लिए खिलते और मुरझाते हैं। प्रारंभिक पंक्तियों में कवि ने कहा है नये फूल और कलियों से वन नया हो गया है। लहलहाते फूलों के आकर्षक रंग और मधुर सुगंध से प्रकृति का सौंदर्य खिल उठा हैं। आभूषण और वस्त्र से सजी प्रकृति नववधू की तरह प्रतीत होती है। हवा के झोंके में उड़ते हुए आंचल के कारण प्रेमालिंगन में बद्ध भुजाएँ लहराती हुई पताका के समान प्रतीत होती हैं।

भौंरों का गुंजन और पक्षियों के कलरव प्रकृति के बधाई संदेश संप्रेषित कर रहे है। भौंरे और पक्षी स्वच्छंदतापूर्वक इधर-उधर घूम रहे हैं। उन पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। कवि प्रकृति के चित्रण के माध्यम से बंधनमुक्ति का संदेश देता है। प्रकृति की स्वाधीनता और स्वच्छंदता मानव जीवन में भी बंधन को तोड़ने का संदेश देती है। आखों की पुतली सी चंचल तितली सुगंध के लोभ में इधर-उधर भ्रमण कर रही है। जल की मंथर लहर में कमल का फूल ऐसा शोभित हो रहा है मानो पत्ती डाली में हिल रही है। संपूर्ण संसार में बसंत के आगमन का कोलाहल है। बसंत यौवन और विद्रोह का प्रतीक है। विद्रोह होने पर कोलाहल का होना अस्वाभाविक नहीं है।

विशेष

प्रकृति चित्रण में लक्षणा का सौंदर्य है।

ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से भाषा की अर्थ ध्वनि को विस्तार दिया गया है ।लहलह लहकहिं, मह मह महकहिं।

कविता में संगीतात्मक शब्दों का प्रयोग है। आंधल शब्द के लिए आंचर शब्द को कविता में रखा गया है।

ब्रजभाषा की बोलचाल की भाषा का प्रयोग है।

कविता में पूर्वी हिंदी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। सगरे आदि शब्द इसी प्रकार के प्रयोग के उदाहरण हैं।

11. मैथिलीशरण गुप्त

जीवन परिचय

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म 3 अगस्त, 1886 को उत्तर प्रदेश के चिरगांव, जिला झांसी में हुआ था। इनके पिता श्री रामचरण राम के भक्त और काव्य-रसिक थे और माता सरयू देवी धार्मिक विचारों वाली महिला थीं। इनका परिवार अपने पैत्रिक व्यवसाय से जुड़ा हुआ था। इनके चार भाइयों में श्री सियाराम गुप्त ही काव्य और साहित्य के क्षेत्र में चर्चित हुए।

मैथिलीशरण गुप्त चिरगाँव की प्राइमरी पाठशाला में कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद घर पर ही हिंदी, संस्कृत, बंगला, मराठी और अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त करते हुए काव्य रचना में लीन रहे। इन्हें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का वरदहस्त'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से प्राप्त था। इनकी आरंभिक कविताएँ इसी पत्रिका में प्रकाशित होती रहीं। राम भक्ति और कविता के प्रति लगाव गुप्तजी को पैतृक विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था, जो जीवनपर्यन्त बना रहा।

मैथिलीशरण गुप्त को अपनी अनवरत रचनाशीलता के लिए साहित्य-जगत से यथोचित सम्मान प्राप्त हुआ था। 1936 ई0 में इन्हें हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से'साकेत' के लिए'मंगला प्रसाद' पुरस्कार प्रदान किया गया। 1946 में इन्हें सम्मेलन की ओर से साहित्य वाचस्पति की उपाधि से सम्मानित किया गया। 1948 ई0 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें मानद डी.लिट. की उपाधि से विभूषित किया। वे 1952 से 1964 तक राज्य सभा के मनोनीत सदस्य रहे। हिंदी जगत में वे राष्ट्र कवि और दद्दा के रूप में जाने जाते रहे। 1964 ई0 में गुप्त जी का देहावसान हुआ।

साहित्यिक योगदान

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-यात्रा द्विवेदी युग से आरंभ होकर छायावाद, प्रगतिवाद, नयी कविता के लम्बे दौर तक फैली हुई है। इनकी चिंताधारा में पूरे 50-60 वर्षों की काव्य यात्रा में प्रायः कोई विशेष मोड़ या परिवर्तन नहीं दिखाई देता। हिंदी की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, रामधारी सिंह'दिनकर' आदि कवियों के साथ गुप्तजी एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्वीकृत हैं।

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त की भारत के भविष्य की कल्पना का आधार रामायण, महाभारत और अन्यान्य भारतीय पौराणिक कथाओं में निहित है। अतः इसमें कहीं-कहीं पुनरूत्थान का भी आभास मिलता है। लेकिन राष्ट्रीय-जागरण और स्वाधीनता के मूल्यों से

जुड़कर उनकी पुनरूत्थानवादी चेतना अगतिशील नहीं होने पाती। वर्तमान की अनेक समस्याओं का समाधान अतीत की घटनाओं के आधार पर करने के बावजूद गुप्त जी अतीतोन्मुखी नहीं हुए हैं। इसके लिए इनकी देशभक्ति और राष्ट्रीयता की चेतना का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अंग्रेज़ी शासन के अत्याचारों से लेकर सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आंदोलन, कृषक-मजदूर आंदोलन, स्वाधीनता प्राप्ति का हर्षोल्लास, देश के विभाजन का आतंक, संसदीय कार्यविधि तथा राष्ट्रभाषा का प्रश्न इनके काव्य का प्रमुख विषय बना है।

भारत भारती, गुरूकुल, स्वदेश सगीत, द्वापर आदि अपनी रचनाओं में कवि ने देश की अखण्डता के लिए सामाजिक समता और भावनात्मक एकता के महत्व को रेखाकिंत किया है। साकेत, द्वापर, पंचवटी, यशोधरा, हिडिम्बा आदि रचनाओं में गुप्त जी ने भारतीय नारी की समस्या पर गंभीरता से प्रकाश डाला है। नारी मुक्ति की समस्या को, भारतीय नारी के आदर्श को, नारी की ममतामयी मूर्ति को उपर्युक्त प्रबंध काव्यों में अत्यंत सहानुभूति के साथ इन्होंने चित्रित किया है।

अपने विस्तृत भाव जगत को अत्यंत व्यापक पाठक समुदाय के सामने प्रस्तुत करने के लिए मैथिलीशरण गुप्त ने भारतेन्दु की तरह 'आम फहम्' हिंदी को अपनी रचना का आधार बना कर महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्धारित व्याकरण सम्मत भाषा का ही अधिक प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा कवि ने अपनी भाषा को लोकोन्मुखी बनाने का भी प्रयास किया है। कुछ संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों के कुशल संयोग से इन्होंने तद्भव प्रधान भाषा को अपनी काव्य-भाषा का मुख्य आधार बनाया है। अतः इनकी भाषा में हिंदी खड़ी बोली के जातीय स्वरूप की पूरी तरह रक्षा की गयी है। गुप्तजी की रचनाएँ इस प्रकार हैं :

काव्य :'रंग में भंग','भारत भारती', 'साकेत', 'यशोधरा', 'कुणाल', 'झंकार, 'उच्छवास', 'द्वापर', 'सिद्धराज', 'विष्णुप्रिया', 'जयभारत', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'नहुष', 'वन वैभव', 'बक-संहार', 'मंगलघट', 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला', 'अंजलि और अर्घ्य', 'स्वदेश संगीत', 'वैतालिक','हिंदू शक्ति','गुरुकुल','विकट भट','पद्य-प्रबंध', 'पत्रावली', 'शकुंतला', 'हिडिम्बा', 'विश्व वेदना', 'किसान', 'पृथ्वी पुत्र', 'राजा-प्रजा', 'तिलोत्तमा', 'अजित लीला', 'अनघ', 'चंद्रहास', 'स्वप्न वासवदत्ता', 'मेघनाद वध', 'विरहिणी ब्रजांगना' तथा 'उमर खैयाम की रुबाइयाँ' आदि।

'भारत भारती' (अतीत खंड से)

चर्चा हमारी भी कभी संसार में सर्वत्र थी,
वह सद्गुणों की कीर्ति मानो एक और कलत्र[1] थी।
इस दुर्दशा का स्वप्न में भी क्या हमें कुछ ध्यान था?
क्या इस पतन ही को हमारा वह अतुल उत्थान था?
उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी,
जो हो रहा उन्नत अभी, अवनत रहा होगा कभी।
हँसते प्रथम जो पद्म हैं, तम-पंक में फँसते वही,
मुरझे पड़े रहते कुमुद[2] जो अंत में हँसते वही॥

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड[3] है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति-कला,
उत्थान ही जिसका नहीं उसका पतन हो क्या भला?

होता समुन्नति के अनन्तर सोच अवनति का नहीं,
हाँ, सोच तो है जो किसी की फिर न हो उन्नति कहीं।
चिंता नहीं जो व्योम-विस्तृत चन्द्रिका का ह्रास हो,
चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो॥

है ठीक ऐसी ही दशा हत-भाग्य भारतवर्ष की,
कब से इतिश्री हो चुकी इसके अखिल उत्कर्ष की।
पर सोच है केवल यही वह नित्य गिरता ही गया,
जब से फिरा है दैव इससे, नित्य फिरता ही गया॥

यह नियम है, उद्यान में पककर गिरे पत्ते जहाँ,
प्रकटित हुए पीछे उन्हीं के लहलहे पल्लव वहाँ।
पर हाय! इस उद्यान का कुछ दूसरा ही हाल है,
पतझड़ कहें या सूखना, कायापलट या काल है?

---

1 पत्नी 2 लाल कमल 3 सूय

'भविष्य' खण्ड से

क्षत्रिय

हे क्षत्रियो ! सोचो तनिक, तुम आज कैसे हो रहे,
हम क्या कहें, कह दो तुम्हीं; तुम आज जैसे हो रहे!
स्वाधीनता सारी तुम्हीने है न खोई देश की?
बनकर बिलासी, विग्रही नैया डुबोई देश की!

निज दुर्दशा पर आज भी क्यों ध्यान तुम देते नहीं?
अत्यंत ऊँचे से गिरे हा ! किन्तु तुम चेते नहीं!
अब भी न आँखें खोलकर क्या तुम विलोकोगे कहो?
अब भी कुपथ की ओर से मन को न रोकोगे कहो?

वीरो ! उठो, अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो,
निज देश को जीवन सहित तन, मन तथा धन भेंट दो।
रघु, राम, भीष्म तथा युधिष्ठिर राम न हो जो ओज से
तो वीर विक्रम से बनो, विद्यानुरागी भोज से

वैश्य

वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का,
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का?
अब भी न यदि कर्त्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ -
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ -

अब तो उठो, हे बन्धुओ ! निज देश की जय बोल दो;
बनने लगें सब वस्तुएँ, कल-कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं -
हो'मेडइन' के बाद बस अब'इंडिया' ही सब कहीं

है आज भी रत्न-प्रसू[1] वसुधा यहाँ की-सी कहाँ?
पर लाभ उससे अब उठाते हैं विदेशी ही यहाँ !
उद्योग घर में भी अहो ! हमसे किया जाता नहीं,
हम छाल-छिलके चूसते हैं, रस पिया जाता नहीं

---

1 आपसी फूट, 2 रत्नों से भरी हुई।

शूद्र

शूद्रो ! उठो तुम भी भारत-भूमि डूबी जा रही,
है योगियों को भी अगम जो व्रत तुम्हारा है वही।
जो मातृसेवक हो वही सुत श्रेष्ठ जाता है गिना,
कोई बड़ा बनता नहीं लघु और नम्र हुए बिना

रक्खो न व्यर्थ घृणा कभी निज वर्ण से या नाम से,
मत नीच समझो आपको, ऊँचे बनो कुछ काम से।
उत्पन्न हो तुम प्रभु-पदों से जो सभी को ध्येय है,
तुम हो सहोदर सुरसरी[1] के चरित जिसके गेय हैं

साधु-सन्त

सन्तो ! महन्तो ! स्वामियो ! गौरव तुम्हारा ज्ञान है,
पर क्या कभी इस बात पर जाता तुम्हारा ध्यान है?
वह देश चाहे सुगम हो, आवेश अति दुर्गम्य है;
सौरभ-रहित है जो सुमन वह रूप में क्या रम्य है?

हे साधुओ ! सोये बहुत, अब ईश्वराराधन करो,
उपदेश द्वारा देश का कल्याण कुछ साधन करो।
डूबे रहोगे और कब तक हाय ! तुम अज्ञान में?
चाहो तुम्हीं तो देश की काया पलट दो आन में।।

थे साधु तुलसीदास, नानक, रामदास समर्थ भी;
व्यवहृत यही पद हो रहा है आज उनके अर्थ भी।
पर वे न होकर भी यहाँ उपकार सबका कर रहे,
सद्भाव उनके ग्रन्थ सबके मानसों में भर रहे

---

[1] गंगा का नाम।

'साकेत' (नवम सर्ग में से)

(1)

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक - लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला,
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही[1]
राजा - योगी जय जनक वे पुण्यदेही, विदेही।

विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा!
कठिन है कविते, तुम भूमि ही,
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

करुणे, क्यों रोती है ?'उत्तर' में और अधिक तू रोई
'मेरी विभूति है जो, उसको'भव-भूति' क्यों कहे कोई!

अवध को अपनाकर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से,
भवन में वन का व्रत ले लिया!

स्वामी सहित सीता ने
नन्दन माना सघन-गहन कानन भी
वन ऊर्मिला वधू ने
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी!

अपने अतुलित कुल में
प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल-बाला में
अश्रु-सलिल से समस्त धो डाला।

भूल अवधि-सुध प्रिया से,
कही जगती हुई कभी - आओ!
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौंक बोलकर -' जाओ!

---

1 जिसमें विराग उत्पन्न हो गया हो।

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप !

आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग ;
हुआ योग से भी अधिका उसका विषम-वियोग !

आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्माान !

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह विक्षेप से
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ,
छींटे वही उडे थे, बड़े बड़े अश्रु वे अब थे ?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट ।

मिलाप था दूर अभी धनी का
विलाप ही था बस का बनी का ।

अपूर्व आलाप वही हमारा
यथा विपंची[1] - दिर दार दारा[2] !

सींचे ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी[3]
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी ।
क्रीड़ा-कानन-शैल यन्त्र-जल से संसिक्त होता रहे
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे !

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ !
है ही क्या, हा ! आज जो मै जताऊँ ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा
चौथी मैं हूँ, पाँचवीं तू प्रवीणा !

---

1 वीणा, 2 पत्नी, 3 कैंची ।

हुआ एक दुःस्वप्न सा सखि, कैसा उत्पात,
जगने पर भी वह बना वैसा ही दिन रात !

खान पान तो ठीक है पर तदनन्तर हाय !
आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय ?

अरी, व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई?
वही पाक है जो बिना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे ?

'हे तात, तालसम्पुटक तनिक ले लेना,
बहनों को वन - उपहार मुझे है देना।'
'जो आज्ञज्ञ, - लक्ष्मण गये तुरन्त कुटी मैं,
ज्यों घुसे सूर्य -कर-निकर सरोज-पुटी में।
जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होंने देखा,
तो दीख पड़ी कोणरथ उर्मिला - रेखा।
यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया
'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी।
गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-तरा में,
वह भींग उठी प्रिय चरण धरे दृग-जल में !

कविताओं के बारे में

मैथिलीशरण गुप्त की दो काव्य पुस्तकों 'भारत-भारती' तथा 'साकेत' के नवम सर्ग के कुछ अंश पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। 'भारत-भारती' की रचना गुप्त जी ने 1912 में की थी। इसका घोषित उद्देश्य हाली के 'मुसद्दस' की तर्ज़ पर हिंदुओं के लिए ऐसी रचना का सृजन रहा है जो उन्हें अपने राष्ट्र, अपनी सभ्यता के प्रति जागरूक कर सके।'साकेत' गुप्तजी का प्रतिनिधि प्रबंधकाव्य माना जाता है। इसकी रचना गुप्तजी ने 1931 ई0 में की थी। रामायण लेखन की परम्परा में उर्मिला सदा से उपेक्षित रहती आई है। यह रचना एक प्रकार से'उर्मिला' की अनकही कथा का कथन है।

'भारत-भारती' में कवि ने भारतीय सभ्यता के उत्थान-पतन की कथा को 'अतीत', 'वर्तमान' एवं 'भविष्य' खण्डों में चित्रित किया है। अतीत' खंड से जो अंश पाठ्यक्रम में लिया गया है, उसमें कवि भारतीय सभ्यता के उत्कर्ष की चर्चा करता हुआ उसके निरंतर पतन की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहता है कि उत्थान-पतन तो प्रकृति का नियम है, पत्ते फूल झड़ते हैं, फिर नये पत्ते-फूल उनका स्थान ले लेते हैं। सूर्य चंद्र उगता है फिर अस्त होता है किंतु पुनः फिर प्रगट होने के लिए। किंतु कवि की चिंता यह है कि भारतीय सभ्यता का जब से पतन हुआ है, तब से उत्थान का समय आया ही नहीं, वह निरंतर पतनशील हो रही है। कवि सोचता है कि शायद इसके भाग्य ने इससे मुँह मोड़ लिया है।

'भविष्य' खंड के अंश में कवि क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, साधुसंतो से संबोधित होकर उन्हें उनके कर्त्तव्य की याद दिलाता है। गुप्त जी वैष्णव हैं, वर्ण-व्यवस्था पर उनकी आस्था है। इसलिए उनका सोचना है कि यदि समाज के ये विभिन्न पारंपरिक जाति समुदाय अपने कर्त्तव्यों को नैतिकतापूर्वक निभाने लगे तो यह देश फिर तरक्की के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

साकेत के नवम सर्ग के आरंभ में राजा जनक की प्रशंसा है। राजा जनक राजा होते हुए भी विरागी थे। उनमें संसारिक भौतिकता के प्रति आकर्षण नहीं था। ऐसे ही महामानव की पुत्री उर्मिला थी। यहाँ अयोध्या के महत्वपूर्ण पात्रों का संक्षिप्त वर्णन है और उसके बाद उर्मिला का वियोग वर्णन है। उर्मिला अपने त्याग से वंश की कालिमा को मिटा देती है। राम वनगमन दशरथ के कुल में एक कलंकित प्रसंग है। उर्मिला का पति लक्ष्मण राम के साथ बन जाता है। यह एक उदात्त भाव है, परंतु इस उदास भाव के पीछे उर्मिला का त्याग है: उर्मिला को पति का वियोग सहना पड़ता है। वह अपने आत्म ज्ञान को विस्मृत कर देती है। वह प्रिय के अनुराग को अपने जीवन को जीने का स्रोत समझती है। उसमें समर्पण और निष्ठा है। वह आरती की तरह जलकर भी सुगंध विखेरती है। लक्ष्मण जब उर्मिला से मिलने उसकी कुटिया में प्रवेश करते हैं तब उन्हें मात्र उर्मिला की छाया रेखा ही दिखाई पड़ती है। उर्मिला का मानना है नारी जीवन के लिए बंधन नहीं है, उसमें परिवार और कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान करने की अपूर्व क्षमता होती है।

भारत-भारती और साकेत की काव्य-भाषा खड़ी-बोली हिंदी है। गुप्तजी की काव्य-भाषा का प्रमुख गुण इतिवृत्तात्मकता है। तथ्य को सीधे और सपाट शब्दों में रख देना उनकी विशेषता है। कविता में तुकबंदी का प्रयोग है। तुक को मिलाकर छंदों का संगठन किया गया है। छंदों में आंतरिक लय है परंतु उसमें संगीतात्मक सूक्ष्मता नहीं है। काव्य-भाषा में अभिधा का सौंदर्य है। साकेत के रचे जाने तक हिंदी में छायावाद का आंदोलन प्रारंभ हो चुका था। छायावादी आंदोलन के प्रभाव से साकेत में खासकर उर्मिला का वियोग गीतात्मक है। उसकी भाषा की भंगिमा भी लाक्षणिक है।

'भारत-भारती' नये ढंग की काव्य कृति है। इसमें युग की वास्तविकता और देशप्रेम का प्रश्न प्राथमिक है। युग की मनोवृत्ति ने काव्य की शैली को नये प्रकार से संगठित किया। भारत-भारती को किसी पारंपरिक काव्य-शैली की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यह कृति प्रबंध और मुक्तक ढाँचे को तोड़ती मालूम पड़ती है।'साकेत' प्रबंधात्मक काव्य रचना है। उर्मिला के वियोग वर्णन में गुप्त जी ने नई काव्य युक्तियों का प्रयोग किया है। नवम सर्ग में उर्मिला के वियोग का वर्णन ही नहीं है उसके विरह में चौदह वर्ष बीतने का ब्यौरा भी है। इस प्रकार उर्मिला का वियोग मात्र घटना नहीं होकर काल की गति का चित्र भी है।

हिंदी जगत में **'भारत-भारती'** का आयमन आधुनिक संवेदन के प्रतीक के रूप में हुआ था। इस काव्य-कृति में एक जागरुक भारतीय कवि का संशय और विषाद प्रस्तावित हुआ है। गुप्त जी इस काव्य कृति में भारत के अतीत की गौरवगाथा के साथ वर्तमान भारत की विषमता को आमने-सामने रखते हैं। वर्तमान भारत की समसामयिक समस्याओं में अकाल दारिद्रय, कृषि संस्कृति, उद्योग आदि जैसे कई विषयों को वे कविता का प्रश्न बनाते हैं। भारत-भारती में अतीत खड में यदि शाश्वत प्रकृति का विवेचन है तो भविष्य खंड में भारत के नव-निर्माण पर विचार किया गया है। भारत-भारती का महत्व देश-प्रेम के कारण है। इस काव्य-कृति का प्रभाव परवर्ती कवि निराला और दिनकर पर व्यापक रूप से पड़ा। राष्ट्रीयता के संदर्भ में इस कृति की सार्थकता आज भी बनी हुई है।

साकेत में गुप्त जी शोषित और उपेक्षित नारी के प्रति अपनी आत्मीयता प्रदर्शित करते हैं। उर्मिला के प्रति उनमें सहानुभूति है। यह सहानुभूति किसी नारीवादी आंदोलन का परिणाम नहीं है। यह सहानुभूति एक वैष्णव कवि की सहज और स्वाभाविक अनुभूति का परिणाम है। उर्मिला और यशोधरा के त्याग को उन्होंने अपने काव्य में विशिष्ट स्थान दिया है। उर्मिला लक्ष्मण को बंधन का नहीं मुक्ति का संदेश देती है। परिवार के लिए उर्मिला अपनी आकांक्षा को मिटा देती है और धैर्यपूर्वक पति के वियोग को सहती है।

व्याख्या

यह नियम है ..... कायापलट या काल है

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। भारत-भारती उनकी महत्वपूर्ण रचना है। भारत-भारती में उन्होंने समकालीन राष्ट्रीय प्रश्न को मुखर करने का प्रयास किया है। भारत-भारती में स्वदेश के प्रति निष्ठा और प्रेम है। इस कृति में तीन खंडों में भारत के अतीत वर्तमान और भविष्य पर टिप्पणी प्रस्तुत की गई है। उपस्थित पद्यांश भारत-भारती के अतीत खंड से लिया गया है।

गुप्तजी का मानना है कि उत्थान और पतन जीवन की स्थितियाँ हैं। जैविक प्रक्रिया के अनुसार वन-उपवन में पत्ते जीर्ण-शीर्ण होकर वृक्ष से गिरते हैं। जीर्ण-शीर्ण पत्ते गिरने के उपरांत वृक्ष में नई कोंपलें फूटती हैं। उत्थान-पतन को समझाने के लिए कवि ने प्रकृति से एक दृष्टांत को ग्रहण किया है। प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा कवि ने काल की गति को रेखांकित करने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय जीवन में पतन की एक दूसरी ही कहानी है। इस उद्यान में पतन ही पतन है। जीवन में अंधकार ही अंधकार है। उसे वृक्ष का पतझड़ कहा जाय या पौधे का सूखना कहा जाय कवि कुछ समझ नहीं पाता है। वस्तुतः स्थितियाँ इतनी जटिल और उलझी हुई हैं कि उस पर कवि स्पष्ट मत अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। इसलिए कवि कहता है कि इस नई स्थिति को कायाकल्प कहा जाय या पूर्णतः विनाश का लक्षण।

क्योंकि देश की समाज की स्थिति उस समय बहुत अच्छी नहीं थी। उद्योग धंधे अंग्रेज़ी राज के चलते उजड़ चुके थे। सारा कच्चा माल यहाँ से विदेश जा रहा था। सामाजिक बुराईयाँ समाज को खोखला कर रहीं थीं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन अपनी शैशवावस्था में ही था। इसलिए कवि कहता है कि पुराने का जाना नये के आने का द्योतक होता है किंतु देश की स्थिति ऐसी है जिसमें पुराना पतनशील है किंतु नये की दिशा का कोई संकेत नहीं है।

12. जयशंकर प्रसाद

जीवन परिचय

प्रसाद जी का जन्म सुँघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध काशी के एक सम्पन्न वैश्य घराने में सन् 1889 में हुआ था। इनके पितामह श्री शिवरत्न साहु सुरती के प्रसिद्ध व्यवसायी, बड़े दयालु और दानी-स्वभाव के व्यक्ति थे। पान के मसाले में प्रयुक्त होने वाली सुगंधियुक्त सुर्ती के निर्माण के कारण इन्हें 'सुँघनी' साहु के नाम से जाना जाने लगा। आगे चलकर इनका परिवार भी सुँघनी परिवार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के पिता श्री देवी प्रसाद में भी पैतृक गुण मौजूद थे। साहित्य जगत में यह बात बहुत प्रसिद्ध थी कि काशी में गुणीजनों का आदर केवल दो ही स्थानों पर होता है - एक काशी नरेश के यहाँ दूसरा सुंघनी साहु के यहाँ। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सम्पन्नता के साथ ही गुण ग्राहकता प्रसाद की वंश-परम्परा की एक अनिवार्य विशेषता थी।

अत्यंत अल्प आयु में कई बड़े भाई बहनों की मृत्यु के कारण प्रसाद को अपने माँ-बाप का अपार स्नेह मिला। लेकिन 12 वर्ष की आयु में पिता और 15 वर्ष की आयु में माँ के निधन के कारण बालक प्रसाद की नियमित पढ़ाई छूट गयी। एक मात्र अभिभावक बड़े भाई शंभुरत्न का देहांत भी माँ के निधन के दो ही वर्ष बाद हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन को लेकर चलने वाले गृह-कलह और मुकद्मेंबाजी में पिता और पितामह द्वारा अर्जित लाखों रूपए मुकद्मेंबाजी में लग गए। बड़े भाई की मृत्यु के बाद विरासत के रूप में प्रसाद को दुकान के नाम बहुत बड़ा कर्ज़ मिला। अपने संयम, व्यवहार कुशलता और अध्यवसाय का परिचय देते हुए इन्होंने धीरे-धीरे स्थिति को संभाला। इस प्रकार की विषम स्थितियों में प्रसाद ने अपने स्वाध्याय को चालू रखा। दस से बारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने काशी के क्वींस कालेज में अध्ययन अवश्य किया, लेकिन बाद में घर पर ही इनकी शिक्षा पूरी हई। काशी के प्रसिद्ध विद्वान दीनबंधु ब्रह्मचारी से इन्होंने संस्कृत के प्राचीन साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया इन्होंने घर पर ही हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी भाषा-साहित्य की नवीन गतिविधियों से भी पूर्ण परिचय प्राप्त किया। फलस्वरूप प्रसाद जी में वर्तमान की आँखों से अतीत को देखने और अतीत की कसौटी पर वर्तमान को परखने के अद्भुत कौशल का विकास हुआ।

माता, पिता और बड़े भाई की अकाल मृत्यु के कारण भाभी के निर्देश पर अपने विवाह की व्यवस्था इन्हें स्वयं करनी पड़ी। कुछ ही वर्षों में इनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। मित्रों और रिश्तेदारों के आग्रह पर इन्हें दूसरा विवाह भी करना पड़ा। किंतु प्रथम संतान के जन्म के समय ही माँ और शिशु-दोनों स्वर्गवासी हो गए। इससे प्रसाद के भावुक और कोमल हृदय को गहरा आघात लगा। आगे चलकर भाभी के उत्कट आग्रह पर उसके संतोष के लिए इन्होंने तीसरा विवाह भी किया, जिससे रत्नशंकर नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

प्रसाद के व्यक्तित्व में उदारता, व्यवहार कुशलता और विद्वत्ता का अद्भुत मिश्रण था। प्राचीन के प्रति गहरी आस्था के बावजूद वे नवीन के प्रति जिज्ञासा और प्रशंसा के भाव से ओत-प्रोत थे। इनका जीवन अत्यंत नियमित था। इन्होंने इधर-उधर के बाहरी कामों में अपने को कभी नहीं उलझाया। प्रातः जल्दी उठकर लेखन-कार्य में लीन रहना, फिर थोड़े समय में भ्रमण, स्नानादि कार्यों से निवृत्त होकर दुकान पर बैठना, दोपहर को भोजन और विश्राम के बाद पुनः व्यावसायिक कारोबार की देखभाल करना तथा संध्या के समय साहित्यिक मित्रों से विभिन्न विषयों पर चर्चा करना - यही इसकी दिनचर्या थी। अविराम लेखन और शारीरिक श्रम का प्रसाद के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ा। 1939 ई0 में सामान्य ज्वर ने धीरे-धीरे तपेदिक (टी.बी.) की गंभीर बीमारी का रूप धारण कर लिया। अतः नवम्बर 1939 में इनका देहावसान हो गया। अपनी 48 वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने हिंदी साहित्य के भंडार को अपनी कविताओं, कहानियों, नाटकों आदि से सम्पन्न कर दिया।

साहित्यिक योगदान

प्रसाद का जितना महत्व कवि के रूप में रहा है एक सफल गद्यकार के रूप में भी इनका उतना ही महत्व है। अतीत कें ऐतिहासिक तथ्यों में वर्तमान की कल्पना का रंग देकर प्रसाद ने चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजात शत्रु, राज्यश्री, ध्रुव स्वामिनी जैसी कालजयी नाट्य-कृतियों की रचना की है। इनके साथ ही विशाख, जन्मेजय का नाग यज्ञ, कल्याणी परिणय, एक घूँट आदि इनके अन्य नाटक हैं।

आकाशदीप, इन्द्रजाल, प्रतिध्वनियाँ, छाया और आँधी शीर्षक से प्रकाशित प्रसाद के पाँच कहानी-संग्रह, कथा-सम्राट प्रेमचन्द की कहानी परम्परा के समानांतर एक भिन्न परम्परा की दृढ़ आधारशिला तैयार करते हैं। इन कहानियों के साथ ही प्रसाद ने कंकाल, तितली और इरावती के रूप में एक अधूरा उपन्यास लिखकर उपन्यास के क्षेत्र में भी अपने कौशल का परिचय दिया है। अपने निबंधों में वे कविता, नाटक, छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद के महत्वपूर्ण मुद्दों पर गंभीर और मौलिक चिंतन को उजागर करते हैं।

हिंदी-काव्य के क्षेत्र में प्रसाद की 'कामायनी' आधुनिक काल का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। यही उनकी कीर्ति का प्रमुख स्तंभ भी है। कामायनी में प्रसाद ने महाप्रलय के बाद सृष्टि के आरंभ में जीवन विकास का कलात्मक परिचय दिया है। इस महाकाव्य में इन्होंने मनु, श्रद्धा और इड़ा जैसे तीन प्रमुख पात्रों को क्रमशः मन, हृदय और बुद्धि का प्रतीक बनाकर मानवीय मनोवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक विकास का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया है। चिंता, आशा, काम, श्रद्धा, लज्जा, ईर्ष्या, आनंद आदि जैसे मनोभाव सूचक सर्गों में विभक्त कर 'कामायनी' को प्रसाद ने आधुनिक मानव जीवन के विकास का एक महाकाव्य बना दिया है।

प्रसाद की अन्य काव्य-रचनाओं में'आँसू' शीर्षक मुक्तक काव्य का भी विशेष महत्व है। इसमें उदात्त प्रेम के संयोग और विशेष रूप से वियोग की भावनाओं का अत्यंत मार्मिक चित्रण हुआ है। प्रसाद के जीवन को देखते हुए ऐसा लगता है कि'आँसू' में उनकी अतृप्त काम-भावना की स्मृतियाँ ही अनेक रूपों में, अनेक कोणों से उभरी हैं।

भाषा और शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी की कविता का उत्कर्ष देखते ही बनता है। संस्कृतनिष्ठ परिनिष्ठित हिंदी के प्रयोग के साथ ही इन्होंने अपने काव्य में प्रतीक विधान और लाक्षणिक शैली का प्रयोग कर अपने सूक्ष्म भावों को मूर्त रूप प्रदान किया है। भावों के साथ ही प्राकृतिक एवं मानवीय सौन्दर्य के चित्रण में इन्होंने बिम्बों का सहारा लेकर उसे अत्यधिक प्रभावोत्पादक बनाया है।'आँसू' से लेकर उनकी सभी मुक्तक और प्रबंधात्मक रचनाएँ गीति शैली में प्रस्तुत की गयी हैं। गीतात्मकता की यह प्रवृत्ति उनके प्रख्यात महाकाव्य'कामायनी' की प्रमुख विशेषता बन गयी है। गीति शैली में प्रबंध-रचना का इसे सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है। भावानुकूल शब्द-योजना, लाक्षणिक शैली, समुचित प्रतीक विधान, बिम्बों के कुशल प्रयोग आदि के माध्यम से प्रसाद जी ने अपने काव्य को सरस, आकर्षक और अत्यधिक प्रभावोत्पादक बनाया है। प्रसाद जी की कुल रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

काव्य : 'कानन कुसुम', 'महाराणा का महत्व', 'चित्रधार', 'प्रेम पथिक', 'झरना, 'आँसू, 'लहर' तथा 'कामायनी'।

नाटक : 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कंदगुप्त, 'एक घूँट', 'चंद्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी'।

उपन्यास : 'कंकाल', 'तितली' तथा 'इरावती' (अपूर्ण)

कहानी संग्रह : 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप' तथा 'इंद्रजाल'।

निबंध : 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'।

'आँसू' (काव्यांश)

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

मानस सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कल कल ध्वनि से हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें ?

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती विलखाती सी
पगली सी देती फेरी ?

क्यों व्यथित व्योमगंगा सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना तरङ्गिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें ?

सीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी ?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा, जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणापट बुनते हो।

रो रोकर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरदमाला
पा कर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।

घिर जातीं प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आ कर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुस्क्याता था आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में ?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर !
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मग के।

MAHI-107/205

कितनी निर्जन, रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिञ्चन
देखें ज्यों स्वप्न सवेरे ।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको ।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे हजोता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से ।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को ।

MAHI-107/206

'कौन तुम ? संसृतिज'-लनिधि[2] तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

मधुर विश्रांत और एकांत -
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जय सानंद
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद;

एक झिटका सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से कौन -
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इंद्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल[3]
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

---

1 सृष्टि-प्रक्रिया, 2 समुद्र, 3 साल वृक्ष।

मसृण[1] गाँधार देश के, नील
रोम वाले मेषों के चर्म,
टँक रहे थे उसका वपु[2] कांत
बन रहा था वह कोमल वर्म[3] ।

नील परिधान बीच सुकुमर
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग ।

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम -
बीच जब घिरते हों घन श्याम,
अरूण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम ।

या कि, नव इन्द्र मील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी[5] रजनी में अश्रांत

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु[6] के पास ।

और उस मुख पर वह मुसक्यान ।
रक्त किसलय[7] पर ले विश्राम
अरूण क एक किरण अम्लान
अधिक अलसांई हो अभिराम ।

---

1 कोमल, 2. शरीर 3. कमल 4. छोटे-छोटे सींग 5. सुंदर फूल 6. चंद्रमा 7 कोमल पत्ता

नित्य यौवन छवि से हो दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहली लेखा कांत,
माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
'रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;'
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अवाध !

कहा मनु ने, नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरूपाय;
एक उल्का सा जलता भ्रांत,
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिम खंड
दौड़ कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पापंड।

आकांक्षा, 2 छल।

पहेली सा जीवन है व्यस्त'
उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ। बन कर अनजान।

भूलता ही जाता दिन रात
शजल अभिलाषा कलित[1] अतीत,
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य
दीन जीवन का यह संगीत।

क्या कहूँ क्या हूँ मैं उदभ्रांत ?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा राज ।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब,
और जड़ता की जीवन राशि
शफलता का संकलित विलम्ब ।

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
धन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मंद बयार !

नखत[2] की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत -
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत !'

---

1. सुंदर, 2. नक्षत्र ।

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष,
दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश :-

'भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी संतान ।

घूमने का मेरा अभ्यास
बढा था मुक्त व्योम-तल नित्य,
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य,

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अंधेर,
धरा की यह सिकुड़न भयतीत
आह कैसी है? क्या है पीर?

मधुरिमा में अपनी ही मौन
एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत,
चेतना मचल उठी अनजान ।

बढ़ा मन और चले ये पैर
भेल भालुओं का शृंगार
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुन्दर सम्भार।

एक दिन सहसा सिंधु अपार
लगा टकराने नग[1] तल क्षुब्ध,
अकेला यह जीवन निरूपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध[2] ।

---

1. पर्वत, 2 विश्वसनीय ।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न
भूत-हित -रत किसका यह दान !
इधर कोई है अभी सजीव,
हुआ ऐसा मन में अनुमान ।

तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लांत ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग !

हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश !

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत से बन कर अनजान ।

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त ।

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम[1] !

---

1. पृथ्वी ।

'दुख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील
छिपाये हैं जिसमें सुख गात[1]।

जिसे तुम समझे हो अभिशाल,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ, भूल;

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा[2] का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।'

लगे कहने मनु सहित विषाद :-
'मधुर मारुत से ये उच्छवास
अधिक उत्साह तरंग अबाध
उठाते मानस में सविलास

किंतु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख नहीं संदेह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गह।

---

1 शरीर, 2 सृष्टि।

कहा आगंतुक ने सस्नेह :-
अरे, तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न वासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनंद
किये है परिवर्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद चिह्न चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर

एक तुम, यह विस्तृत भू खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनंद।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते? तुच्छ विचार !
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।

MAHI-107/214

दब रहे हो अपनें ही बोझ
खोजते भी न कही अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद दल में विगत विकार ।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास ।

बनो, संसृति के मूल रहस्य,
तुम्ही से फैलेंगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

'और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान-
'शक्तिशाली हो विजयी बनो,
विश्व में गूँज रहा जय गान

'डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंग्रल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव-असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज,
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज ।

चेतन का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावो का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित ही नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश्य संदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल[1], भू जल में रहे न बंद।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें - उतरायँ;
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का कीड़ामय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाए।'

---

1 हवा।

जयशंकर प्रसाद की काव्य रचना 'आँसू' और 'कामयानी' के कुछ काव्य अंश (श्रद्धा सर्ग) पाठ्यक्रम में लिए गए हैं। आँसू की रचना 1926 ई0 और कामायनी की रचना 1936 ई0 में हुई थी। आँसू कविता का मूल भाव है कि समस्त संसार को करुणा और प्रेम की आवश्यकता है। यही भाव मानव को मानव बनाए हुए हैं। आँसू कामायनी की पूर्व पीठिका है। कामायनी में मन्वन्तर की कथा है, अर्थात मानवता के विकास की कहानी। भारतीय मिथक में ऐसा वर्णन मिलता है कि सृष्टि जल प्लावन में नष्ट हो गई तो एक मात्र पुरुष मनु और एक मात्र नारी श्रद्धा बची रही। इन्हीं के सहयोग से मानवता का विकास हुआ। कामयानी की कथा को एक रूपक के माध्यम से रचा गया है जिसमें अर्थ के अनेक स्तर हैं।

आँसू कविता में वियोग की अनुभूति है। अतीत की कोई सुखद अनुभूति कवि के मन में खिन्नता पैदा करती है। कवि अपनी प्रेम वेदना से पृथ्वी को प्रकाशित करना चाहता है। उसके हृदय में करुणा के भाव हैं, और उसके स्वरों में हाहाकार है। कविता में सागर का प्रतीक मानव हृदय की जटिलताओं का प्रतीक है। परंतु मानव-जीवन में इन जटिलताओं के बीच भी आनंद की अनुभूति होती है। मनुष्य में आनंद की यह अनुभूति वर्तमान को कुछ मीठी स्मृति की बात कहती है। कविता में क्षितिज मुक्ति का प्रतीक है। मनुष्य का जीवन जटिलताओं से मुक्त होना चाहता है, लेकिन मुक्त नहीं हो पाता है। इसलिए उसके प्रयत्न बार-बार विफल होते हैं। प्रयत्न विफल होने से उसमें पागलों सी विक्षुब्धता जागती है। सुख-दुःख की अनुभूति से तटस्थ होकर चेतना आनंद का अनुभव करती है। जटा में जिस तरह केश एक दूसरे से उलझ जाते हैं और गुंथ जाते हैं, उसी तरह मानवीय भाव भी जीवन की जटिलताओं के बीच उलझे हुए प्रतीत होते हैं। राग-विराग से परे होकर ही मानव दिव्यता को प्राप्त करता है। कवि में सृजन की पीड़ा है। जीवन की कोई घनीभूत पीड़ा फंतासी बनकर कवि के मस्तिष्क में छायी रहती है, वही फंतासी सृजन में नई अनुभूति के रूप में प्रस्तावित होती है। कवि में दर्द और पीड़ा है। यह पीड़ा उसके काव्य में दृष्टिगोचर होती है। कवि में वेदना की आकुलता और तड़प है। यह आकुलता किसी गहन अंधकार के क्षण में भावहीन दशा में कवि हृदय में उपजती है। कवि अपने जीवन में घोर निराशा के क्षणों में भी आशा को नहीं खोता है। इस संघर्ष के बल पर ही सभ्यता को अपनी रचना का सुंदर उपहार प्रस्तुत करता है। वह जीवन के अनुभवों को भूलने नहीं पाता है। वह निरीक्षण भरी दृष्टि से अपने अनुभवों की आत्मालोचना करता है और काव्यानुभूति का निर्माण करता है।

श्रद्धा काम गोत्र की बालिका है इसलिए श्रद्धा के नाम के साथ उसे कामयानी भी कहा जाता है। देव सृष्टि जलप्लावन में डूब गई। इस जलप्लावन में बीती हुई सभ्यता के अकेले प्रतिनिधि मनु बनते हैं। प्रलय के बाद धरती निकालती है और वनस्पति से धरती में जीवन

सचार शुरू होता है। प्रकृति में आशा का संचार हो रहा है परंतु मनु में अभी जड़ता बनी हुई है। श्रद्धा मनु को रचनात्मक कर्म के लिए प्रेरित करती है। श्रद्धा मनु की चिंताओं को करना चाहती है। श्रद्धा मनु से कहती है तुम सृष्टि के प्रलय में एक मणि सदृश हो। तुम निर्जल भूतल को जीवन की आभा से विभूषित कर रहे हो। मनु के पुरुषत्व को वह जगत का सुलझा हुआ रहस्य मानती है। मनु में विडम्बना हैं। उसका मन चंचल है लेकिन उसमें आलस्य है और जड़ता है। श्रद्धा के सहयोग से उसके व्यक्तित्व में ये खामियाँ दूर होंगी। प्रसाद मनु के प्रति श्रद्धा के प्रश्न में नाटकीय विडम्बना को रचते हैं। मनु में माधुर्य है, शांति है, वह एकांतप्रिय है, उसमें करुणा का सौन्दर्य है। मानसिक आलस्य में उसका व्यक्तित्व दबा हुआ रह जाता है। मनु जब निर्जन प्रदेश में मधुवाणी को सुनता है तब वह आनंदित हो जाता है। सांध्य कमल और कवि के प्रथम छंद के समान उसमें ऊर्जा का आवेग भर जाता है। मनु का मन जीवन की प्रेरणादायिनी शक्ति और स्फूर्ति से भर जाता है। श्रद्धा के कोमल स्वरों को सुनकर उसे देखने की कौतूहलता उसमें जागती है। इस स्थल पर कवि ने श्रद्धा कें रूप वर्णन में अद्‌भुत प्रतीकों और उपमाओं का प्रयोग किया है।

मनु श्रद्धा से कहता है इस सृष्टि में पृथ्वी और आकाश के बीच जीवन का रहस्य लिए मैं निरुद्देश्य भटक रहा हूँ। वह अपने को उल्का कहता है। उल्का में बुझी हुई ज्वाला होती है। जिसमें जलने का अनुभव है लेकिन वह जल नहीं बुझ रहा होता है। मनु में अतीत की चिंता है। हिंमपिंड उसके अतीत चिंतन का प्रतीक है। उसमें वर्तमान के प्रति संशय का भाव है, इसलिए वह शैल निर्झर की तरह प्रवाहशील नहीं बन पाता है। यही समस्या मनु की सबसे बड़ी समस्या है। वस्तुतः वह अपने अतीत से विछिन्न नहीं होना चाहता और वर्तमान में इतिहास की चुनौती उसके सामने है। इसी सोच में उसमें बंजरपन की अनुभूति जागती है। श्रद्धा के आत्मविश्वास को देखकर मनु में जीवन के प्रति नया अनुभव जागता है। श्रद्धा में भाव है। यह भाव उसे पतझड़ में भी हरा रखता है। मनु श्रद्धा को वसंत का दूत मानता है। उसे वह घने अंधकार में बिजली की चमक, गर्मी की शीतल बयार, नक्षत्र की आशा किरण, कवि हृदय का कोमल भाव और मानसिक हलचल के बीच आनंद की अनुभूति देने वाली कल्पना कहता है। उपर्युक्त बिंबों में संघर्ष की अनुभूति है। मनु को श्रद्धा अपना परिचय देती है। वह ललित-कला सीखने के लिए गंधर्व प्रदेश में आई थी। वह मनु से उसके मानसिक क्लेश और पीड़ा का कारण पूछती है। कामायनी मनु को कर्म-पथ की ओर प्रेरित करती है। वह मनु से कहती है दुःख के बीच आनंद की उपलब्धि होती है। रात्रि के गहन अंधकार के बाद ही प्रकाश का विस्तार होता है। यहाँ पर कवि की अनुभूति द्वन्द्वात्मक है। उसका मानना है कि दुःख को भोगे बिना सुख का अनुभव नहीं होता है। नियति ने दुःख-सुख के बीच एक झीना आवरण बना दिया है। विषमता के बीच सृष्टि गतिशील है। सुख-दुःख मानवीय जीवन की उपलब्धि हैं। परंतु मनु में विषाद है यह विषाद मनु के मानस में उत्साह को प्रेरित करता है। विकास के कारण ही देव सभ्यता का ध्वंस हुआ था। जीवन कितना असहाय और अकेला

है इसमें मनु को तनिक भी संदेह नहीं है। मनु जीवन को निराशा का पर्याय मानत ह। श्रद्धा मनु को फिर भी प्रेरित करती है। कर्म और भोग के समुचित संतुलन का संदेश देती है। बिना आकर्षण के आत्मा का विस्तार भी संभव नहीं है। श्रद्धा सृष्टि के विकास के लिए मनु को संकल्प लेने को कहती है। मनु से ही मानवीय सभ्यता का विस्तार संभव है। वह उसे निर्भय होकर सृष्टि के विकास में सहयोग करने को कहती है। जीवन की समस्त शक्ति को संयोजित कर मानव सभ्यता को विजयी बनाने का संदेश देती है।

'आँसू' कविता की मूल प्रेरणा कोई निजी आंतरिक व्यथा है। निजी व्यथा और आत्मानुभूति की प्रधानता के कारण भाषा की भंगिमा बदल गई है। भाषा लाक्षणिक और चित्रात्मक है। कविता में चित्र प्रकृति के हैं परंतु उनमें कहीं न कहीं मानवीय भावों की व्यंजना है। उदाहरण के लिए एक पद :

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला,
पा कर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला

यहाँ नीरदमाला - हृदय में घने अंधकार का प्रतीक है, झंझा-विक्षोभ का प्रतीक है, गर्जन-वेदना की तड़प और बिजली - दुःख की टीस के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः प्रसाद ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से अर्थ को विस्तार देते हैं। शब्दों में दियों का प्रयोग है। बिंब से कविता का भाव अद्वैत रूप में जुड़ा हुआ है। भाषा में प्रसाद कोमलकांत शब्दों का चयन अधिक करते हैं। इन शब्दों में अर्थ संगीत है। तत्सम शब्दों में उन्होंने अपनी जटिल भावानुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। आँसू कविता में शिल्प की कोई विशिष्ट संरचना नहीं है। बल्कि यहाँ विविध शिल्पों का अपरिपक्व संयोजन है। दार्शनिक अनुभूति और गीतात्मकता साथ-साथ हैं।

कामायनी एक प्रकार की एलेगरी है। इस कविता का प्रत्येक पात्र प्रतीक पात्र है। श्रद्धा विश्वासमयी भावना की प्रतीक है। श्रद्धा मनुष्य को मंगलमय कल्याण के लिए प्रेरित करती है। कामायनी में फैंटेसी शिल्प का प्रयोग है। फैंटेसी शिल्प में पात्र और कार्य वास्तविक तथ्यों के प्रतीक होते हैं। बिंब के द्वारा कवि ने अपनी-अपनी अनुभूतियों, भावों और कल्पित छवियों को चित्रित किया है। कवि अनुभव को जीवित रूप में रखने के लिए बिंब का प्रयोग करता है। साधारण शब्द में अनुभव जड़ हो जाते हैं :

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

इस पद में श्रद्धा के सौन्दर्य को रचने के लिए फूलों के बिंब का प्रयोग किया गया है। फूल बिजली का है। फूल में यों ही चमक होती है। बिजली का फूल श्रद्धा के अंतः और वाह्य व्यक्तित्व को प्रस्तावित करता है। नीले परिधान घटा के समान हैं। बिजली की चमक के समान श्रद्धा का अधखुला अंग सुशोभित हो रहा है। रंग गुलाबी है। प्रसाद की भाषा तत्सम शब्दों से लदी हुई है। उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह जीवन के किसी एक संदर्भ का स्पर्श नहीं करती है। उसमें इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और संस्कृति का बहुआयामी स्पर्श होता है। इन विभिन्न संदर्भों के बीच अन्तर्विरोध पैदा होते हैं। श्रद्धा दर्शन के स्तर पर आनंदवाद या भाववाद से जुड़ती है तो इतिहास के संदर्भ में वह बुद्धिवाद विरोधी प्रतीत होती है।

आँसू हमारे भावों की उपज है। मनुष्य का हृदय भाव के बिना अधूरा है। भाव हमारे दर्द को जगाते हैं। वेदना में भी एक प्रकार का आनंद होता है। सूने हृदय में गहन अंधकार के क्षणों में भी करूणा के भाव मौजूद रहते हैं। यही भाव मानव को निराशा से जूझने की शक्ति प्रदान करते हैं। आज की जटिल समस्याओं की उलझन में उदात्त और कोमल भाव खो गए हैं। यह कवि की चिंता है। कवि प्रेम और करूणा जैसे भाव को उच्चतर महत्व देता है। इन्हीं भावों से सृजनात्मकता संभव है। सृजन अनुभव की उपज है। श्रेष्ठ अनुभव पीड़ा से ही उपजते हैं। इसलिए आँसू भावों के उत्तम सृजन हैं। आँसू के छंद में प्रवाह है। भावों से छंद का तार जुड़ जाने से यह प्रवाह आया है। भाव से लय और आवेग का यह मिलन आगे के कवियों के लिए नया मार्ग प्रस्तुत करता है।

कामायनी का श्रद्धा सर्ग जीवनयात्रा में थके यात्री के लिए एक वरदान है। मनु देव सभ्यता के ध्वंस से गतिहीन और अकर्मण्य हो गया था। उसमें अतीत के प्रति मोह और आकर्षण है। उसके अंतःकरण में और वाह्य जीवन में उजड़ेपन की अनुभूति है। मनु भविष्य के जीवन की जटिलताओं से पलायन करना चाहता है। उसकी मानसिकता में पलायन है। श्रद्धा उसके जीवन में वरदान के सदृश आती है। उसे भविष्य के लिए प्रेरित करती है। श्रद्धा का मानना है मनु के कर्म के फलस्वरूप सृष्टिका विकास नई तरह से संभव है। श्रद्धा सुख-दुःख को विकास का एक हिस्सा मानती है। वह मनु को नई चुनौती का सामना करने के लिए प्रेरित करती है। देव सभ्यता की अराजकता विकास और असफलता से शिक्षा लेकर मानव को नये प्रकार से गतिशील होना चाहिए। मानवता को विजयी बनाने के लिए भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय जरूरी है। इसी अर्थ में श्रद्धा का महत्व है।

व्याख्या

''कहा मनु ने ..... वैसा ही हूँ पाषंड''

जयशंकर प्रसाद छायावाद के प्रतिनिधि कलाकार हैं। कामायनी उनकी विशिष्ट रचना है। कामायनी में प्रसाद ने इतिहास दर्शन और संस्कृति को समन्वित रूप में प्रस्तावित किया है।

इसमें उन्होंने आधुनिक जीवन के विविध अनुभवों और विविध समस्याओं को एक रूपक के माध्यम से रचने की कोशिश की है। कामायनी में भाववाद और बुद्धिवाद का भयानक अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। बुद्धिवाद ने सभ्यता को अनुभूति और राग के बिना बंजर बना दिया है। प्रसाद अपना पक्ष बुनियादी के विरोध में रखते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग कामायनी के श्रद्धा सर्ग से लिया गया है। मनु श्रद्धा की सामने अपनी जड़ता को बताता है। वह अपने मनः स्थिति से श्रद्धा को परिचित करवाया है। मनु कामायनी को अपने जीवन की निस्सारता के बारे में बताता है। आकाश और पृथ्वी के बीच उसकी जीवन रहस्य बना हुआ है। रहस्य में भावनाओं की धुंध होती है। रहस्य में कोई एक ठोस निष्कर्ष नहीं होता है। विभिन्न भावों का उसमें कोलाहल मौजूद होता है।

मनु में भी कोई भाव ठोस आकार नहीं ले पाया है। इसलिए उसका जीवन रहस्यमय बना हुआ है। नया जीवन उसके सामने नहीं है। इसलिए वह निरुपाय है। विजयदेव नारायण साही के शब्दों में कहे तो उसमें एक विराट रिक्तता है। यह रिक्तता उसमें अतीत और इतिहास के खंडित होने से पैदा हुई है। वह अपने को उल्का कहता है। उल्का की यह विशेषता होती है कि वह किसी ग्रह उपग्रह या तारे का टूटा हुआ हिस्सा होता है। उसमें उस तारे की ज्वाला विद्यमान होती है लेकिन वह बुझती हुई दशा में होती है। मनु वैसा ही उल्का पिंड है जो देव सभ्यता से टूटकर अलग हुआ है। देव सभ्यता स्वयं में भोगी विलासी सामंती व्यवस्था का प्रतीक है। ऐसी हीन दशा और परिस्थिति में मनु असहाय और अकेला है।

मनु अपने को हतभाग्य कहता है। वह शैल निर्झर नहीं बन सका। शैल निर्झर का अर्थ है, वह पूर्णतः अतीत से विमुक्त नहीं हो सका है। वह हिमपिंड से अलग हो गया है परंतु जल नहीं बन सका है, वह हिमखंड बना हुआ है। वह न जमा हुआ है औ न पिघला हुआ।

मनु में अतीत और वर्तमान के प्रति ही चिंता नहीं है उसमें भविष्य के प्रति भी आशंका है। जल जो हिमपिंड न रह पाया जो शैल निर्झर नहीं है, वह जलनिधि में किस प्रकार मिल सकता है जिसमें सामर्थ्य नहीं वह अगतिमय जीवन किस प्रकार से भविष्य को आकार देगा किस समस्या को यहाँ उठाया गया है।

विशेष

1) प्रसाद इस पद में एक भारतीय की विभाजित मानसिकता को अभिव्यक्त करते हैं।
2) यह विभाजन पश्चिमी मूल्यों के दबाव में हुआ है।
3) मनु के खंडित कालबोध को अभिव्यक्त किया गया है।
4) कुछ ध्वन्यात्मक शब्दों का साभिप्राय प्रयोग है यथा-रहस्य, उल्का, हिमखंड इत्यादि।
5. भाषा में तत्सम प्रधान शब्दावली का प्रयोग किया गया है। छंद में लय और तुक का नियोजन है।

13. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

जीवन परिचय

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का जन्म बंगाल के महिषादल राज्य के अंतर्गत मेदनीपुर जनपद में 1896 ई0 में हुआ था। इनके पूर्वज उत्तर-प्रदेश के उन्नाव जनपद के गढ़कोला गाँव के निवासी थे, जो खेती-बाड़ी का काम करते थे। इनके पिता पं0 रामसहाय त्रिपाठी महिषादल राज्य में नौकरी प्राप्त कर स्थाई रूप से वहीं बस गए।'निराला' जी का माता-पिता द्वारा दिया गया नाम सूर्यकुमार था, जिसे काव्य-क्षेत्र में पदार्पण के बाद इन्होंने सूर्यकांत के रूप में बदल दिया। अपने निरालेपन को दिखाने के लिए इन्होंने'निराला' उपनाम को भी अपने नाम के साथ जोड़ लिया। तीन वर्ष की अल्प आयु में ही माँ के निधन से इन्हें मातृस्नेह से वंचित होना पड़ा। पिता की डांट-फटकार और मार-पीट ने इन्हें बचपन से ही चिड़-चिड़ा, अक्खड़ और जिद्दी बना दिया था।

निराला जी की आरंभिक शिक्षा बंग्ला में हुई, लेकिन नवीं कक्षा के बाद पारिवारिक परिस्थितियों के कारण इन्हें नियमित शिक्षा से वंचित होना पड़ा। स्वाध्याय के बल पर ही इन्होंने बंगला, अंग्रेज़ी और संस्कृत भाषा और साहित्य का समुचित ज्ञान प्राप्त किया। 14 वर्ष की अल्प आयु में ही इनका विवाह मनोहरा देवी के साथ सम्पन्न हो गया था। लेकिन 1918 ई0 में ही इनकी पत्नी का इंफ्लुएंजा की बीमारी से देहांत हो गया। इस बीमारी के प्रकोप में इनके पिता, चाचा और अन्य कई पारिवारिक सदस्यों को भी अकाल कालकवलित होना पड़ा। कुछ दिनों बाद इनके एक मात्र पुत्र का भी निधन हो गया। शेष बची पुत्री सरोज का पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। अपनी 22 वर्ष की अल्प आयु में विधुर होने के पश्चात् अपनी ससुराल के सगे-संबंधियों के अत्यधिक आग्रह-अनुरोध के बावजूद निराला ने ज़िंदगी भर पुनर्विवाह नहीं किया। पुत्री सरोज भी मात्र 19 वर्ष की अवस्था में प्रसूति पीड़ा से इस संसार से विदा हो गयी। इन परिस्थितियों ने निराला को नितांत अकेला बना दिया।

निराला जी ने बंगाल से उत्तर-प्रदेश अपने गाँव लौटकर पत्नी मनोहरा देवी की प्रेरणा से हिंदी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। इनकी प्रथम कविता'जूही की कली' (1916) सरस्वती पंत्रिका में प्रकाशन योग्य न समझ कर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने वापस भेज दी थी।

आज यह कविता छायावाद की कुछ श्रेष्ठतम कविताओं में परिगणित की जाती है। सन् 1923 में निराला ने मतवाला नामक पत्रिका का संपादन आरंभ किया, जो हिंदी का पहला व्यंग्यात्मक पत्र था। इससे निराला जी को पर्याप्त ख्याति मिली। अपनी पुत्री के 1935 ई0

में निधन के बाद वे कहीं स्थिर होकर नहीं रह सके। वे अत्यंत विक्षिप्त की सी अवस्था में कभी लखनऊ, कभी सीतापुर, कभी काशी तो कभी प्रयाग का चक्कर लगाते रहे। 1950 ई0 से वे दारागंज, प्रयाग में स्थायी रूप से रहने लगे। वहीं 15 अक्तूबर 1961 को इनका देहावसान हुआ। अनेक अवरोधों और दैवी विपत्तियों से खिन्नता के बावजूद निराला जीवन पर्यन्त साहित्य-रचना से कभी उदासीन नहीं हुए।

'निराला' के स्वभाव की विचित्रता ने उन्हें एक निराला व्यक्तित्व प्रदान किया था। करूणा और क्रोध, आत्म सम्मान और विनम्रता, कठोरता और अतिशय कोमलता, अक्खड़पन और सहजता आदि विरोधी प्रवृत्तियों के संयोग से उनका अंत्यंत जीवंत और आकर्षक व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। स्वस्थ, सुंदर, रोबीला और विशालकाय शरीर, उन्नत ललाट और गर्वीला चेहरा, बुलंद आवाज़ आदि बरबस लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। अभावग्रस्तता के बावजूद ठंड से सिकुड़ते भिखारियों को अपनी दुशाला और रजाई तक दे देने में इन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। हिंदी के गौरव और अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए गांधी - नेहरू जैसी हस्तियों को फटकार देना इनका स्वभाव था। इनके आकर्षक और ऊर्जापूर्ण व्यक्तित्व के कारण आलोचक इन्हें महाप्राण तथा जन सामान्य दारागंज का संत या 'दीनों का मसीहा' कहते थे। ये सारी विशेषताएँ इनकी रचनाओं में अत्यंत कलात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं।

साहित्यिक योगदान

निराला के जीवन और व्यक्तित्व की भाँति कृतिम्व भी वैविध्यपूर्ण है। इनके द्वारा प्रयुक्त साहित्य विधाओं और उनके शीर्षकों से उक्त तथ्य की पुष्टि आसानी से हो जाती है।

निराला का रचना-संसार इनकी उदार और अत्यंत विकसित लोकोन्मुखी सामाजिक चेतना का परिचायक है। अपने काव्य की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कवि ने लिखा है कि 'मैंने भाव, भाषा और छंद की उलटी गंगा बहाई है।' विषय-वस्तु की दृष्टि से देखें तो जहाँ एक ओर इन्होंने 'जूही की कली', 'संध्या-सुंदरी' जैसी कविताओं में प्रकृति के मानवीकरण की अपनी छायावादी प्रकृति का परिचय दिया है, वहीं राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज स्मृति' जैसी उदात्त भावों से पूर्ण महाकाव्यात्मक कविताओं का सृजन किया है। अन्य छायावादी कवियों के लिए अकल्पनीय और अज्ञात विषयों पर भी निराला ने कविताएँ लिखकर अपने निरालेपन का परिचय दिया है। गर्म पकौड़ी सजोहरा की बुआ', 'झींगुर डट कर बोला', 'महँगू मँहगा रहा डिप्टी साहब आए', कुत्ता भौंकने लगा', 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताएँ उक्त तथ्य के साक्षात प्रमाण हैं। भिक्षुक वह तोड़ती पत्थर', 'वन-बेला', 'बादल राग' जैसी कविताएँ लिखकर निराला ने प्रगतिशील आंदोलन

से पूर्व ही अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दे दिया है। प्रगतिशील आंदोलन की हवा में बह जाने वाले पंत की भाँति इन्हें 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' जैसे काव्य ग्रंथों की जरूरत नहीं महसूस हुई। इस दौर में इन्होंने 'नए पत्ते' शीर्षक संग्रह में संकलित कविताओं में किसान - मजदूर चेतना की क्रांतिकारिता के साथ उनकी समुचित शिक्षा और जागरण की अनिवार्यता को रेखांकित किया। निराला के सम्पूर्ण काव्य-जगत का निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद सम्पूर्ण रूप से कहा जा सकता है कि इन्होंने आत्म-संघर्ष को काव्य - संघर्ष में ढाल कर आत्मपरकता से समाजपरक होने का कलात्मक नमूना प्रस्तुत किया है।

भावों की विविधता के साथ ही भाषा एवं शैली संबंधी विविधता भी निराला को छायावादी कवियों के बीच एक नयी पहचान देती है। 'जूही की कली' से लेकर 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज स्मृति' जैसी प्रबंधात्मक रचनाओं में इन्होंने संस्कृतनिष्ठ समासयुक्त पदावली के माध्यम से अत्यंत परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया है। लेकिन 'बेला' और 'ये पत्ते' में बोलचाल की मिश्रित भाषा के बीच स्थानीय बोली के आंचलिक शब्दों की समुचित प्रयोग कर इन्होंने हिन्दी खड़ी बोली के जातीय स्वरूप को नयी शक्ति प्रदान की है। काव्य-भाषा की यह विशिष्टता हमें अन्य छायावादी कवियों में नहीं मिलेगी।

हिन्दी कविता में मुक्त छंद का प्रवर्तन करने का श्रेय भी निराला को ही मिलता है। भाषा के साथ ही छंद विधान में भी निराला ने अपने निरालेपन का पूर्ण परिचय दिया है। निराला अत्यंत संगीत प्रेमी व्यक्ति रहे हैं। अपने मुक्त छंदों में भी इन्होंने गेयता और संगीतात्मकता की पूर्ण रूप से रक्षा की है। इनकी 'गीतिका' राग-रागिनीयों पर आधारित गीति-काव्य है। भारत के शास्त्रीय - संगीत से अलग एक नयी संगीत-पद्धति की अनिवार्यता को 'गीतिका' के माध्यम से कवि ने रेखांकित किया है। 'राम की शक्तिपूजा' 'सरोज स्मृति' आदि जैसी अनेक महत्वपूर्ण कविताओं की रचना इन्होंने परम्परागत छंदों में की है। लेकिन समुचित विराम चिह्नों के सहारे उसकी तुकांतता को भावधारा के प्रवाह में कहीं बाधक नहीं बनने दिया है। 'राम की शक्ति पूजा' के पूरे प्रथम पृष्ठ पर देखें तो कॉमा, हाइफन, डैश, सेमीकोलन आदि के माध्यम से आरंभ से अंत तक एक ही वाक्य का प्रयोग हुआ है - और अंत में जाकर पूर्ण विराम आता है। अतः मुक्त छंद की निराला की अवधारणा छंद से मुक्ति न होकर उसके बंधनों से मुक्ति है। इस प्रकार इन्होंने शास्त्रीय छंदों को भी अपनी भावधारा की अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाया है। भाव, भाषा एवं सभी दृष्टियों से निराला ने जितने प्रयोग किए हैं, उतने प्रयोग किसी एक काव्यधारा के सभी कवि मिलकर भी नहीं कर सके हैं। इससे निराला की अलग पहचान बनी है। निराला की समस्त रचनाएँ निम्नलिखित हैं:-

काव्य : 'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीराम', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला' 'नये पत्ते', 'अर्चना', 'आराधना' तथा 'गीत पुंज'

उपन्यास : 'अप्सरा', 'अकला', 'प्रभावती', 'निरूपमा', 'उच्छृखल', 'वोटी की पकड़' तथा 'काले कारनामे'

कहानी संग्रह : 'चतुरी चमार, 'सुकुल की बीबी', तथा 'लिली' सखी'

निबंध संग्रह : 'चाबुक', 'प्रबंध-पद्य', 'प्रबंध-प्रतिमा', तथा 'प्रबंध-परिषद'

रेखाचित्र : 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'कुल्ली भाट'

आलोचना : 'पंत और पल्लव', तथा 'रवीन्द्र कविता कानन'

नाटक : 'शकुंतला'

जीवनी : 'राणा प्रताप', 'प्रह्लाद', 'भीम तथा 'ध्रुव'

अनुवाद : 'महाभारत', 'श्रीराम कृष्ण वचनामृत', 'विवेकानन्द के भाषण', 'देवी चौधरानी', कृष्णकांत का बिल' तथा 'आनंद मठ'

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी[2] पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मन -
अमल[3]-कोमल-तनु तरूणी - जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल-पत्राङ्क में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिय-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद विछुड़न से मिलन की वह मधुर बात
आयी याद चांदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पत कमनीय गात[4]
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन[5]
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुंचा जहाँ उसने की केलि
कली-कली-साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक के चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिन विशाल नेत्र मूँदे रही-
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,

---

1 एकांत, 2 लता, 3 कोमल, 4 स्वस्थ शरीर जिसमें काम का आकर्षक हो, 5 पर्वतीय वन।

निर्दय उस नायक ने
निपट निदुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती -
चकित चितंवन निज चारों ओरफेर
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुख हँसी -खिली,
खेल रंग, प्यारे संग।

MAHI-107/227

(2)

जागो फिर एक बार

समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु-रो
सिन्धु-नद-तीरवासी
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग;
सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ऊँगा
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में?
शेरों की माँद में
आया हैं आज स्यार -
जागो फिर एक बार !

सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल -
तीनों गुण - ताप त्रय,
अभय हो गये थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान । तीव्र
भेदकर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोकहारी । पहुँच थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार -
जागो फिर एक बार !

सिंह की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेषमा ही
रहती है निर्निमेष-
दुर्बल वह -
छिनती सन्त न जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तत्प आँसू बहाती है; -
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं-
गीता है, गीता है-
स्मरण करो बार-बार -
जागो फिर एक बार!

पशु नहीं, वीर तुम
समर-शूर क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर! - समर-सरताज!
पर क्या है,
सब माया है - माया है,
मुक्त हो सदी ही तुम,
बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप !
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूँका हुआ -
'तुम हो महान, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव, कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज-भर भी है नहीं
पूरा यह विश्व-भार -
जागो फिर एक बार!

राम की शक्ति पूजा

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विद्युत[1]-क्षिप्र-कर[2] वेग-प्रखर,
शतशैलसम्वरणशील[3], नीलनभ-गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, - भेद-कौशल-समूह,-
राक्षस - विरुद्ध प्रत्यूह[4], - क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि[5]-राजीवनयन[6] - हत - लक्ष्य - बाण,
लोहितलोचन[7] - रावण - मदमोचन[8] - महीयान[9],
राघव-लाघव-रावण-वारण[10] - गत - युग्म - प्रहर,
उद्धत - लंकापति-मर्द्दित - कपि - दल - बल-विस्तर,
अनिमेष-राम-विश्वविद्यालय-शर - भङ्ग - भाव, -
विद्धाङ्ग[11] - बद्ध-कोदण्ड[12] - मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव,
रावण - प्रहार-दुर्वार[13] - विकल-वानर दल - बल,-
मूर्च्छित-सुग्रीववाङ्गद - भीषण-गवाक्ष - गय - नल,
चारित - सौमित्र[14] - भल्लपति-अगणित-मल्ल-रोध,
गर्ज्जित - प्रलयाब्धि-क्षुब्ध - हनुमान-केवल - प्रबोध,
उद्गीरित[15] - वह्नि-भीम - पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,
जानकी-भीरु - उर-आशाभर-रावण- सम्वर।
लौटे युग - दल । राक्षस - पदतल पृथ्वी टलमल,
विध महोल्लास से बार - बार आकाश विकल।
वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल[16] ज्यों विभिन्न;
प्रशमित है वातावरण, नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता-पल, पीछे वानर-वीए सकल,
रघुनायक आगे अपनी पर नवनीत - चरण,
श्लथ धनु-गुण है कटिबन्ध स्रस्त-तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मुकुट हो विषर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर बाहुओं पर वक्ष पर विपुल

---

1. नुकीले तीर से बिधा हुआ, 2. तेज़ किरणें, 3. सौ पर्वतों के समान जिसका स्वभाव हो, 4. विघ्न 5.आँखों से आग फेंकना, 6. कमल के समान नेत्र वाला, 7. लाल-लाल आँखे, 8. अभिमान से भरा हुआ 9. जोर से चढ़ाई करना, 10. कवच, 11. अंग से बेधना, 12. धनुष-बाण, 13. भयंकर, 14. लक्ष्मण, 15. भयंकर रूप से प्रकट होना, 16. बौद्ध भिक्षुओं का दल।

उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों ही कहीं, पार।
आये सब शिविर, सानु[1] पर पर्वत के, मन्थर,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर,
सेनापति दल-विशेष के, अङ्गद, हनुमान
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए फेर वानर-दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघु-कुल-मणि श्वेत शिला पर, निर्मल जल
ले आये कर-पद-क्षलनार्थ[2] पटु हनूमान;
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या-विधान-
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर[3],
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर।
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर[4],
सुग्रीव, प्रान्त[5] पर पाद-पद्म के महावीर,
यूथपति अन्य जो, यथास्थान, हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम-देश।

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चोर;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय,
जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त[6],
एक भी, अयुत[7]-लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त[8],
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार - हार।
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया - कुमारिका - छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक,याद आया उपवन
विदेह[9] का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का - नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण,

1. सानु सभा-स्थल, 2. हाथ-पाँव धोने के लिए पानी, 3. तुरंत, 4. जाम्ब-वान, 5. सामने, 6. शत्रु के दमन से शांत, 7. न चूकने वाला, 8. अपराजित, 9. मिथिल।

पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थल - पतन
काँपते हुए किसलय,-झरते पराग-समुदाय
गाते खग-नव-जीवन-परिचय-तरू मलय-वलय
ज्योति प्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी - नयन- कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।
सिहरा तन, क्षण-भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भङ्ग को पुनर्वार[1] ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय - भावना हृदय में आयी भर,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,-
फड़का धर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ[4] ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु[5], विराध[6], शिरस्त्रय, दूषण, खर[7];
फिर देखी भीमा[8] मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुये सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण,
या महानिलय[9] उस तन में क्षण में हुए लीन;
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,
खिंचे गये दृगों में सीता के राममय नयन;
फिर सुना -हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भाक्ति नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल।

बैठे मारुति[10] देखते राम-चरणारविन्द
युग'अस्ति-नास्ति' के एक-रूप, गुण-गण अनिन्द्य;
साधना-मध्य भी साम्य-वाम-कर दक्षिण-पद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद
पा सत्य, सच्चिदानन्दरूप, विश्राम - धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम - नाम।

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारादल;
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,-

---

1 निज, 2 योग में आनंद की दशा, 3 फिर से नया होना, 4 पुकारा के समीप मंडराने वाले कीड़े-मकोड़े 5 राक्षस जिनका राम ने वध किया था, 6 राक्षस जिसे दण्डकारण्य में राम-लक्ष्मण ने मारा था 7 राक्षसों के नाम 8 भयंकर 9 महाशक्ति 10 हनुमान।

सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ;
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल,
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकस
बैठे वे वही कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख, निश्चेतन।
'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति - खेल - सागर अपार,
हो स्वसित पवन-उनचास, पिता - पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग - भङ्ग उठते पहाड़,
जल राशि - राशि जल पर चढ़ता खात पछाड़
तोड़ता बन्ध - प्रतिबन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन[1] बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादशरुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास
रावण - महिमा श्यामा विभावरी - अन्धकार,
यह रुद्र राम - पूजन - प्रताप तेजः प्रसार;
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
इस ओर रुद्र-वन्दन जो रघुनन्दन-कूजित;
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण-भर, चंचल,
श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर,
बोले-'सम्बरो देवि, निज तेज, नहीं वानर
यह, - नहीं हुआ शृंगार - युग्म - गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय-शरीर,
चिर - ब्रह्मचर्य - रत, ये एकादश रुद्र धन्य,
मर्यादा - पुरुषोत्तम के सर्वोतम, अनन्य,
लीलासहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देखि, तुम्हारी विषम हार;

---

1. उज्जवल मेष।

विद्या का ले आश्रय इस मन को दे प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।
कह हुए मौन शिव, पवन-तनय में भर विस्मय
सहसा नभ में अञ्जना[1]-रूप का हुआ उदय;
बोली माता- तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें, रहे बालक केवल;
यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह,
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल-
पूजते जिन्हें श्रीराम, उसे ग्रसने को चल
क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ ? -सोचो मन में;
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने ?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य-
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिए धार्य ?
कपि हुए नम्र क्षण में माताछवि हुई लीन,
उतरे धीरे-धीरे गह प्रभु-मद हुए दीन।

राम का विकणानन देखते हुए कुछ क्षण,
हे सखा, विभीषण बोले, आज प्रसन्न वदन
वह नहीं, देखकर जिसे समग्र वीर व नर-
भल्लूक विगत-श्रम हो पाते जीवन-निर्जर,
रघुवीर तीर सब वही तूण में हैं रक्षिस,
हैं वही वक्ष, रण-कुशल हस्त, बल यही अमित,
हैं वहीं सुमित्रानन्दन मेघनाद-जित-रण,
हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रसन,
तारा-कुमार[2] भी वही महादेव श्वेत धीर
अप्रतिभट वही एक-अर्बुद-सम महावीर[3]
हैं वही दक्ष सेना-नायक है वही समर[4]
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर ?
रघुकुल गौरव लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण
तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण !

---

1 हनुमान की माँ अंजना 2 जाम्बान, 3 अंगद, 4 पहाड़।

कितना श्रम हुआ व्यर्थ ! आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय !
रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष-गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर,-
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिस,-
सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित पिक
मैं बना किन्तु लंकापति धिक राघव धिक-धिक !

सब सभा रही निस्तब्ध : राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए, शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव
उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव;
ज्यों हों वे शब्द मात्र,-मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति
कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज, निज कोमल स्वर
बोले रघुमणि - मित्रवर, विजय होगी न समर
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण
उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण;
अन्याय जिधर है उधर शक्ति । कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः छलके दृगजल
रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण-तेज-प्रचण्ड
धस गया धरा में कपि गह युग पद मसका दण्ड,
स्थिर जाम्बवान,-समझते हुए ज्यों सकल भाव
व्याकुल सुग्रीव,-हुआ उर में ज्यों विषम घाव
निश्चित-सा करते हुए विभीषण कार्य-क्रम
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले -आया न समझ में यह दैवी विधान,
रावण अधर्मरत भी, अपना मैं हुआ अपर -
वह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर

करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेजःपुन्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार -
शत-शुद्धि-बोध[1] -सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें हे क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत[2], खण्डित !
देखा, हे महाशक्ति रावण को लिये अङ्क,
लच्छन को ले जैसे शशाङ्क नभ में अशङ्क;
हत मन्त्रपूत संवृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार !
विचलित लख कपिदल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात् देखने लगीं मुझे, बंध गये हस्त,
फिर खिंचा व धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त!
कह हुए भानुकुलभूषण वहाँ मौन क्षण-भर,
बोले विश्वस्त काण्ठ से जाम्बवान - "रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुष-सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक
मध्य भाग में, अङ्गद दक्षिण-श्वेत सहायक,
मैं भल्ल-सैन्य, हैं वाम पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण-उसके प्रधान;
सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय
आयेंगे रक्षाहेतु जहाँ भी होगा भय।"

---

1. मन में पावनता का बोध, 2. शोभा श्रंगार नष्ट होगा।

खिल गयी सभा। उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ !
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल -तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।
बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास-स्थित-
'मातः, दशभुजा, विश्व-ज्योतिः, मैं हूँ आश्रित;
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरंजन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्ज्जित !
यह, यह मेरा प्रतीक, मातः, समझा इङ्गित;
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।
कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए, राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्र-मुख-निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर, स्वर मेघमन्द्र-
'देखो, बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द - बिन्दु;
गरजता चरण - प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक - समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव - मंगल पदतल धँस रहा गर्व-
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए-
चाहिये हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम-से-कम अधिक और हों, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु-पद - रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।

राघव न विदा किया सबका जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय !

विशि हुई विगत : नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा - ज्योति - हिरण;
है नहीं शरासन आंज हस्त - तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निविड़-जटा दृढ़ मुकुट-बन्ध;
सुन पड़ता सिंहनाद-रण-कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं सन् स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन - से - गहनतर होने लगा समाधान।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया उर्ध्व निरलस[1];
कर-जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण[2] इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ रामाहित मन,
प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण;
सन्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर;
दो दिन-निष्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम;
आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा - हरि - शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता-पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर,
हंस उठा ले गयी पुजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जब, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल;
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चञ्चल

---

1. तत्परता, 1 किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहले से ही उपाय

ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ता असिद्धि भर गये नयनद्वय :-
'धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका।'
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा, विद्युत् - गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।
'यह है उपाय' कह उठे राम जयों मन्द्रित घन -
'कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर माता एक नयन।'
कहकर देखा तुणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक,
ले अस्त्र वाम पर दक्षिण कर दक्षिण लोचन
लै अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने को दुग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय

'साधु, साधु, साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम!
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने - सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वाम पद असुर-स्कन्ध पर रहा दक्षिण हरि पर,
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र-सज्जित,
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित,
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाँये रण- - रङ्ग राग,
मस्तक पर शंकर। पदपद्मो पर श्रद्धाभर
श्री राघव हुए प्रणत नन्दस्वर वन्दन कर।
'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।

बादल राग (6)

तिरती है समीर - सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया-
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया-
यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षा से,
थन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊंचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल!
फिर-फिर।
बार-बार गर्जन
वर्षण है मूसलधार,
हृदय थाम लेता संसार,
सुन-सुन घोर वज्र-हुङ्कार।
अशनि-पात[1] से शायित उन्नत शत-शत वीर
क्षत-विक्षत हत अचल-शरीर,
गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर।
हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार-
शस्य अपार,
हिल-हिल
खिल-खिल,
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते

बिजली गिरना

विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।
अट्टालिका नहीं है रे
आतङ्क-भवन,
सदा पङ्क पर ही होता
जल-विप्लव-प्लावन,
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर,
रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर।
रुद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष
अङ्गना-अङ्ग पर लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं।
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार!

राजे ने अपनी रखवाली की

राजे ने अपनी रखवाली की;
किला बनाकर कहा;
बड़ी - बड़ी फ़ौजे रखीं।
चापलूस कितने सामन्त आये।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।
कित्तने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये,
लेखकों ने लेख लिखे,
ऐतिहासिकों ने इतिहासों के पन्ने भरे,
नाटयकलाकारों ने कितने नाटक रचे,
रङ्गमंञ्य पर खेले।
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक-नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुई।
थर्म का बढ़ावा रहा थोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा थर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
खून की नदी बही।
आँख-कान मूंदकर जनता ने डुबकियाँ लीं।
आँख खुली - राजे ने अपनी रखवाली की।

'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु!'

बाँधों न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !

यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु!

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी
देती थी सबके दाँव, बन्धु !

MAHI-107/243

मैं अकेला

मैं अकेला;
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य बेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।

जानता हूँ नदी-झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं मेला।

। पुराने ढंग की नाव

कविताओं के बारे में

निराला की सात कविताओं का अध्ययन हमें इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत करना है। ये कविताएँ हैं- 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'बादल राग-6', 'राम की शक्तिपूजा' 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'बांधो न नाव ठाँव बंधु' तथा 'मैं अकेला'। 'जूही की कली', 1932 में प्रकाशित हुई थी। यह कविता 'अनामिका' काव्य संकलन में संकलित है। इस कविता में कवि ने प्रकृति को श्रृंगारिक मनोभाव के अनुकूल रचा है। इस कविता में श्रृंगारिक अनुभूति की मांसल वास्तविकता का वर्णन है।'बादल राग-6'1924 की रचना है। इस कविता में कवि ने कृषक जीवन की वास्तविकता का वर्णन करते हुए उनके जीवन में वर्षा के महत्व को प्रतिपादित किया है। 'जागो फिर एक बार' कविता 1926 में प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' में प्रकाशित हुई था।यह कविता जागरण गान है।इस कविता में कवि ने स्वर्णिम अतीत का स्मरणकर भारतवासियों को राष्ट्र उत्थान के लिए प्रेरित किया है। 'राम की शक्तिपूजा'1936 की रचना है। इस रचना में कवि ने मनुष्य के पराजित और अपराजित मन के अंतर्द्वन्द्व को अंकित किया है। 'राजे ने अपनी रखवाली की' शीर्षक कविता 'नये पत्ते' नामक काव्य संकलन में संकलित है। इसमें कवि ने सत्ता का पोषण करने वाले लोगों पर व्यंग्य किया है। 'मैं अकेला' शीर्षक कविता का रचनाकाल 1940 ई0 है। इस कविता में कवि ने अपने थके हुए व्यक्तित्व को उभारने का प्रयत्न किया है। 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' में निराला ने अपनी सुखद स्मृति की तन्मयता से वर्णित किया है।

निराला ने अपने साहित्यिक जीवन में प्रारंभ में 'जुही की कली' कविता लिखी थी। जुही की कली इस कविता में मलयानिल की प्रेयसी है। कवि ने प्रकृति के उपादानों को आधार बनाकर मानवीय श्रृंगार भाव का अकुंठ वर्णन किया है। प्रेयसी जुही की कली से संयोग की अनुभूति का स्मरण आते ही मलयनिल उससे मिलने के लिए कामातुर हो जाता है। वह विघ्न बाधाओं को पार कर उस उपवन में पहुँचता है जहाँ जुही की कली खिली हुई थी। मलयानिल और जुही की कली के बीच रति-क्रीड़ा का वर्णन है। 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता का स्वर उद्‌बोधनात्मक है। कवि राष्ट्रीय जीव के संकट के क्षणो में अतीत का स्मरण करता है। वह विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से यह समझाने की कोशिश करता है कि भारतवासी वीरों की संतान है। निराला का विरोध अंग्रेजों के शासन तक सीमित नहीं है। वे उस मानसिकता के विरुद्ध भी है। जो पश्चिम की दुहाई दिया करती है।कवि गीता का स्मरण करने को कहता है, जिसमें निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी गई है।

बादल-राग कविता में निराला ने बादल को ध्वंस और सृजन का प्रतीक माना है।बादल की गर्जना को सुनकर जहाँ पृथ्वी पर छोटे-छोटे पौधे में नव जीवन का संचार होता है, वहीं सुविधाभोगी वर्ग उस गर्जना से आतंकित होता है। किसान बादल की ओर आशाभरी दृष्टि से देखता है। बादल उसका जीवनधार है। शोषित किसान जीर्ण-शीर्ण शरीर से बादल का

अभिनंदन करते हैं। बादल यहाँ क्रांति का भी अग्रदूत है। 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने राम और रावण के युद्ध की पृष्ठभूमि को आधार बनाया है। राम और रावण का संग्राम दो व्यक्तियों का संग्राम नहीं होकर उन शक्तियों का संघर्ष हैं जो संसार में सतत क्रियाशील रहती हैं। अन्याय के पक्ष को विजयी होते देख राम में निराशा और संशय का भाव पैदा होता है। परंतु राम अंतर्मन से अपनी हार स्वीकार नहीं करते हैं। उनका अपराजेय मन विजय की आकांक्षा के साथ संघर्ष करता है। राम शक्ति की उपासना करते हैं और विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। कवि ने विवशता, शंका, आत्मविश्वास, उत्साह, संयम आदि अनेक भावों को संश्लिष्ट बिंबों के माध्यम से प्रस्तावित किया है।

'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता में कवि सत्ता की भर्त्सना करता है। हर सत्ता अपने अनुकूल व्यवस्था का कर्मकांड रचती है। साहित्यकार, विद्वान, कलाकार, सिपाही आदि इस व्यवस्था के अंग होते हैं। सत्ता उनका पोषण करती है। जनता को सच्चाइयों से दूर रखा जाता है। सभ्यता के नाम पर युद्ध होता है। 'बाँधो न नाव उस ठाँव बंधु' में कवि किसी सुखद स्मृति का ध्यान कर भाव से भर उठता है। वह स्मृति कवि में दर्द जगाती है। किसी नायिका का घाट पर आना और नहाना कवि को अच्छा लगता था। उसकी आकर्षक हँसी कवि को मंत्रमुग्ध कर देती थी। 'मैं अकेला' कविता में कवि अपने को वृद्ध अनुभव करता है। वृद्धावस्था के लक्षण उसके चेहरे पर दिखाई पड़ने लगे हैं। इस बात की वेदना कवि में है। वृद्धावस्था में कवि अकेला है। वह कहता है जीवन से जितना संघर्ष करना था कर चुका। अब जीवन को बिना किसी सहारे के पार कर जाना है।

'जुही की कली' कविता की भाषा तत्सम प्रधान है परंतु यह हमारे जीवन के अनुभवों के प्रति जड़ नहीं है। कवि ने रूप, रस, गंध और स्पर्श के ऐंद्रिय बिंबों का प्रयोग किया है। प्रकृति का उद्दीपनपरक वर्णन है परंतु यह उद्दीपन रीतिकालीन उद्दीपन से अलग है। स्मृति और वियोग का साथ-साथ प्रयोग उसे घिसे-पिटे उद्दीपन से अलग करता है। 'बादल-राग' कविता में ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से अर्थ की अनेक छायाओं का आभास मिलता है। ध्वंस और सृजन के अनुकूल प्रकृति के बिंबों का प्रयोग किया गया है। अवरोध तोड़कर नया जीवन प्राप्त करने के बिंब अधिक हैं। कविता में आंतरिक लय का गठन है। छंद बंधन तोड़कर मुक्त दिखाई पड़ते हैं। 'जागो फिर एक बार' कविता में तर्क और भाव एक दूसरे के इतने निकट हैं कि वे एक ओजपूर्ण प्रवाह का निर्माण करते हैं। भाषण की शैली में पूरी काव्य संरचना का गठन हुआ है। निराला इस कविता में वार्तालाप करते दिखाई देते हैं।

'राम की शक्तिपूजा' मुख्यतः तत्सम बहुल संस्कृत हिंदी की काव्यकृति है। इसमें सामासिक शब्दों के प्रयोग से अर्थ ध्वनन पैदा किया गया है। नादादुरजित शब्दों, ध्वनियों के अंतर से भाषा में अर्थबोध का अंतर दिखाया गया है। इस प्रकार भाषा का बहुस्तरीय प्रयोग पूरी

कविता में व्याप्त है। नाटकीय शैली में रचना का गठन हुआ है। नाटक के अनुसार कविता में तीन दृश्य हैं। प्रथम दृश्य राम और रावण के अपराजेय युद्ध का, दूसरा दृश्य राम की सानु सभा का और तीसरा दृश्य राम की शक्ति साधना का। कविता में भाव तेजी से परिवर्तित होते हैं। यहाँ कोमल, मधुर, ओजपूर्ण भावों का सफल संयोजन हुआ है। 'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता में गद्य का दबाव दिखाई पड़ता है। कविता में किसी प्रकार की तराश और चमत्कार नहीं है। सीधे और स्पष्ट शब्दों में एक भाव की स्थितियों से कविता को बुना गया है। कविता में यथार्थ और व्यंग्य का तनाव है। यहाँ बोलचाल के शब्दों से कविता का गठन हुआ है। 'बाँधो न नाव इस छाव बंधु' तथा 'मैं अकेला' में कवि ने निजी अनुभूति को गीतात्मक अभिव्यक्ति दी है।

निराला विद्रोही चेतना के कवि थे। उनकी कविता में यह विद्रोह भाषा और अनुभूति दोनों धरातलों पर स्पष्ट पड़ता है। उनकी कविता में शोषण अन्याय के विरुद्ध तीव्र असंतोष है। वे अपराजेय भाव से उदात्त मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हैं। उनका काव्य अनेक प्रतीकों से भरा हुआ है। उसमें संषर्घ के प्रतीक हैं, क्रांति के प्रतीक है और नये जीवन मूल्यों के प्रतीक हैं। बादल निराला के लिए क्रांति का प्रतीक है जो शोषित किसान के जीवन में नवसंचार करने की क्षमता रखता है। बादल को देखकर इस प्रकार की अनुभूति शायद पहली बार निराला में जागी थी। इसी प्रकार फूल का खिलना उनके काव्य में संघर्ष का प्रतीक है। क्योंकि रूप और गंध पाना फूल के लिए सहज प्राप्य नहीं होता है। जीवन और समाज की वास्तविकता निराला के काव्य का मूल उत्स है। अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नये खतरे उठाए हैं। उनकी कविता छंद के बंधन को तोड़ कर नये काव्यरूपों का निर्माण करती है. जीवन के अनुकूल स्वाधीन छंद का निर्माण करती है। जीवन और समाज की लय को अपना कर निराला आगे बढ़ते हैं इसलिए उनकी कविता में मौलिकता, ताजगी और नवीनता है।

व्याख्या

''है अमानिशा उगलता ..... केवल जलती मशाल

'राम की शक्तिपूजा' निराला की श्रेष्ठ कविताओं में से एक है। इस कविता में एक संदर्भ मिथकीय नायक राम का है दूसरा संदर्भ कवि के निजी जीवन का है और तृतीय राष्ट्र के जीवन का है। कवि ने कई संदर्भों को एक साथ गूंथ कर इस कविता का संगठन किया है। इस कविता में पराजय बोध की पीड़ा तथा राम-रावण के युद्ध के मिथकीय संदर्भ से दो मनःस्थितियों की टकराहट मिलती है। कविता का आरंभ अस्ताचलगामी सूर्य से होता है और कविता के अंत में नभ के तलाट पर प्रथम किरण फूटती है।

संदर्भ यह है कि राम और रावण के युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकला। दोनों पक्षों के घनघोर युद्ध में राम का पक्ष आज युद्ध में पराजय की सीमा तक पहुँच गया। राम युद्ध में

त्रस्त हो गए। सूर्यास्त् के पश्चात् राम युद्ध शिविर में आज हुए युद्ध की भयानकता पर विचार कर रहे हैं। राम निराश मनःस्थिति में बैठे हुए हैं। उनकी निराश मनःस्थिति के लिए कवि ने संश्लिष्ट बिम्ब की योजना की है।

अमावस की रात्रि के समान गगन अंधकार उगल रहा हैं। अंधकार इतना घना है कि दिशा ज्ञान का भी पता नहीं चलता है। वायु चारों दिशाओं में शांत है। पीछे सागर लगातार घनघोर गर्जना कर रहा है। पर्वत ध्यान मग्न है। पर्वत पर केवल मशाल जल रही है। इस पूरे बिंब में आशा की एक मात्र चिनगारी केवल मशाल है। बिंब में जितना बाहर का अंधकार दिखाया गया है उतना ही उसमें राम के अंतःमन का भी अंधकार दिखाया गया है। राम बाहर के अंधकार से उतना संशयग्रस्त नहीं जितना अन्तर्मन के अंधकार से संशयग्रस्त हैं। राम पर्वत के समान अचल धैर्य धारण करके बैठे हुए हैं। उनकी चेतना में कोई दिशा नहीं है। चेतना दिशाहीन हो गई है। किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति है। यहाँ अंधकार और समुद्र की उच्छृंखल क्रीड़ाओं के बीच सिर्फ एक मशाल जल रही है। एक ओर गहन अंधकार और दूसरी ओर क्षीण प्रकाश का अंतर्द्वन्द्व - इससे कविता में अद्भुत नाटकीयता पैदा हो गई है। निराशा और अंधकार का ऐसा सघन चित्र हिंदी कविता में दूसरा नहीं मिलता है।

विशेष

1) संश्लिष्ट बिंब की योजना द्वारा मनःस्थिति का मतिमान चित्र प्रस्तुत हुआ है।
2) पहली पंक्ति में 'केवल जलती मशाल' में केवल शब्द के प्रयोग में प्रभावोत्पादकता है।
3) अरबी शब्द मशाल का प्रयोग हुआ है। मशाल का सार्थक अभिप्राय है। मशाल हमेशा आगे-आगे अंधकार को हटाती हुई चलती है।

14. सुमित्रानंदन पंत

जीवन परिचय

सुमित्रानन्दन पंत का जन्म 21 मई, सन् 1900 में अल्मोड़ा जनपद (उ.प्र.) के कौसानी नामक गाँव में हुआ था। इन्हें जन्म देने के तुरंत बाद इनकी माता सरस्वती देवी परलोक सिधार गई। इनका लालन-पालन दादी और बुआ ने किया।गाँव की पाठशाला में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने 1911से 8 वर्षों तक अल्मोड़ा के राजकीय हाई स्कूल में प्रवेश लिया और वहाँ से नवीं कक्षा तक की पढ़ाई के बाद 1920में काशी से हाई स्कूल की परीक्षा पास की। आगे की पढ़ाई के लिए इन्होंने प्रयाग म्योर कालेज में प्रवेश लिया लेकिन कुछ ही दिनों में महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन के आह्वान पर कालेज से अपना नाम कटवा लिया। विद्यार्थी जीवन से ही इनकी रुचि कविता के क्षेत्र में रही। व्यवसाय में घाटे और पिता के असामयिक निधन से इनकी रचनाशीलता में कुछ समय के लिए व्यवधान अवश्य आया, लेकिन कालाकांकर नरेश के छोटे भाई कंवर नरेश सिंह के साथ कालाकांकर में रहकर कई वर्षों तक काव्य-रचना में लीन रहे।1934 में फिल्म जगत के प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर भट्ट ने उन्हें अपने मित्र 'कल्पना' के गीत लिखने के लिए मद्रास आमंत्रित किया। कई वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए 1950 में पंत जी इलाहाबाद में स्थायी रूप से बस गए। वहाँ आकाशवाणी में हिंदी प्रोड्यूसर और फिर हिंदी परामर्शदाता के पद पर कार्य करते हुए ये काव्य-रचना में भी निरत रहे। 1961 में इन्हें भारत सरकार की ओर से 'पदमभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया गया। उसी वर्षकला और बूढ़ा चाँद' पर इन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। 'चिदम्परा' पर 1969 में इन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। भारत सरकार की हिंदी-विरोधी नीति और अपने हिंदी प्रेम के कारण अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए इन्होंने 'पदमभूषण' की उपाधि लोटा दी। 28 दिसम्बर 1977 को इनका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

पंत की काव्य-यात्रा का आरंभ प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण से हुआ। प्रकृति के मोहक रूप पर वे इतने मुग्ध हो गए थे कि मानवीय सौंदर्य तक की इन्होने उपेक्षा कर दी। इनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
वाले! तेरे केश जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।।

प्रकृति को प्रेयसी, संदुरी के साथ ही इन्होंने माँ के रूप में भी देखा है। संध्या, प्रातः उषा, चाँदनी और प्रकृति के अन्याय दृश्यों पर मुग्ध रहने वाले पंत ने अंततः मानव के सुंदरतम रूप से प्रतिष्ठित किया।

पंत जी ने कविता के अतिरिक्त गद्य की अन्य विधाओं पर भी अपनी लेखनी आजमाई लेकिन अंततः ये कविता के लिए ही समर्पित हुए। पंत जी की आरंभिक दो रचनाएँ 1918 में वीणा और 1920 में ग्रंथि ने सहृदय हिंदी-प्रेमियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट अवश्य किया, लेकिन एक छायावादी कवि के रूप में इनकी प्रतिष्ठा 1925 में प्रकाशित पल्लव के माध्यम से ही हुई। इसकी भूमिका में पंत ने छायावाद ले विरोधियों का मुंहतोड़ जवाब देते हुए, इस काव्यधारा के औचित्य की स्थापना भी की। छायावाद के समर्थ आलोचक इस रचना को छायावाद का पूर्ण उत्कर्ष मानते हैं। इसमें भाव, भाया, लय और अलंकरण के विविध उपकरणों का अत्यंत कौशल के साथ समावेश किया गया है। गुंजन विशेष कर 'युगांत' में आकर पंत की काव्ययात्रा का प्रथम चरण समाप्त होता है। वे अपने कल्पना जनित स्वप्नलोक से बाहर आकर यथार्थ जगत की ओर उन्मुख होते है।

'युगांत', 'युग-वाणी और 'ग्राम्या' को पंत की काव्य-यात्रा का दूसरा चरण माना जा सकता है। ग्राम्या तो प्रगतिशील आंदोलन के प्रभावान्तर्गत लिखी गयी रचना है। इसमें कार्लमार्क्स मार्क्सवाद श्रमिक-मजदूर किसान जनता के प्रति इन्होंने भावभीनी सहानुभूति प्रगट की है। लेकिन जल्दी ही इस मार्ग पर बढ़ते हुए उनके कदम रूक जातें हैं, जिससें लगता है कि शोषित उत्पीड़ित जन-जीवन के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक ही थी। 'स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि', युग पथ, 'अतिमा', 'उत्तरा में वे महर्षि अरविन्द से प्रभावित होकर आध्यात्मिक समन्वयवाद की ओर दग्रसर होते है। इसे उनकी काव्य-यात्रा का तीसरा चरण कहा जा सकता है। वैसे ग्राम्या में भी कई जगहों पर इन्होने मार्क्स के भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्मवाद के सामंजस्य की ओर संकेत किया हैख अतः यह समन्वयवाद ही उनकी मूल प्रकृति लगता हैं।

कला और बूढ़ा चॉद से लेकर लोकायतन तक पंत की काव्य-यात्रा का चौथा चरण है इसमें उनकी चेतना मानवतावाद विशेष रूप से विश्व मान्वता की ओर प्रवृत्त हुई है। इन रचनाआ मे लोक-मंगल के लिए कवि कहीं व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य के महत्व को रंखाकित करता है, तो कहीं व्यक्ति चेतना के ज्वार को ही लोकहित का कारक सिद्ध करने लगता है। ग्राम्या में पंत ने जिस ग्रामीण नयन से लोक और समाज को देखने की घोषणा की थी, यहॉ वे उससे बहुत दूर हो जाते हैं। इसके प्रमुख कारण है, इनके चिंतन की अस्थिरता। इस दृष्टि से निराला और पंत की जीवन-दृष्टि और काव्य-चेतना की तुलना करे तो हम देखेगे कि निराला की जीवन-दृष्टि का लगता । एक निश्चित दिशा में विकास हुआ है, जिसे उनकी काव्य-यात्रा में आसानी से देखा जा सकता है। जबकि पंत का दृष्टि विकास एक निश्चित दिशा में न होकर उसमें कई मोड़ आते है, जिसमें वे कभी प्रकृति में रमे रहते हैं, तो कभी मार्क्सवाद, अरविंद दर्शन और गांधीवाद की गलियों का चक्कर लगाते हैं। इससे इनमें जीवन-संघर्ष से अर्जित दृष्टि का अभाव परिलक्षित होता है। इन सबके

बावजूद पंत छायावादी काव्य-धारा को सम्पन्न बनाने की प्रक्रिया में 'द्रुत झरों जगत के जीर्ण पत्र 'ताज' आदि ऐतिहासिक महत्व की कविताएँ हिन्दी पाठक समुदाय को दे गए है।

सुमित्रानंदन पंत छायावादी काव्यधारा के अनुपम शिल्पी हैं। अपनी कोमल और मृदुल प्रकृति के कारण उनकी भाषा में ये गुण अत्यंत सहजता से समाविष्ट हुए हैं। हिंदी खड़ी बोली के परिष्कृत रूप को और अधिक संवारने-सजाने में इनका विशेष योगदान है। इनकी, भाषा में नाद व्यंजना, प्रवाह, लय, उच्चारण की सहजता, श्रुति मधुरता आदि का अद्‌भुत सामंजस्य हुआ है। शैली की दृष्टि से पंत ने प्रकृति के मानवीकरण और भावों की समुचित अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत सहज अलंकार विधान भी किया है। नये उपमानों के चयन, ध्वन्यार्थ व्यंजना, लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली के उपयोग द्वारा कवि ने अपनी विषय-वस्तु को अत्यंत संप्रेषणीय बनाया है। एक मंजा हुआ, सचेत शिल्प पंत की कविता में शुरू से अंत तक मिलता है जो इनका निजी शिल्प बन गया है। इससे किसी भी प्रकार की विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति में जहाँ पूरी सहायता मिलती है, वहीं परवर्ती रचनाओं में इस मजे हुए शिल्प की अनुगूँज या प्रतिबिंबन कथ्य की नवीनता को खंडित भी करता है 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव' का प्रकृति-चित्रण संबंधी मंजा हुआ शिल्प 'रश्मिबंध', 'लोकायतन' में पूर्ववत् ज्यों का त्यों उपस्थित होकर पंत की नव-चेतना को बाधित करता है। अतः नवीन भावों और विषयों को ग्रहण करते समय कवि के लिए यह आश्यक हो जाता है कि अपने बने बनाएं शिल्प के ढाँचे को तोड़कर नया शिल्प भी विकसित करे। छायावादी कवियों में यह कार्य केवल निराला कर सके हैं। बाजवूद इस कमी के पंत जी की भाषा-शैली-भावुनकूल, वातावरण के चित्र में अत्यंत सक्षम और समुचित प्रभावोत्पादन की दृष्टि से अत्यंत सफल मानी जा सकती है। पंत जी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं।

काव्य : 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'युगांत, 'युगवाणी', 'ग्राम्या, 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण थूलि', 'उत्तरा', 'रजत शिखर', 'अतिमा', 'वाणी', 'कला और बूढ़ा चाँद', 'रश्मिबंध', 'चिदम्बरा', 'समाधित', 'लोकायतन', 'किरण वीणा', 'गीत हंस', 'गद्य वीथी' तथा 'सत्यकाम' आदि।

रेडियो रुपक : 'ज्योत्सना'

उपन्यास : 'हार'

निबंध संग्रह : 'आधुनिक कवि'।

परिवर्तन

(1)

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगंत छबिजाल,
ज्योति चुंबित जगती का भाल?
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?

स्वर्ण की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत श्रृंङ्गार,
(स्वर्ण भृङ्गों के गंध-विहार)
गूँज उठते थे बारंबार

सृष्टि के प्रथमोद्गार !
नग्न सुंदरता थी सुकुमार
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार !
अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,

कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दूरित, दुख दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा-मरण भ्रू-पात !

(2)

हाय ! सब मिथ्या बात !-
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी-साँस !

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता[1] में निज तत्काल
सिहर उठती,-जीवन है भार !

---

[1] सामर्थ्यहीनता।

आग पावस नद के उदगार
काल के बनते चिह्न कराल,
प्रात का सोने का संसार,
जला देती संध्या की ज्वाल !

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने काले व्याल
केंचुली, काँस[2], सिवार;[3]
गूँजते हैं सबके दिन चार
सभी फिर हाहाकार !

(3)

आज **बचपन** का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अंधकार, अज्ञात !

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल !
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होंठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निश्वास समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, फिर गंभीर!

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अपर मधुर संयोग
मिलन के पल केवल दो-चार;
विरह के कल्प अपार !

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय;
उठे-रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों-से हाय !

वर्षाऋतु की नदी के समान, 2 लंडी घास, 3 पानी में फैली घास

(4)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गए यदि ऋण भी कुछ आज,
चुका लेता दुख कल की ब्याज
काल को नहीं किसी की लाज!

विपुल मणि रत्नों का छविजाल,
इंद्रधनु की सी छटा विशाल -
विभव की विद्युत् ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिल जाता चुपचाप बयार।

(5)

खेलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण;
अभी उत्सव और हास उल्लास,
अभी अवसाद, अश्रु उच्छ्वास!

अचिरता देख जगत् की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;

सिसक उठता समुद्र का मन
सिहर उठते उडुगन!

(6)

अहे निष्ठुर परिवर्तन।

तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुणा विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन्,
निखिल उत्थान, पतन।

अहे वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर

MAHI-107/254

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ् मंडल!

(7)

अहे दुर्जय विश्वजित्!
नवाते शत सुखर नरनाथ
तुम्हारे इंद्रासन तत्व माथ,
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ।
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो ससृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित,
,नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभय कला-कौशल चिर संचित।
आधि, व्याधि, बहुवृष्टि, बात उत्पात, अमंगल
वहि बाढ़, भूकम्प-तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टल-मल
पद - दलित धरा - तल !

जगद् का अवतरित हृत्कंपन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमंत्रण !
विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि से घुस पल-पल,
तुम्हीं स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल वन, वांछित कृषिफल !
अये, सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मंडल
नैश गगन-सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(9)

काल का अकरुण भृकुटि-विलास;
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास !

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
सस्मर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर;
भूमि चूम जाते अभ्र-ध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य-भूति के मेघाडंबर।
आये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू-कंपन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों से उडुगन;
आलोकित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन[1],

वाताहत[2] हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

(10)

जगत् की शत कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर, तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण !

अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक घहर-घहर आक्रांति
ग्रस्त करती सुख शांति !

---

1 माथे पर तिलक, 2 हवा के झोंके से आहत

MAHI-107/256

(11)

हाय री दुर्बल भ्रांति !-
कहाँ नश्वर जगती में शांति ?
सृष्टि ही का सात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन-संग्राम
स्वप्न है यहां विराम।
एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजय वन !
-यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मंत्रोच्चार,
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व मिसाल
मेघ मारुत का मायाजाल !

(12)

अरे, देखो इस पार -
दिवस की आभा में साकार
दिगंबर, सहम रहा संसार ।
हाय, जन के करतार !
प्रात ही तो कहलाई मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मणुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार
छिन गया हाय, गोद का काल
गड़ी है बिना बाल की नाल !
अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुंबन शून्य कपोल;
हाय । रूक गया यही संसार
बना सिंदूर अँगार !
वात हल लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।।

MAHI-107/257

(13)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जू-सा छिद्रों का कृशकाय !
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दोनों का भार !
भूँकता सिंडी शिशिर का श्वास
चीरता हरे ! अचीर शरीर,
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों ही मैं नीर !

(14)

सकल रोओ से हाथ पसार
लूटता इधर लौभ गृह द्वार;
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार !
टिड्डियों-सा छा अत्याचार
चट जाता संसार !

(15)

वजा लोहे के दंत कठोर
नाचती हिंसा जिह्वा लोल,
भृकुटी के कुंडल मरोर
फुहुँकता अंध रोष फल खोल;
लालची गीधों-से दिन रात
नोचते रोग-शोक नित गात,
अस्थि-पंजर का दैत्य दुकाल,
निगल जाता निज बाल !

(16)

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुंड-मुडों की कर बौछार,
प्रलय-धन-सा चिर भीमाकार
गरजता है दिगंत संहार
छेड़ खर शास्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार !

MAHI-107/258

कोटि मनुजों के, निहत अकाल
नयन मणियों से जटिल कराल
अरे दिग्गज सिंह सन जाल
अखिल मृत देशों के कंकाल:
मोतियो के तारक लड़ हार
आँसूओं के श्रृंगार !

(17)

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चिंतानल के ये सायंकाल:
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल,
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग हैं जग का कंकाल !!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार,
शांति सुख है उस पार !
आह भीषण उद्गार !
नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जन व्यावर्तन
अधिर में घिर का अन्वेषण
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन !
अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरंग
बूडं जाते निस्सार !
बना सैकल के तट अतिबात
गिरा देवी अज्ञात !

(18)

एक छवि से असंख्य उडुगण,
एक ही सबसे स्पंदन,
एक छवि के विभात में झील
एक विधि के रे सतत अधीन।
एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि-भोर:

MAHI-107/259

इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है संहार !

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोखाती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व प्रलयकर वात
बीज बोती अज्ञात !

म्लान कुसुमों की मृदु मुस्कान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है अरे, आत्म बलिदान,
जगत् केवल आवान-प्रवान !

(20)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जल निधि में हरित विलास,
शांत अंबर में नील विकास,

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास !
विविध द्रव्यां में विधि प्रकार
एक ही ममं मधुर झंकार !

(21)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक संवा में शिव अधिकार,

स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार;
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार !
स्वीय कर्मों ही के अनुसार

एक गुण फलता विविध प्रकार:
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार !

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;

चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

(23)

पिघल होठों का हिलता हास
दृगों को देता जीवन - दान,
वेदना ही में तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास !

तरसतें हैं हम आठों याम
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि - दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;

अल्प है इष्ट, अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल !

(24)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे, संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !

(25)

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न - गूढ़ संसार
पूर्ति जिसकी उस पार !

जगत् जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु गति - क्रम का ह्रास !

MAHI-107/261

(26)

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;

गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप।

(27)

जगत् की सुन्दरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल दिनरात
नवलता ही जग का आह्लाद !

(28)

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल,
मंजरित यौवन, सरस रसाल,
प्रौढ़त, छाया-वट सुविशाल,
स्थविरता, नीरव सायंकाल;

वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुंजार,
प्रणय से बिंध, बँध, चुन-चुन सार
मधुर जीवन का मधु कर पान;

साध अपना मधुमय संसार,
डुबा देता निज तन, मन, प्राण !

एक बचपन ही में अनजान
जागते, सोते, हम दिन-रात;
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात

मूंद प्राचीन मरण,
खोल नूतन जीवन!

MAHI-107/262

(29)

विश्वमय है परिवर्तन !

अतल से उमड़ अकूल, अपार,
मेघ-से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भंयकर
इंद्रजाल'-सा तुम अनंत में रचते सुन्दर
घरज-गरज, हँस-हँस, चढ़-गिर, छा-ढा-भू अंबर,
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर !

(30)

एक और बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जगत के उर में छोड़ महान
गहन चिह्नों में ज्ञान !

परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरंतर
अभिनय करते विश्व-मंच पर तुम मायाकार!
जहाँ ह्रास के अधर, अश्रु के नयन करूणतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर,
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुधर
अखिल में व्याप्त सूत्रधार !

(31)

हमारे निज सुख, दुख निःश्वारा
तुम्हें केवल परिहास
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास

अये अनंत कंप । तुम्हारा संपादन
सृष्टि शिराओं में सञ्चारित करता जीवन
खोल जगत के शत शत नक्षत्रों से लोचन
भेदन करते अहंकार तुम जग का क्षण क्षण
सत्य तुम्हारी राज यष्टि सम्मुख नत त्रिभुवन
भूप अकिंचन,
अटल शान्ति नित करते पालन !

(32)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमार भ्रम मिथ्याहङ्कार
तुम्हीं में निराकार साकार
मृत्यु जीवन सब एकाकार !

अहं महांबुधि ! लहरों से शत लोक, चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे रफीत वक्ष पर,
तुङ्ग तरंगों से शत युग, शत-शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर,
शत-सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुपण
जलते- बुझते हैं रफ़्लिंग-से तुममें तत्क्षण
अचिर विश्व में अखिर, दिशावधि, कर्म वचन, मन
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तहीन विवतर्न !

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनी !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न - नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना;

शशि-किरणों से उतर-उतरकर,
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों को मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास - शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना,
कूक उठी सहसा तरुवासिनी !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनी !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना;

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन
कमल क्रोड़ में बदीं था अलि,
कोक शोक से दीवाना,

MAHI-107/265

मूर्छित थीं इंद्रियाँ स्तब्ध जग,
जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना - जाना;

तू ने ही पहले बहु दर्शिनि
गावा जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभचारिणि !
गूंथ दिया - ताना - बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर,
हिल मोती का सा दाना;

खुले पलक, फैली सुदर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु बाल;
स्पंदन कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणी !
तूने कैसे पहचान
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनी !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

'भारत माता '

भारत माता
ग्रामवासिनी !
खेतों में फैला है श्यामत
धूल भरा फैला है श्यामल
गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी!
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी!
तीस कॉटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी!
स्वर्ग शस्य पद-पदतल लुटित,
धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी!
चिंतित भृकुटि-क्षितिज, तिमिराकित
नमित नयन नभ, वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी!
सकल आज उसका तन संयम,
पिला अहिंसा रतन्य सुधोपम,
हरती जन मन, भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी!

MAHI-107/267

कविताओं के बारे में

सुमित्रानंदन पंत की तीन कविताएँ पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं - 'प्रथम रश्मि', 'परिवर्तन' और 'भारतमाता'। 'प्रथम रश्मि' कविता का रचनाकाल 1920 के आसपास का है। यह कविता उनके 'वीणा' नामक संग्रह में सग्रीहित है। इस कविता में प्रकृति के अदृश्य व्यापारों के प्रति कौतूहल है। 'परिवर्तन' कविता की रचना 1924 में हुई थी। यह कविता उनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह 'पल्लव' में संकलित है। पल्लव का प्रकाशन 1929 में हुआ था। पंत ने 'पल्लव' काव्य संग्रह के लिए एक विस्तृत भूमिका लिखी थी, जिसे छायावाद का घोषणापत्र समझा जाता है। परिवर्तन कविता में अतीत की वास्तविकता के प्रति असंतोष है और परिवर्तन का आग्रह है। 'भारतमाता' उनके 'ग्राम्या' नामक काव्य-संग्रह से ली गयी है। ग्राम्या का प्रकाशन वर्ष 1940 ई0 है।

'प्रथम रश्मि' कविता में प्रकृति के अदृश्य और मूक व्यापारों के प्रति कवि में कौतूहल और विस्मय का भाव है। उदाहरण के लिए रात्रि की अंतिम बेला में ही पक्षियों को सूर्योदय होने का अनुभव होने लगता है। वे घोंसलों से निकलकर चहचहाना शुरु कर देते हैं। इस कविता का एक संदर्भ प्रातःकाल के सूर्योदय से जुड़ा हुआ है और दूसरा देश के जागरण से। देश में भी स्वाधीनता का आंदोलन शुरू हो गया था। अर्थात रात्रि का अवसान हो रहा था।

'परिवर्तन' कविता में जीवन जगत में परिवर्तन के प्रति कवि में गंभीर सोच मिलती है। जीवन की एकरसता को तोड़ने के लिए परिवर्तन आवश्यक है। सर्वप्रथम कविता में क्षोभ और वेदना का भाव है। सुख का दुःख में, उल्लास का विषाद में, शुष्मा का शुष्कता में परिवर्तन होने से यह वेदना पैदा होती है। पुनः कवि दुःख से सुख की ओर उन्मुख होता है। अंत में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि परिवर्तन ही जीवन का सत्य है। परिवर्तन इस सृष्टि के मूल में है। परिवर्तन को कवि ने विभिन्न बिंबों के माध्यम से प्रस्तावित किया है। ऋतु चक्र, शारीरिक दशा तथा वियोग और मिलन की दशा द्वारा परिवर्तन को समझा गया है।

'भारतमाता' शीर्षक कविता में पंत जी का देश-प्रेम दिखाई पड़ता है। भारतीय जीवन की यथार्थ तस्वीर को यहाँ रखा गया है। भारतीयों के दुःख दैन्य को देखकर भारतमाता की करुण दशा हो गई है। भारतमाता ग्रामवासिनी है। गंगा जमुना उसके आँसू हैं। आँसू इसलिए हैं कि यहाँ तीस करोड़ लोगों को भोजन वस्त्र नहीं मिलता है। यहाँ अधिकांश जनता शोषित, भूखी, निर्धन, असभ्य और अशिक्षित है। उन्हें देखकर भारतमाता की मुस्कान लुप्त हो गयी है। मुख पर चिंता की रेखाएँ खिंच आई हैं। भारत के गाँव के जीवन को देखकर कवि ने भारतमाता की यह तस्वीर बनाई है। भारतमाता कविता में दुःखी भारतीयों की करुण पुकार है।

पंत की इन तीनों कविताओं की भाषा खड़ी बोली है। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को कोमल कांत पदावली से ही विभूषित नहीं किया, उन्होंने भाषा में एक नये प्रकार का ओजस्वी स्वर भी भरा। 'प्रथम रश्मि' कविता को पढ़कर ऐसा अनुभव होता है कि कवि का संबंध एक ओर भाषा से है और दूसरी ओर उसका संबंध प्रकृति के निरीक्षण के निरीक्षण से है। वे संवेदनशील बिंब के माध्यम से प्रकृति की सूक्ष्मता रचते हैं। प्रातःकाल के सूर्योदय का प्रकृति में और हमारे जीवन में व्यापक महत्व है। यहाँ सूर्योदय जागरण का प्रतीक बन जाता है। प्रथम रश्मि का व्यंजनापूर्ण प्रयोग है। प्रकृति में प्रथम रश्मि रात्रि के बीच से निकलती है। उसके आगमन पर प्रकृति का चित्र किस तरह से बदलता है उसके रूप रंग को कवि ने बिंब के माध्यम से रचा है।काव्य में अर्थ, लय और छंद एकाकार हो गये हैं।'परिवर्तन' में भाषा के कोमल और कठोर दोनों रूपों का प्रयोग मिलता है। भाव के अनुसार भाषा की भंगिमा बदलती है। साग के गर्जन, वासुकि नाग के पैंन, प्रलयंकारी तूफान, मधुगात, अभिसारिका नायिका का श्रृंगार आदि कितने ही बिंबों का प्रयोग है। कहीं कहीं दार्शनिक अनुभूति के लिए संश्लिष्ट बिंबों का प्रयोग भी मिलता है। शब्दों में अर्थ ध्वनियों का समन्वय किया गया है। परिवान कविता मुक्तकों का समुच्चय है। प्रत्येक खंड का भाव दूसरे खंड के भाव से अलग वाके भी समझा जा सकता है। 'भारत माता' में भारतीय जीवन के लिए यथार्थ भाषा का प्रयोग भी मिलता है। यथार्थ भाषा के लिए जिस तदभव और देशज शब्द के प्रयोग की आवश्यकता है वह इसमें नहीं है। भाषा में तत्सम की प्रवृत्ति बनी हुई है। लेकिन अनुभूति ग्राम्य चेतना से प्रभावित है।

पंत की कविता का महत्व संवेदना और अभिव्यंजना दोनों धरातल पर है। उन्होंने स्वच्छंद और नयी भावानुभूतियों के लिए काव्य में नए शब्द और नए अर्थ गढ़े।उनका प्रकृति चित्रण मनःस्थितियों और मनोदशाओं को प्रकट करने वाला है। उन्होंने प्रकृति से संवेदनशीलता को ग्रहण किया था, वह संवेदनशीलता सीधे सीधे काव्य में प्रस्तावित हुई है। प्रकृति के मूर्त चित्रों में पंत ने जनजीवन की अभिलाषाओं को अभिव्यक्त किया है। इसी अर्थ में 'प्रथम रश्मि' जागरण का काव्य है। इस कविता में उन्होंने नूतन शब्दों, तुकों और लयों का आविष्कार किया है। स्वर ध्वनियों के आधार पर उन्होंने शब्द संगीत को रचा है। छायावाद को साधारणतः रोमांटिक अनुभूति के रूप में स्वीकार किया जाता है परन्तु परिवर्तन की अनुभूति रोमांटिक नहीं है। इसमें जीवन जगत के यथार्थ चित्रों का प्रतिबिम्ब है। कवि ने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से जीवन के परिवर्तन को समझाने का प्रयास किया है। यह कविता मनुष्य के अहंकार को तोड़ती है। महाकाल के सामने मनुष्य का क्षुद्र अहंकार कितना असमर्थ और निरूपाय है। परिवर्तन कविता जीवन धर्मी कविता है जिसमें जीवन और जगत का सत्य अभिव्यंजित हुआ है।

व्याख्या--

"बिना दुःख के सब सुख..... क्रम का ह्रास।"

ये काव्य-पंक्तियाँ सुमित्रानंद पंत की कविता 'परिवर्तन' से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने सुख-दुःख की द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों का वर्णन किया है। द्वन्द्वात्मक चेतना आधुनिकता की पहचान है। द्वन्द्वात्मकता में तुलना की जाती है। संसार में शाश्वत कुछ भी नहीं है। सापेक्ष रूप में हर चीज गतिशील है। दुःख को देखकर ही सुख की कल्पना करते हैं। दुःख यहाँ आधार होता है हमारी दुःखविहीन-सुखानुभूति का। दुःख के बिना सुख का भी अनुमान संभव नहीं है। सुख जीवन को जड़ बना देता है। जड़ता जीवन की गतिहीन अवस्था है। जड़ता में कोई भाव पैदा नहीं होता है। जड़ता में उन्माद पैदा होता है। बिना दुःख के जीवन भार हो जाता है। दुःख एक प्रकार से सृजनात्मक होता है। सृजनात्मक कहने का अर्थ है कि इसमें अनुभूति का अनुभव विविध प्रकार का होता है। टॉलस्टाय ने अन्नाकरेनिना के प्रथम वाक्य में लिखा था कि हर सुखी मनुष्य एक ही प्रकार से सुखी होता है लेकिन हर दुःखी मनुष्य अलग-अलग प्रकार से दुःखी होते हैं। संसार में क्षमा और प्रेम जैसे उदात्त मानवीय भाव का जन्म दुःख से ही होता है।

काल के आयाम में सुख-दुःख की अनुभूति घटित होती है। अतीत का सुख वर्तमान में दुःख का कारण बन सकता है और अतीत का दुःख वर्तमान में सुख का कारण बन सकता है। मनुष्य अपनी अनुभूति को निकट के अतीत और वर्तमान में अनुभव करता है। कवि तात्विक दृष्टि से द्वन्द्वात्मक विधान को समझकर अपने मन को शांत करता है। सुख-दुःख की अनुमति से संसार पीड़ित है। इस समस्या का निदान इस लोकजीवन से परे आध्यात्मिक लोक में संभव है। वहाँ राग और विषाद की अनुभूति नहीं होती है। वास्तविक जीवन का अर्थ विकास है। विकास की प्रक्रिया में हर्ष और विषाद के भाव से जीवन संचित होगा। इस प्रकार के भाव से ऊपर उठ जाना मृत्यु है। विकास की इस प्रक्रिया को विच्छिन्न करने पर गतिहीनता प्राप्त होगी। जीवन की वास्तविकता का अनुभव नहीं होगा।

विशेष

1) जीवन का द्वन्द्वात्मक भावबोध स्वीकार किया गया है।
2) दुःख को सृजनात्मक भावों का मूलाधार माना गया है।
3) जीवन की प्रक्रिया में हर्ष विषाद को स्वाभाविक माना गया है।
4) अनुभूति काल में घटित होती है और उसका प्रभाव काल के आयाम से परे होता है।

छंद में आंतरिक लय का संयोजन है। संगीतात्मकता की अनुभूति को शब्दों में रखा गया है। तुकों से संगीत के सूक्ष्म प्रभाव को अभिव्यक्त किया गया है। आह्लाद और विषाद शब्दों के प्रयोग में इन बातों का अनुभव होता है।

15. महादेवी वर्मा

जीवन परिचय

महादेवी वर्मा का जन्म 1907 ई0 में उत्तर प्रदेश के जनपद फरूखाबाद में एक सुशिक्षित मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। पिता श्री गोविन्द प्रसाद एम.ए., एल.एल.बी., की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद मुख्याध्यापक के रूप में कार्यरत थे और माता हेमरानी देवी भी शिक्षित और धार्मिक विचारों वाली कुशल गृहिणी थीं। अपनी आरंभिक शिक्षा इन्होंने घर पर ही पूरी की। अध्ययन के साथ ही संगीत और चित्रकला में भी इनकी प्रारंभ से ही रुचि रही है। नौ वर्ष की अल्पायु में ही इनका विवाह श्री रूपनारायण वर्मा से हुआ। फलस्वरूप इंदौर से वे अपनी ससुराल प्रयाग में आ गई। वहीं पर इन्होंने मिडिल से लेकर एम.ए. संस्कृत तक की औपचारिक शिक्षा प्राप्त की। अपनी शैक्षणिक योग्यता के कारण एम.ए. पास करते ही इन्हें प्रयाग महिला विद्यापीठ, के प्राचार्य का पद मिला। काफी लम्बे समय तक इस पद पर इन्होंने अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

असमय-वैधव्य ने महादेवी के जीवन को आत्मलीन शांत और एकाकी अवश्य बनाया, लेकिन इनका बहिर्मुखी व्यक्तित्व अत्यंत उदार, मिलनसार और परहित, विशेष रूप से दीन-दुखियों की सेवा-सहायता की भावना से ओतप्रोत था। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' शीर्षक निबंध-संग्रह,'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' जैसे संस्मरणों और रेखाचित्रों में इनके बहिर्मुखी व्यक्तित्व की अत्यंत जीवंत अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन इनकी कविताओं में वेदना, करूणा और अकेलेपन की आत्मलीनता ही अधिक व्यक्त हुई है, जो इनके अंतर्मुखी व्यक्तित्व को ही उजागर करती है, उनके व्यक्तित्व का यह अंतर्विरोध उनके पाठकों के लिए ही नहीं, वरन् आलोचकों के लिए भी एक समस्या बन गया है। उनके गद्य और पद्य साहित्य को आमने-सामने रख दिया जाए तो दोनों दो अलग-अलग भिन्न व्यक्तियों की परस्पर विरोधी चेतना की रचनाएँ लगेंगी। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही महादेवी के काव्य का मूल्यांकन करना उचित होगा।

साहित्यिक योगदान

प्रसाद और निराला की भाँति ही महादेवी का कृतित्व भी उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। यद्यपि कवयित्री के रूप में ही महादेवी का मूल्यांकन अधिक हुआ है, लेकिन इनका गद्यकार रूप भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इनकी कृतियों के माध्यम से इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। यहाँ हम महादेवी के गद्यकार रूप को छोड़कर केवल कवि रूप पर ही विचार करेंगे। प्रसाद, निराला, पंत के साथ ही महादेवी वर्मा भी छायावादी काव्य-धारा की एक प्रमुख स्तंभ हैं। छायावादी काव्यधारा द्विवेदी युगीन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बहिर्मुखता से अंतर्मुखता की ओर तथा मानव की अपेक्षा प्रकृति की ओर अधिक

उन्मुख हुई है। वैयक्तिक चेतना की प्रधानता, लौकिक प्रेम की अपेक्षा अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेम की प्रधानता, संजीव प्रकृति-चित्रण, भाषा एवं शैली की कलात्मकता का विशेष आग्रह छायावादी काव्य-धारा की मूलभूत विशेषता है। ये सारी प्रवृत्तियाँ महादेवी के काव्य में भी अत्यंत कुशलता से समाविष्ट हुई हैं।

महादेवी का काव्य उनकी विशुद्ध निजी अनुभूतियों का काव्य है। इनकी निजी अनुभूतियों में भी वेदना, करूणा और अकेलेपन की पीड़ा ही अधिक व्यक्त हुई है। अपनी पीड़ा, वेदना और करूणा को वे अधिकांशतः प्रकृति और उसके पीछे छिपी हुई सत्ता के माध्यम से व्यक्त करती है। अतः उनके काव्य में रहस्य और जिज्ञासा का भाव अधिक व्यक्त हुआ है। इसके साथ ही आतुरतापूर्ण आत्म निवेदन की प्रवृत्ति भी इनमें स्थान स्थान पर उजागर हुई है। 'तुम आ जाते एक बार', दिया क्यों जीवन का वरदान', 'शून्य मंदिर में बनूँगी आज मै। प्रतिभा तुम्हारी' इस प्रकार की सारी कविताएं अज्ञात प्रिय को संबोधित हैं, जो प्रेम की अलौकिकता और आध्यात्मिकता का संकेतक है। अज्ञात के प्रति यह रूख कवयित्री की कविता में एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्यवाद प्रकृति के संदर्भ में भी महादेवी में देखा जा सकता है। 'निराला को धो देता राकेश'' 'वे मुस्काते फूल नहीं', 'तुम हो विधु के दिब्य और मैं मुगधा रश्मि अज्ञान', 'गुरकाता संकेत भरा नभ', 'लाए कौन संदेश ने धन' आदि कविताएं प्रवृत्ति एवं नाना रूपों में उस अज्ञात प्रिय का संकेत देती है।

अज्ञात प्रिय से मिलनाकांक्षा, उससे न मिल पाने की वेदना को ही अपना मूलधन मान लेना, विरह में ही अपने को चिर बनाये रखने का विश्वास आदि महादेवी को मीरा की तरह चिर विरहिणी का रूप प्रदान करते है।इन्हें चिर विरहिणी बने रहने में ही संतोष प्राप्त होता है क्योंकि तृप्ति साधना में बाधक होती है। बुझते ही पयास हमारी/पल में विरक्ति बन जाती। या तुमको पीड़ा में ढूँढूंगी पीड़ा।' इस तरह की तमाम सारी अभिव्यक्तियाँ महादेवी को दुखवादी सिद्ध करती है। दुखानुभूति को अपनी अमूल्य निधि स्वीकार करते हुए इन्होने एक स्थान पर लिखा है, 'जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला, उस पर पार्थिव (सांसारिक) दुख की छाया नहीं पड़ी।कदाचित यह उसी प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी। इस संबंध में अन्यत्र उन्होंने लिखा है, 'दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। लेकिन ये दोनों कारण महादेवी के काव्य में व्यक्त दुख के स्वरूप और उसकी प्रकृति को देखते हुए अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते।

महादेवी छायावादी काव्य धारा की प्रमुख स्तंभ रही हैं। अतः इस काव्यधारा की भाषा शैली के सभी गुण इनमें भी मिल जाते हैं। कोमलकांत पदावली, परिनिष्ठित चित्रमयी भाषा, लाक्षणिकता, आलंकार विधान में नये उपमानों का प्रयोग, लाक्षणिकता, समुचित प्रतीक

विधान आदि के कुशल प्रयोग से महादेवी ने अपनी अभिव्यक्ति को अत्यंत प्रभावशाली बनाया है। छायावादी काव्य का गीति तत्व इनके काव्य की एक मात्र शैली बन गया है। गीतिशैली की सम्पूर्ण विशेषताएँ महादेवी के काव्य में अत्यंत निपुणता से समाविष्ट हुई हैं। आत्माभिव्यक्ति, भावसघनता, संक्षिप्तता और लयात्मकता गीति के प्रमुख तत्व हैं। इन सबका समावेश महादेवी के गीतों में मिलता है। गीत की विशेषता बताते हुए इन्होंने स्वयं लिखा है कि 'साधारणतः गीत' व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।' ये सारी विशेषताएँ इनके गीतों में साकार हुई हैं।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महादेवी के काव्य की विषय-वस्तु के चित्रण के लिए उनके द्वारा निर्धारित शिल्प अत्यंत प्रौढ़ और प्रभावोत्पादक है। महादेवी की कुल रचनाएँ निम्नलिखित है :

काव्य : 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'संध्यागीत', 'गीतपर्व', 'दीप शिखा', 'संधिनी', 'परिक्रमा', 'नीलांबरा', 'आत्मिक' तथा 'दीपगीत' आदि।
रेखाचित्र और संस्मरण : 'श्रृंखला की कड़ियाँ', तथा 'अतीत के चलचित्र' आदि।
अनुवाद : 'सप्तपर्णा' (वेदों से लेकर गीत गोविन्द तक के महत्वपूर्ण और सुंदर अंशों का संस्कृत से हिंदी में अनुवाद)।

'जो तुम आ जाते एक बार'

जो तुम आ जाते एक बार !

कितनी करूणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,

गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार[1] !

हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद

छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर संचित विराग,
आँखें देती सर्वस्व वार !

---

1. पाँव को पखारना।

MAHI-107/274

'विरह का जलजात जीवन'

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !!
वेदना में जन्म करूणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात !

आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल,
तरल जल-कण के बने धन सा क्षणिक मृदु गात !
जीवन विरह का जलजात ।

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास,
अश्रु ही की हाट बन आती करूण बरसात ।
जीवन विरह का जलजात !

काल इसको दे गया पल आँसुओं का हार
पूछता इसकी कथा निश्वास ही में वात ।
जीवन विरह का जलजात !

जो तुम्हारा हो सके लीलाकमल यह आज
खिल उठे निरूपण तुम्हारी देख स्मित का प्रात ।
जीवन विरह का जलजात ।

MAHI-107/275

'वीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'

वीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पंद कण-कण में
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिसके ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है, कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में,
नील घन्यभी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल'

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलौकित कर !

सौरस फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा धुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल ।
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला कण,
विश्व-शलभ सिर धुन कहता मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल !
सिहर सिहर मेरे दीपक जल।

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत ले घिरता है बादल !
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

MAHI-107/277

'टूट गया वह दर्पण निर्मम'

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

उसमें हँस दी मेरी छाया
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रु - हास ने विश्व सजाया,

रहे खेलते आँख मिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम'।

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

अपने दो आकार बनाने;
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने,

जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने
हँस हँस दे डाला था निरुपम !

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

कैसा पतझर कैसा सावन
कैसी मिलन विरह की उलझन
कैसा पल-घड़ियोंमय जीवन;

कैसे निशि-दिन कैसे सुख-दुख
आज विश्व में तुम हो या तम !

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

किसमें देख सँवारूँ कुन्तल,
अंगराग पुलकों का मल-मल,
स्वप्नों से आँजूँ पलकें चल,

किस पर रिझूँ किस से रूठूँ,
भर लूँ किस छवि से अन्तरतम !

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

आज कहाँ मेरा अपनापन,
तेरे छिपने का अवगुण्ठन,
मेरा बन्धन तेरा साधन,

तुम मुझ में अपना सुख देखो
मैं तुम में अपना दुख प्रियतम !

टूट गया वह दर्पण निर्मम।

MAHI-107/278

'मैं नीर भरी दुख की बदनी'

मै नीर भरी दुख की बदली !

स्पन्दन में चिर निरपन्द बसा
कन्दन में आहत विश्व हँसा

नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

मेरा पग पग संगीत भरा
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा,

नभ के नव रँग बुनते दुकुल
छाया में मलय - बयार पली !

मैं क्षितज-भृकुटि पर घिर धूमिल
चिन्ता का भार बनी अविरल,

रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर बन निकली !

पथ को न मलिन करता आना;
पद-चिह्न न दे जाता जाना;

सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिद्धरन ही अन्त खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना.

परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

MAHI-107/279

शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृङ्गारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष सी
अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !
नय में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी,
प्राण में कैसे बताऊँ
कठिन अग्नि-समाधि होगी,
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ।
हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल,
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !

MAHI-107/280

'चिर सजग आँखें उनींदी आज कैा व्यस्त बाना !'

चिरं राजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना !
जाग तुझकों दूरं जान !

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले,
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत-शिखाओं में निठुर तूफान बोले,

पर तुझे है नाश-पथ पर चिहन अपने छोड़ आना !
जाग तुझको दूर जाना !

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेगे तितलियों के पर रंगीले ?

विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबो देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना ।
जाग तुझको दूर जान !

MAHI-107/281

'फिर विकल हैं प्राण मेरे'

फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे !

सिन्धु की निःसीमता पर लघु लहर का लास कैसा?
दीप लघु शिर पर धरे आलोक का आकाश कैसा ?
दे रही मेरी चिरन्तनता
क्षणों के साथ फेरे !

बिम्बग्राहकता कणों को शलभ को चिर साधना दी,
पुलक से नभ नभ धरा को कल्पनामय वेदना दी,
गत कहो हे विश्व'झूठे
हैं अतुल वरदान तेरे !

नभ डुबा पाया न अपनी बाढ़ में भी क्षुद्र तारे;
ढूँढ़ने करुणा मृदुल घन चीर कर तूफान हारे;
अन्त के तम में बुझे क्यों
आदि के अरमान मेरे !

MAHI-107/282

'क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन !'

क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन !
बन गया तम-सिन्धु का, आलोक सतरंगी पुलिन सा,
रजभरे जग-बाल से है, अंक विद्युत् का मलिन-सा,

स्मृति-पटल पर कर रहा अब
यह स्वयं निज रूप अंकन !

चाँदनी मेरी अमा का भेंटकर अभिषेक करती,
मृत्यु जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती,

हो गया अब दूत प्रिय का
प्राण का सन्देश-स्पन्दन !

सजनि मैंने स्वर्ण-पिंजर में प्रलय का वात पाला,
आज पुंजीभूत तम को कर, बना डाला उजाला,

तूल से उर में समा कर
हो रही नित ज्वाल चन्दन !

MAHI-107/283

'यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो '
यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो ।

रजत शंख घड़ियाल स्वर्ण वंशी वीणा स्वर
गये आरती बेला को शत शत लय से भर,

जब था कल कंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,

इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो ।

चरणों से चिन्हित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिये चन्दन की दहली,

झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप - अर्घ्य - नैबेध अपरिमित,
तुम में सब होंगे अन्तर्हित,

सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो ।

पल के मनके फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया,

साँसों की समाधि सा जीवन,
मसि सागर का पंथ गया बन,
रूका मुखर कण-कण का स्पंदन,

इस ज्वाला में प्राण रूप फिर से ढलने दो।

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,

जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा - जल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

MAHI-107/284

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !!

निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों-से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

कंकाल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर - पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली!

MAHI-107/285

कविताओं के बारे में

महादेवी की ग्यारह कविताएँ पाठ्यक्रम में प्रस्तावित हैं जो उनके चार काव्य संग्रहों से ली गई हैं। ये काव्य संग्रह है। 'नीहार'(1930), 'नीरजा' (1935), 'संध्यागीत' (1936) तथा 'दीपशिखा' (1942)।जो तुम आ जाते एक बार नीहार संग्रह से, 'विरह का जलजात जीवन', 'तुम्हारी बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ, 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल और टूट गया वह दर्पण निर्मम नीरजा से, 'मैं नीर भरी दुख की बदली, 'शलभ में शापमय वर हूँ, 'चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना' 'फिर विकल हैं प्राण मेरे तथा 'क्यों मुझे' प्रिय हो न बंधन' 'संध्यागीत' से तथा यह मन्दिर का दीप इसी नीरव जलने दो' दीपशिखा से लिए गये हैं।

'जो तुम आ जाते एक बार' कविता में कवयित्री प्रियतम से मिलने की उत्कट आकांक्षा को अभिव्यक्त करती है। स्त्री के जीवन में प्रियतम का कितना महत्व है और प्रियतम के बिना उसका जीवन कितना सूना है, यही भाव इस कविता में अभिव्यक्त हुआ है । 'विरह का जलजात जीवन' में कवयित्री अपने जीवन की व्यथा को अभिव्यक्त करती है। जलजात यानि कि कमल जो जल में पलता बढ़ता है, उसी प्रकार कवयित्री का जीवन भी वेदना से रस लेकर विकसित हो रहा है। भावनाओं के कारण उसके हृदय में आँसू के कोष हैं। ये आँसू आँख की टकसाल में तप कर बाहर निकलते हैं । इन आँसुओं में केवल वेदना ही नहीं है। उनमें आनंद भी है।

कवयित्री का मानना है कि वेदना में भी एक प्रकार का आनंद होता है। वह आनंद हृदय के भावों को लुटाने का होता है। 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ कविता में कोमल भावों की अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। कवयित्री प्रकृति के कण कण को सजीव मानती है। वह चेतन में अन्तर नहीं करती है। उनका मानना है कि एक ही सत्ता से जड़ और चेतन दोनों प्रकाशित होते हैं। इस बात को उन्होंने कविता में विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से व्यक्त किया है। 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल' में दीपक स्नेह का प्रतीक है। स्नेह से ही प्रियतम का पथ आलोकित किया जा सकता है। भावों की तरलता से ही स्नेह के दीपक को ऊर्जा मिलती है। प्रेम और स्नेह श्रेष्ठ मानवीय भाव हैं। इन्हीं से सृष्टि प्रकाशित होती है। 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' में दर्पण हृदय का प्रतिबिम्ब है। हृदय में ही सुख दुख के भाव उमड़ते हैं। रूप, श्रृंगार की रचना भावों को रूपाकार देने के लिए होती है। भावों के बिना सुख दुख विरह मिलन, दिन रात सभी कुछ शून्य हैं विश्व में भाव है अथवा अंधकार है।

'मैं नीर भरी दुख की बदली' में हृदय के उमड़ते हुए भावों का चित्रण है। जिस प्रकार बादलों में रंग और जलकण होते हैं उसी प्रकार भावों की सत्ता होती है। भाव इतने परिवर्तनशील होते हैं कि उनमें कथन, स्थिरता का अनुभव किया जा सकता है। आँखों में

प्रेम के दीपक जलते हैं और पलकें भींग उठती हैं। कवयित्री के मन में उठने वाले भाव निजी नहीं रह जाते, बल्कि उनका प्रसार सृष्टि के कण कण में होता है। 'शलम में शापमय वर हूँ' मैं शलम आत्मदान का प्रतीक है। इस आत्मदान में वेदना है। इस वेदना में आनंद की अनुभूति है। इसलिए आनंद और वेदना के परस्पर विरोधी भावों का सृजन एक साथ होता है। इसी अर्थ में वे शाप भी हैं, वरदान भी है। प्रेम न मिलने पर हृदय में आक्रोश जगता है। हृदय से उल्का की तरह गर्म गर्म राख निकलती है।। प्रियतम के अभाव में प्रेम संभव नहीं है। इसलिए कवयित्री कहती है कि प्रियतम के न रहने से मुझमें वह ज्वाला नहीं भड़कती। विडम्बना वह है कि नायिका का हृदय बिना ज्वाला के ही राख हो जाता है।

'चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना' में देश भक्ति का स्वर है। इस कविता का उद्देश्य देशभक्तों को जागरण का संदेश देना है।कविता कहती है कि कठिनतम परिस्थितियों में भी अपना उद्देश्य हासिल करना चाहिए। प्रयल ही क्यों न आ जाय, तूफान झंझावत आ जाए, हिमालय में भूचाल आ जाये- इन सब बाधाओं को लाँघ कर अपना ध्येय प्राप्त करना चाहिए। फिर विकल हैं प्राण मेरे' में क्षितिज को तोड़कर उस पार जाने का आग्रह है। यह क्षितिज हृदय का बंधन भी हो सकता है। कवयित्री छोटे छोटे सुखों की बजाए विरतन सत्य को प्राप्त करने की बात कहती है। 'क्यों मुझे प्रिय हो न बंधन' में उल्लास की अभिव्यक्ति है। निराशा के बीच आशा की किरण फूटती दिखाई पड़ रही है। जगत एक धूल भरे बालक के समान है। और जगत की स्थितियों में चंचलता छाई हुई है। आकाश का उल्लास हृदय में समा कर हृदय की ज्वाला को शीतलता प्रदान कर रहा है। 'यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो ' में पूरा बिंब मंदिर का है। मंदिर पवित्रता और शान्ति का प्रतीक है। कवयित्री शांति और पवित्रता के प्रकाश को अखंड रूप से जलने देना चाहती है।। जीवन के कोलाहल और व्यस्तता में मनुष्य अपनी आत्मशक्ति के प्रकाश को नहीं पहचान पाता है। इस आत्म प्रकाश को पाने की आकांक्षा की अभिव्यक्ति कविता में हुई है।

महादेवी ने अपनी भाषा को बहुत तराशा है। और सीमित शब्दावली में बिंब सौन्दर्य और संगीतात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है। वेदना और पीड़ा की भाषा से उनका काव्य भरा हुआ है। आंसू दृगजल, मधुकण जैसे शब्द उनकी कविता में बार बार आते हैं। रजनी रात, यामिनी जैसे अंधकार से जुड़े शब्द उनके मन की आंतरिक पीड़ा, अकेलेपन की अभिव्यक्ति देते हैं। उनकी कविता निजी अनुभूति को आधार बनाकर आगे बढ़ती है। इसलिए वह गीतरूप में ही सामने आती है। महादेवी की कविता में भावात्मक आवेग है। किन्तु इस आवेग में लय की लंबी तान नहीं है। महादेवी की कविता में रंगबोध का सौन्दर्य भरा हुआ है। रंगों में उनका रहस्यवाद घुला मिला रहता है। उनकी कविता में निजी शैली की प्रधानता है।

महादेवी ने स्त्री हृदय के निवेदन, करूणा, विरह तथा आत्म-समर्पण को अपनी कविता का आधार बनाया है। दीप उनका प्रिया प्रतीक है जिसका गलने, घुलने और जलने के संदर्भ में प्रयोग किया गया है। इसका मुख्य अभिप्राय आत्मदान का है। कवयित्री दुःख और पीड़ा को सहने की अदम्य क्षमता का संदेश देती है। महादेवी दुख और पीड़ा को अभिव्यक्त करती है किंतु दुख, पीड़ा के कारणों की चर्चा नहीं करती। यही कारण है कि यह दुःख, पीड़ा वायवीय रूप में ही प्रकट होती है। मुख्यतः उनके काव्य में श्रृंगार भाव की अभिव्यंजना है। किंतु भाव के आलंबन का पता नहीं चलता है। अज्ञात प्रियतम के प्रति वे अपनी भावाभिव्यंजना प्रकट करती हैं। इसी बिंदु पर उनकी कविता में रहस्यवाद की छाया दिखाई पड़ती है। यह रहस्यवाद उनके काव्य को एक दार्शनिक आवरण प्रदान करता है।

व्याख्या

झंझा है दिग्भ्रांत.....प्रभाती तक चलने दो।

ये पंक्तियाँ महादेवी के प्रसिद्ध गीत 'यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो' से ली गई हैं। यह गीत महादेवी के काव्य संग्रह 'दीपशिखा' में संकलित है। दीप महादेवी का प्रिय प्रतीक है। यहाँ दीप आत्मचेतना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गीत के इस अंश में दिग्भ्रम और विचार-शून्यता की स्थिति है। झंझा यहाँ तीव्र मानसिक वेदना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रात एकान्त और अकेलेपन की प्रतीक है। रात्रि की मूर्च्छा गहरी है। यह रात बीतने वाली नहीं है। अर्थात् अकेलेपन की अवधि अभी समाप्त होने वाली नहीं है। पूजाविधान में पुजारी जिस प्रकार सेवक का मार्ग प्रशस्त करता है, उसी प्रकार आज दीप को यह कर्त्तव्य निभाना होगा। मनुष्य के गहरे संकट और अकेलेपन के क्षणों में उसकी अपनी आत्मचेतना और अपना विवेक ही उसे सहारा देता है। आत्मचेतना का यह दीप इन्हीं संकट के क्षणों में प्रहरी बन कर खड़ा रहता है। दैनिक जीवन की व्यस्तता और कोलाहल के बीच आत्मविवेक की इस बात को हम पहचान नहीं पाते हैं। दिन की हलचल यहाँ स्फूर्ति, ताज़गी और नवजीवन के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। नवजीवन के लौटने तक यह दीप जलता रहेगा। रात्रि के अंधकार को मिटाता रहेगा। अंधकार व्यक्तिगत जीवन में भी है और जगत जीवन में भी। इन दोनों प्रकार के अंधकार से इस दीपक को लड़ना है। इस दीपक के प्रकाश में दीप्ति की रेखा है। सांझ का प्रयोग महादेवी के काव्य में खूब हुआ है। साँझ कवयित्री के लिए मिलन और विरह का सम्मिलन बिंदु है। कवयित्री नवजीवन के उदयकाल तक आत्म-विवेक को बुझने नहीं देना चाहती है। इसके बुझने से जीवन में घनघोर अंधकार और निराश छा जायेगी।

विशेष

1. कविता में तत्सम प्रधान शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा में प्रांजलता और प्रवाहमयता है।
2. आत्मानुभूति की प्रधानता है।
3. तुक संयोग और वर्ण आवृत्ति से संगीतात्मकता की सृष्टि हुई है।

16. रामधारी सिंह 'दिनकर'

जीवन परिचय

'दिनकर' का जन्म 23 दिसम्बर, 1908 को मुंगेर जनपद (बिहार) के सिमरिया घाट नामक गाँव में हुआ था। घर पर ही प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने हाई स्कूल मोकामा घाट से और पटना विश्वविद्यालय से इतिहास (आनर्स) में बी.ए. की उपाधि प्राप्त की। पाठशाला में मुख्याध्यापक के पद पर कार्य करने के बाद ये बिहार सरकार के सब रजिस्ट्रार और जन-सम्पर्क विभाग के निदेशक के पद पर भी कार्यरत रहे। 1952 में बिहार विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर काम करते हुए इन्हें 1954 तक राज्य-सभा का मनोनीत सदस्य भी बनाया गया। कुछ समय तक ये भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। इनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए भागलपुर विश्वविद्यालय ने इन्हें डी. लिट. की मानद उपाधि भी प्रदान की। 1959 में भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मभूषण' के सम्मान से विभूषित किया। 1973 में इन्हें ज्ञानपीठ के सर्वोच्च पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जीवन पर्यन्त ये साहित्य-रचना में निरत रहे। 24 अप्रैल 1974 को हृदय गति रुक जाने के कारण इनका देहांत हो गया।

साहित्यिक योगदान

रामधारी सिंह 'दिनकर' ऊर्जस्वित युग-चारण कवि के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित हैं। 'रेणुका' के प्रकाशन के बाद 1935 ई0 में इन्हें हिदीं काव्य-जगत में पूर्ण स्वीकृति मिली। इसमें राष्ट्रीय चेतना के प्रखर स्वर के साथ ही छायावादी रोमांटिकता का भी आभास मिलता है। 'दिनकर' की वाणी का वास्तविक ओज इनकी कृति 'हुँकार' में मिलता है। एक युग-चारण के रूप में युद्ध घोष और समरभूमि की ललकार 'हुँकार' की विशेषता है 'रसवंती' इनकी वैयक्तिक भावनाओं से युक्त श्रृंगार परक काव्य-संग्रह है। 'द्वन्द्वगीत' मे 'दिनकर' ने निरंतर सक्रिय द्वंद्व चेतना का प्रतिपादन किया है।'सामधेनी' अनेक विषयों पर लिखी गई कविताओं का संग्रह है।

महाभारत की कथा पर आधारित और द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्टभूमि पर लिखा गया 'कुरुक्षेत्र' 'दिनकर' का अत्यंत प्रसिद्ध प्रबंध काव्य है। इस रचना में 'दिनकर' ने स्थायी शांति के लिए युद्ध की अनिवार्यता को रेखांकित किया है। कुरुक्षेत्र मात्र कौरव-पाण्डव के मध्य होने वाला युद्ध न होकर सम्पूर्ण भारतीय गण-राज्यों की बहुत दिनों से चली आ रही पारस्परिक वैर-भावना का एक महा-विस्फोट था। इसमें कवि ने महात्मा गांधी के अहिंसा एवं क्षमा के सिद्धांत का खण्डन करते हुए लिखा है :

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास सरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन, विषहीन विनीत सरल हो।।

दिनंकर का दूसरा महत्वपूर्ण प्रबंध काव्य रश्मि रथी महाभारत के दानवीर कर्ण के चरित्र पर आधारित है। यद्यपि 'दिनकर' ने कुरूक्षेत्र में भी कर्ण के चरित्र को उभारने का प्रयास किया है। लेकिन उससे संतुष्ट न होकर अलग से कर्ण को नायक बनाकर इन्हें रश्मि रथी की रचना आवश्यक लगी। इस संबंध में दिनकर ने स्वयं लिखा है कि 'कर्ण चरित्र का उद्धार एक तरह से नयी मानवता की स्थापना का ही प्रयास है। सूत पुत्र कर्ण के चरित्र द्वारा कवि ने समाज द्वारा प्रताड़ित शूद्रों और दलितों के बीच नयी चेतना जगाते हुए उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सावधान किया है। यहाँ कवि ने शौर्य उदारता आदि गुणों से सम्पन्न कर्ण को तथाकथित कुलीन और संभ्रांत लोगों से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

'उर्वशी' दिनकर का कामाध्यात्म संबंधी महाकाव्य है जिनमें प्रेम या काम भाव को आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। इसकी विषय वस्तु इन्द्रलोक की अप्सरा उर्वशी और इस लोक के राजा पुरूरवा की प्रेम कथा पर आधारित है। हिन्दी आलोचकों के मध्य इस रचना को लेकर पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त चर्चा हुई है। परशुराम की प्रतीक्षा क रचना दिनकर ने भारत-चीन और भारत-पाकिस्तान के मध्य युद्ध की पृष्ठ भूमि पर की है। इसमें कवि ने राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए भारतीय जनता के शौर्यभाव को जगाने के लिए अत्यन्त ओजभाव से युक्त वाणी का प्रयोग किया है। हरि को हरिनाम दिनकर को अंतिम काव्य रचना है। जिसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषम परिस्थितियों को देखते हुए अवसाद और निराशा के भाव से खिन्न होकर कवि ने आध्यात्मिकता की शरण में जाने का संकेत किया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने हिन्दी कविता की राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा को सम्पन्न बनाने के साथ ही भारत की दलित शोषित जनता की उद्धार की अनिवार्यता को भी अपनी कविताओं के माध्यम से रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है।

संरचना शिल्प की दृष्टि से दिनकर जी की कविताएं अत्यंत सहज और स्वाभाविक है। तत्सम बहुल होते हुए भी इनकी भाषा में ओज माधुर्य और प्रसाद - भाषा के तीनों गुणों का भावानुकूल समुचित समावेश हुआ है। इन तीनों गुणों का समुचित समावेश हिंदी भाषा के किसी भी कवि में विरल ही है। प्रबंध और मुक्त दोनों ही शैलियों का दिनकर ने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इनकी प्रबंधात्मक रचनाओं के साथ ही मुक्तक कविताएं भी प्रायः वर्णनरात्मक है। लेकिन वर्णनात्मकता को सरस बनाने के लिए नीरस विवरण मात्र न देकर कवि ने अपनी प्रभावोत्पादक कथन प्रणाली द्वारा कथ्य को आकर्षक बनाने का सफल प्रयास किया है।

आरंभ से ही दिनकर ने अपनी कविता को प्रतीकों और मिथकों से बचाने का प्रयास किया है। लेकिन उर्वशी शीर्षक महाकाव्य में इन्होने नयी कविता के शिल्प का सहारा लेते हुए प्रतीकों बिम्बों और रूपकों का अत्यंत कुशलता से उपयोग किया है। दिनकर ने अधिकतर प्रचलित और तुकांत छदों का ही प्रयोग कियाय है। लेकिन कभी कभार अनुकांत और मुक्ता छंद के प्रयोग की ओर भी इनकी रूचि दिखाई देती है। युग चारण और लोकप्रिय जन कवि की अपेक्षाओं के अनुरूप इनकी कविताओं का संरचना शिल्प अत्यंत सहज और सुकर है।

दिनकर जी की समस्त रचनाएं निम्नलिखित हैं -

काव्य : 'रेणुका, 'हुँकार', "द्वन्द्वगीत', 'रसवंती', 'सामधेनी', 'कुरूक्षेत्र', 'बापू, 'धूप और धुआँ, 'रश्मिस्थी', 'नीलकुसुम', 'नये सुभाषित', 'उर्वशी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'हरि को हरिनाम', 'संचयिता' तथा 'रश्मि लोक' दिनकर जी की प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं ।

गद्य रचनाएँ - 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्धनारीश्वर', 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय', 'शुद्ध कविता की खोज', 'रेती के फूल', 'उजली आग', 'काव्य की भूमिका', 'प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण गुप्त', 'लोक देव नेहरू तथा हे राम', इनके गद्य ग्रंथ हैं । 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर ने भारतीय संस्कृति का अत्यंत विशद और विस्तृत विवेचन विश्लेषण किया है।

'उर्वशी' (तृतीय अंक से)

(गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी)

पुरूरवा

जब से हम तुम मिले, न जाने कितने अभिसारों[1] में
रजनी कर शृंगार सितासित[2] नभ में घूम चुकी है,
जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी-बारी से,
अमा चुरा ले गयी और फिर ज्योत्सना ले आयी है।
जब से हम - तुम मिले, रूप के अगम, फुल्ल कानन में
अनिमिष[3] मेरी दृष्टि किसी विस्मय में डूब गयी है,
अर्थ नहीं सूझता मुझे अपनी ही विकल गिरां का
शब्दों से बनती है जो मूर्तियाँ, तुम्हारे दूत से
उठने वाले क्षीर - ज्वार में गलकर खो जाती है।
खड़ा सिहरता रहता मैं आनन्द - विकल उस तरू - सा
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियाँ किलक रही हों
या पत्तों में छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।

उर्वशी

जब से हम तुम मिले, न जाने, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरूदगति के अतीत - गह्वर में ।
किन्तु हाय, जब तुम्हें देख मैं सुरपुर को लौटी थी,
यही काल अजगर -समान प्राणों पर बैठ गया था।
उदित सूर्य नभ से जाने का नाम नहीं लेता था,
कल्प बिताये बिना न हटती थी वे काल - निशाए।
कामद्रुम[4] - तल पड़ी तड़पती रही तप्त फूलों पर
पर तुम आये नहीं कभी छिप कर भी सुधि लेने को।
निष्ठुर बन निश्चिन्त भोगते बैठे रहे महल में
सुख प्रताप का, यश का, जयय का, कलियों का, फूलों का
मिले, अन्त में, तब, जब ललना की मर्याद गवाँकर
स्वर्ग लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मैं आयी।

---

1. प्रिय से मिलने के लिए नाटक के संकेत स्थान पर जान 2. सफेद और काला 3. स्थिर दृष्टि 4. पानी के समान मिलता कामभाव ।

चिर कृतज्ञ हूँ इस कृपालुता के हित, किन्तु मिलन का,
इसे छोड़ कर और दूसरा कौन पन्थ संभव था?
उस दिन दुष्ट दनुज के कर से तुम्हें विमोचित करके
और छोड़कर तुम्हें तुम्हारी सखियों के हाथों में
लौटा जब मैं राज-भवन को, लगा, देह ही केवल
रथ में बैठी हुई किसी विध गृह तक पहुँच गयी है,
छूट गये हैं प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के वन में,
जहाँ मिली थीं तुम क्षीरोदधि में लालिमा - लहर सी ।

कई बार चाहा, सुरपति से जाकर स्वयं कहूँ मैं,
अब उर्वशी बिना यह जीवन भार हुआ जाता है
बड़ी कृपा हो उसे आप यदि भूतल एवं जाने दें।

पर, मन ने टोक, 'क्षत्रिय भी भीख माँगते हैं क्या?
और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से?
मिल भी गयी उर्वशी यदि तुझ को इन्द्र की कृपा से,
उसका हृदय कपाट कौन तेरे निमित खोलेगा?

बाहर साँकल नहीं जिसे तू खोल हृदय पा जाये,
इस मन्दिर का द्वार सदा अन्तःपुर से खुलता है।

'और कभी यह भी सोचा है, जिस सुगन्ध से छक कर
विकल वायु बह रही मत होकर त्रिकाल त्रिभुवन की,
उस दिगन्त-व्यापिनी गन्ध की अव्यय अमर शिखा को
मर्त्य प्राण की किस निकुंज - वीथी में बाँध धरेगा।?'

इसीलिए, असहाय तड़पता बैठा रहा महल में,
लेकर यह विशवास,प्रीति मेरी यदि मृषा[1] नहीं है,
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रूकेगा,
जलद-पुंज को भेद, पहुंच कर पारिजात के वन में
वह अवश्य ही कर देगा सन्तप्त तुम्हारे मन को
और प्रीति जगत पर तुम बैकुण्ठ-लोक को तज कर
किसी रात, निशचय, भूतल पर स्वयं चली आओगी।

---

[1] व्यर्थ

MAHI-107/293

उर्वशी

सो तो मैं आ गयी, किन्तु यह वैसा ही आना है,
अयरकान्त ने खींच अयस को जैसे जिन बाँहों में ।
पर, इस आने में किंचित भी स्वाद कहाँ उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वाम्लोचनाओं को
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरूष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं।

नदियाँ आती स्वयं, ध्यान सागर, पर, कब देता है?
बेला का सौभाग्य जिसे आलिंगन में भरने को
चिर-अतृप्त, उदभ्रान्त महोदधि लहराता रहता है।

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु - वलय में
खिंची नहीं, विक्रम - तरंग पर चढ़ी हुई आती है।

हरण किया क्यों नहीं, माँग लाने में यदि अपयश था?

पुरूरवा

अयशमूल दोनों विकर्म हैं, हरण हो कि भिक्षाटन।
और हरण करता मैं किसका? उस सौन्दर्य सुधा का
झो देवों की शान्ति, इन्द्र के दृग की शीतलता थी?

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरी को ।
तब भी प्रतिष्ठानपुर वन्दित है सहस्र मुकुटों से,
और राज्य सीमा दिन दिन विस्तृत होती जाती है।
इसी भाँति, प्रत्येक सुयश, सुख, विजय सिद्धि जीवन की
अनायास, स्वयंमेव प्राप्त मुझ को होती आयी है।
यह सब उनकी कृपा, सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है।
झुके हुए हम धनुष मात्र हैं तनी हुई ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं।

मैं मनुष्य कामना -वायु मेंरे भीतर बहती है।
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन - पुलक जगा कर,
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारूण गति से
मन का दीपक बुझा, बना कर तिमिराच्छन्न हृदय को।

MAHI-107/294

किन्तु पुरूष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता है संघर्ष, तिमिर में दीपक फिर जलते है।

रंगों की आकुल तरंग जब हम को कस लेती है।,
हम केवल डूबते नहीं ऊपर भी उतराते हैं
पुण्डरीक के सदृश मृति- जल ही जिसका जीवन है,
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।

नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है,
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।

उर्वशी

यह मैं क्या सुन रही? देवताओं के जग से चलकर
फिर मैं क्या फँस गयी किसी सुर के ही बाहु वयल में?
अन्धकार की मैं प्रतिमा हूँ? जब तक हृदय तुम्हारा
तिमिर -ग्रस्त है, तब तक ही मैं उस पर राज करूँगी?
और जलाओगे जिस दिन बुझे हुए दीपक को,
मुझे त्याग दोगे प्रभात में रजनी की माला - सी?

वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है, पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोगों में दीपक बल उठते है।?
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं?
और कहेंगे तिमिर शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन मन की खुल जाती हैं?

यह भी कैसी द्विधा? देवता गन्धों के घेरे से
निकल नहीं मधुपूर्ण पुष्प का चुम्बन ले सकते हैं।
और देहधर्मी नर फूलों के शरीर को तज कर
ललचाता है दूर गन्ध के नभ में उड़ जारे को ।

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधा ग्रस्त मानव की
झाँकी तुम मे देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है।

तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आँखों से आँखों में,
मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो?
कभी-कभी लगता है, तुम से जो कुछ भी कहती हूँ,
आशय उसका नहीं, शब्द केवल मेरे सुनते हो।

क्षण में प्रेम अगाध, सिन्धु हो जैसे आलोड़न में;
और पुनः वह शान्ति, नहीं जब पत्ते भी हिलते हैं।
अभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल, हरी-सी;
और अभी यह भाव, गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नहीं, प्रार्थना की कोई कविता हूँ।
शमित-वह्नि सुर की शीतलता तो अज्ञात नहीं है;
पर, ज्वलन्त नर पर किसका यह अंकुश लटक रहा है;
छक कर देता उसे नहीं पीने जो रस जीवन का,
न तो देवता-सदृश गन्ध-नभ में जीने देता है।

पुरूरवा

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर सरोवर के किनारे कण्ठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।

आग है कोई, नहीं जो शांत होती ;
और खुलकर खेलने से भी निरंतर भागती है।

रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझ को शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोडो,
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,
अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी।

MAHI-107/296

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,
'अभी तक भी न समझा?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'

टूट गिरती है उमंगें,
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है।
अप्रतिम मैं फिर उसी दुर्गम जलधि में डूब जाता,
फिर वही उद्विग्न चिन्तन,
फिर वही पृच्छा चिरन्तन,
'रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस -चुम्बन नहीं तो और क्या है?'

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ।
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।

पर, जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
मृति महदाकाश में ठहरे कहाँ पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं संन्तोष
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नही है।

इस व्यथा को झेलता
आकाश की निरसीमता में
घूमता फिरता विकल विभ्रान्त
पर कुछ भी न पाता ।
प्रश्न जो कढ़ता

MAHI-107/297

गगन की शून्यता में गूँज कर सब ओर
मेरे ही श्रवण में लौट आता ।

और इतने में मही का गान फिर देता सुनायी,
'हम वही जग है, जहाँ पर फूल खिलते हैं।
धूब है शय्या हमारे देवता की,
पुष्प के वे कुंज मन्दिर है।
जहाँ शीतल, हरित, एकान्त मण्डप में प्रकृति के
कण्टकित युवती - युवक स्वच्छन्द मिलते हैं।

'इन कपोलों की ललाई देखते हो?
और अधरों की हँसी यह कुन्द - सी, जूही - कली - सी ?
गौर चम्पक-यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न साँचे में ढली सी ?

'यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर ।
ओ गगनचारी ! यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुंकुम से, कुटज से
इस अतुल सौन्दर्य का शृंगार कर लो।'

गीत आता है मही से ?
या कि मेरे ही रूधिर का राग
यह उठता गगन मे ?
बुलबुलों सी फूटने लगती मधुर स्मृतियाँ हृदय में,
याद आता है मंदिर उल्लास में फूला हुआ वन
याद आते हैं तरंगित अंग के रोमांच, कम्पन,
स्वर्णवर्णा वल्लरी में फूल से खिलते हुए मुख,
याद आता है निशा के ज्वार में उन्माद का सुख।
कामनाएँ प्राण को हिलकोरती है।
चुम्बनों के चिह्न लग पड़ते त्वचा में।

फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती ।

MAHI-107/298

मैं न रुक पाता कहीं,
फिर लौट आता हूँ पिपासित
शून्य से साकार सुषमा के भुवन में
युद्ध से भागे हुए उस वेदना - विह्वल युवक-सा
जो कहीं रुकता नहीं,
बेचैन जा गिरता अकुण्ठित
तीर-सा सीधे प्रिया की गोद में।

चूमता हूँ दूब को, जल को, प्रसूनों, पल्लवों को,
वल्लरी को बाँह भर उर से लगाता हूँ;
बालकों-सा मैं तुम्हारे वक्ष में मुँह को छिपा कर
नींद की निस्तब्धता में डूब जाता हूँ।

नींद जल का स्रोत है, छाया सघन है,
नींद श्यामल मेघ है, शीतल पवन है।

किन्तु, जग कर देखता हूँ,
कामनाएँ वर्त्तिका-सी बल रही हैं,
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं,
प्यास से आकुल अभी भी जल रही हैं।
रात भर, मानो, उन्हें दीपक - सदृश जलना पड़ा हो
नींद में, मानो, किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो।

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज देता,
फिर अधर-पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छू कर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

और तब सहसा
न जानें, ध्यान खो जाता कहाँ पर।
सत्य ही, रहता नहीं यह ज्ञान,
तुम कविता, कुसुम या कामिनी हो।
आरती की ज्योति को भुज में समेटे

MAHI-107/299

मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
रूप के उदगम अगम का भेद गुनता हूँ ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है,
सींचता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से,
और अंगों की विभा की वीथियों से एक होकर
मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ
और फिर यह सोचने लगता, कहाँ, किस लोक मे हूँ ?
कौन है यह वन सघन हरियालियों का,
झूमते फूलों, लचकती डालियों का ?
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझ को निरन्तर
वारूणी[1] की धार से नहल रही है?
कौन है यह जग, समेटे अंग में ज्वालामुखी को
चाँदनी चुमकार कर बहला रही है?

कौमुदी के इस सुनहरे जाल का बल तोलता हूँ,
एक पल उड्डीन होने के लिए पर खोलता हूँ ।

पर प्रभंजन[2] मत्त है इस भांति रस - आमोद में,
उड़ न सकता, लौट गिरता है कुसुम की गोद में ।

टूटता तोड़े नहीं यह किसलयों का दाम,
फूलों की लड़ी जो बँध गयी, खुलती नहीं है।

कामनाओं के झकोरे रोकते हैं राह मेरी,
खींच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बॉह मेरी ।

सिन्धु सा उद्दाम, अपरम्पार मेरा बल कहाँ है?
गूँजता जिस शक्ति का सर्वत्र जयजयकार
उस अटल संकल्प का सम्बल कहाँ है?

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान सी मेरी भुजाएँ
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है।

---

1. शराब, 2. तेज हवा का झोंका ।

सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुण्डली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का वल है।

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य[1] हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अन्ध तम के भाल पर पावक[2] जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यन्दन[3] चलाता हूँ।

पर, न जानें बात क्या है !
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिला कर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।

विद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से,
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुसकान से।
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला - कमल हूँ,
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

कौन कहता है,
तुम्हें मैं छोड़ कर आकाश में विचरण करूँगा?

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही वन्दी नहीं है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र, व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं।

मर्त्य नर को देवता कहना मृषा है,
देवता शीतल, मनुज अंगार है।
देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं,

---

1. पताका 2. अग्नि 3 युद्ध का रथ

MAHI-107/301

किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुङ्कारती है,
पूर्णियों चिनगारियों की नाचती हैं,
नाचते उड़ कर दहन के खण्ड पत्तों-से हवा में,
मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है।

चाहिए देवत्य,
पर, इस आग को धर दूँ कहाँ पर?
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर?

बह्नि का बैचेन यह रसकोष, बोलो, कौन लेगा?
आगे के बदले मुझे सन्तोष, बोलो, कौन देगा?

फिर दिशाएँ मौन, फिर उत्तर नहीं है।

प्राण की चिर-संगिनी यह वह्नि,
इसको साथ लेकर
भूमि से आकाश तक चलते रहो।
मर्त्य नर का भाग्य!
जब तक प्रेम की धारा न मिलती,
आप अपनी आग में जलते रहो।

एक ही आशा, मरूस्थल की तपन में
ओ सजल कादम्बिनी ! सिर पर तुम्हारी छाँह है।
एक ही सुख है, उरस्थल से लगा हूँ।
गीव के नीचे तुम्हारी बाँह है।

इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे रक्त के कण में समा कर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।

उर्वशी

स्वर्णदी सरथ ही, वह जिसमें ऊमियाँ नहीं, खर पात नहीं;
देवता शेष जिनके मन में कामना, द्वन्द्व परिताप नहीं।

पर, ओ, जीवन के चटुल वेग ! तू होता क्यों इतना कातर ?
तू पुरूष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वेश्वानर।

जब तक यह पावक[1] शेष तभी तक सखा मित्र त्रिभुवन तेरा,
चलता है भूतल छोड़ बादलों के ऊपर स्पन्दन तेरा ।

तब तक यह पावक शेष, तभी तक सिंधु समादर करता है,
अपना समस्त मणि -रत्न -कोष चरणों पर लाकर धरता ।
पथ नहीं रोकते सिंह, राह देती है सधन अरण्यानी,
तब तक ही सीस झुकाते हैं सामने प्रांशु पर्वत मानी ।
सुरपति तब तक ही सावधान रहते बढ़ कर अपनाने को,
अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरों का चुम्बन पाने को।

जब तक यह पावक शेष, तभी तक भाव द्वन्द्व के जगते हैं,
बारी बारी से मही, स्वर्ग, दोनों ही सुन्दर लगते हैं।
मरघट की आती याद तभी तक फुल्ल प्रसूनों के वन में,
सूने श्मशान को देख चमेली - जूही फूलती है मन में ।
शय्या की याद तभी तक देवालय में तुझे सताती है।
और शयन कक्ष में मूर्ति देवता की मान में फिर जाती है।

किल्विष[2] के मल का लेश नहीं, यह शिखा शशुभ्र पावक केवल,
जो किये आ रहा तुझे दग्ध कर क्षण क्षण और अधिक उज्ज्वल।
जितना ही यह खर अनल ज्वार शोणित में उमह उबलता है।
उतना ही यौवन अगुरू[3] दीप्त कुछ और धधक कर जलता है।
मैं इसी अगुरू की ताप तप्त, मधुमयी गन्ध पीने आयी,
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी।

बुझ जाय मृति का अनल, स्वर्गपुर का तू इतना ध्यान न कर ,
जो तुझे दीप्त से सजती है उस ज्वाला का अपमान न कर।
तू नहीं जानता इसे, वस्तु जो इस ज्वाला में खिलती है।
सुर क्या सुरेश के आलिंगन में भी न कभी वह मिलती है।
यह विकल, व्यग्र, विह्वल प्रहर्ष सुर की सुन्दरी कहाँ पाये?
प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरा कहाँ जाये?

---

1. अग्नि 2. अपराध 3. ज्वलनशील पदार्थ

वे रक्तहीन, शूक्ति, योग्य पुष्प अम्बरपुर के शीतल सुन्दर
वे उन्हें किन्तु क्या दान स्वप्न जिनके लोहित, सन्तप्त, प्रखर?

यह तो नर ही है एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक-व्रती, पुष्प -वन में कन्दर्प[1] ललित भी है।

योगी अनन्त विन्मय, अरूप को रूपायित करने वाला,
भोगी ज्वलन्त, रमणी मुख पर चुम्बन अधीर धरने वाला,

णन की असीमता में निबद्ध नक्षत्र, पिण्ड, ग्रह, दिशाकाश,
तन में रसस्विनी की धारा, मिट्टी की मृदु सोंधी सुवास,
मानव-मानव ही **नहीं**, अमृत नन्दन यह लेख अमर भी है,
वह एक साथ **जल-अनल**, मृति महदम्बर[2], क्षर अक्षर भी है।

तू मनुज नहीं, देवता, कान्ति से मुझे मन्त्र मोहित कर ले,
फिर मनुज का रूप धरा उठा गाढ़ अपने आलिंगन में भर ले।
मैं दो बिटपों के बीच मग्न ननहीं लतिका सी सो जाऊँ
छोटी तरंग सी टूट उरस्थल के महीध्र पर खो जाऊँ।

आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जिल करके,
हर लूँगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी ,
फूलों की छाँह - तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी ।

---

1. काम देवता, 2. विराट आकाश !

कमरा खाली है

कमरा खाली है
और बत्ती जल रही है।
कीड़े-मकोड़े कहीं नहीं दीखते।
फिर भी दीवार पर
एक छिपकली चल रही है।

सेज पर फूलों का गुलदस्ता है
ताजा और रंगीन।
वह कुछ बोलना चाहता है।

फुलवारी में सारे राज
आशकार नहीं हुए।
वह कमरे में भी कोई भेद
खोलना चाहता है?

लेकिन वह कौन है।
उसकी बात सुनने वाला कौन है !

कमरा खाली है
और बत्ती जल रही है।

हार

हार कर मेरा मन पछताता है।
क्योंकि हारा हुआ आदमी
तुम्हें पसन्द नहीं आता है।

लेकिन लड़ाई में मैने कोताही कब की ?

कोई दिन याद है,
जब मैं गफलत में खोया हूँ ?
यानी तीर धनुष सिरहाने रख कर
कहीं छाँह में सोया हूँ। ?

हार आदमी की किस्मत में लिखी है।
जीत केवल संयोग की बात है।

किरणें कभी कभी कौंध कर
चली जाती है।
नहीं तो, पूरी जिंदगी
अंधेरी रात है।

MAHI-107/306

जी चाहता है, सितारों के साथ
कोई सरोकार कर लूँ।
जिनकी रोशनी तक हाथ नहीं पहुँचते,
उन्हें दूर से प्यार कर लूँ।

जी चाहता है, फूलों से कहूँ,
यार ! बात करो।
रात के अँधेरे में यहां कौन देखता है,
जो अफवाह फैलायेगा
कि फूल भी बोलते हैं,
अगर कोई दर्द का मारा मिल जाये,
तो उससे अपना भेद खोलते हैं?

आदमी का मारा आदमी
कुत्ते पालता है।
मगर, मैं घबरा कर
बच्चों के पास जाना चाहता हूँ,
जहाँ निर्द्वन्द्व हो कर बोलूँ,
हँसूँ, गाऊँ, चुहलें मचाऊँ
और डोलूँ।

बूढ़ों का हलकापन
बूढ़ों को पसन्द नहीं आता है।
मगर, बच्चे उसे प्यार करते हैं।
भगवान की कृपा है
कि वे अभी गंभीरता से डरते हैं।

MAHI-107/307

पाठ्यक्रम में 'उर्वशी' के तृतीय अंक से कुछ अंश और हरि को हरिनाम' काव्य से तीन कविताएँ निर्धारित है। 'उर्वशी' 1961 ई. में प्रकाशित हुई थी और 'हारे को हरिनाम' 1970 में। 'हारे को हरिनाम' दिनकर की अंतिम काव्य कृति है। 'उर्वशी' काव्य में पुरूरवा और उर्वशी को सनातन नर एवं नारी के रूप में चित्रित किया गया है। 'हारे को हरिनाम' की कविताओं में काव्यानुभूति से शून्य होते कवि के हृदय का दर्द अभिव्यक्त हुआ है।

'उर्वशी' और पुरूरवा की कथा भारतीय साहित्य में विभिन्न तरह से कही गई है। ऋग्वेद में और शतपथ ब्राह्मण में इतना ही ज्ञात होता है कि पुरूरवा उर्वशी को विरहो मत छोड़कर चली गयी थी। दिनकर के इस काव्य में उर्वशी चक्षु, रसन, घ्राण, आदि कामनाओं का प्रतीक है और पुरूरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य का प्रतीक है। इस काव्य में काम और प्रेम' को आध्यात्मिक धरातल पर स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों के माध्यम से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

तृतीय अंक के आरम्भ में गंधमादन पर्वत के रूमानी वातावरण में पुरूरवा उर्वशी से मिलता है। पुरूरवा में प्रेम का प्रकाश फूटता है। उसका मन और हृदय दोनों आनंदित है। पुरूरवा और उर्वशी प्रेम के आस्वाद के साथ साथ अपनी अनुभवजन्य अनेक समस्याओं पर भी विचार करते है। उर्वशी अपना अनुभव बताती है।कि पुरूरवा के अभाव में उसका क्या हाल था? पुरूरवा भी अपनी संवेदना को उसके सामने प्रकट करता है। उर्वशी के अभाव में उसका हाय कितना सूना था? उसे विश्वास था कि उर्वशी उसके प्रेम को पाने के लिए स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर अवश्य आयेगी। यह विश्वास पारस्परिक स्नेह और आकर्षण से उपजता है। उर्वशी के उत्तर में एक प्रकार से पुरूषों के प्रति उपालंभ है। देह और मन के आलिंगन में सच्चे प्रेम की अनुभूति होती है। उर्वशी अपने संवाद में उस अतीन्द्रिय प्रेम का बखान करती है जो शारीरिक अनुभूति से परे है।। पुरूरवा अपनी शारीरिक अनुभूति और मानसिक पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। काम की अनुभूति शरीर की एंद्रियता से संतुष्ट नहीं होती है। प्रेम और वासना के बीच गहरा तनाव उभरता है। शारीरिक ताप से ऊपर उठकर जब प्रेम की अनुभूति समाधि की दशा में पहुँचती है।तब वह विश्रांति का अनुभव करता है। प्रेम में इतनी अधिक सूक्ष्मता है और अनुभूति में इतनी अधिक विविधता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता है। वह अनुभवजन्य आनंद है। नारी के स्नेह से नर अपने समस्त ताप और आग से अपने को मुक्त अनुभव करता है। पुरूरवा प्रेम की वायवीयता को प्राप्त करना चाहता है। और उर्वशी उसके यौवन पर आकृष्ठ है।

'कमरा खाली है' कविता में कवि काव्यानुभूति की रिक्तता को अभिव्यक्त करता है। यह कमरा कवि का हृदय है जिसमें प्रकाश है, लेकिन वह खाली है। हृदय में प्रेम की अनुभूति है लेकिन वह प्रकट नहीं हो रही है। 'हार'कविता में कवि का स्वर नियतिवादी लगता है। जीवन संग्राम में थके हुए आदमी का अनुभव इस कविता में मुखरित हुआ है। इस कविता में भयानक निराशा है। 'बच्चे' कविता में जीवन की मुक्तता को कवि रेखांकित करता है। मनुष्य ने बौद्धिक जटिलता के बीच अपनी सहजता को खो दिया है। उसने अपने स्वप्नों को विस्मृत कर दिया है। ऐसे कठिन क्षण में कवि बच्चे की सहजता और उन्मुक्तता को प्राप्त करना चाहता है।

'उर्वशी' काव्य की रचना नाटकीय शैली में हुई है। इसमें नाटक की तरह स्थान और दृश्य का संयोजन है, सूत्रधार मंच पर आता है और नाटक आरंभ होने का आभास देता है। संवाद गीतात्मक है। यह गीतात्मकता भावों की गहराई और अनुभूति की सघनता से उपजी हुई प्रतीत होती है। सघन भाव भंगिमाओं को अभिव्यक्त करने में कवि की छंद योजना समर्थ है। भाव कहीं छंद में बहते है। और कहीं छंद को तोड़कर मुक्त हो जाते हैं। रोमांटिक भावों ने एंद्रिय बिंबों की रचना संभव की है।यह ऐन्द्रियता चाक्षुष स्पर्श और स्वाद सभी स्तरों पर प्रकट हुई है। शृंगारिक अनुभूति ने भाषा को कोमल और मधुर रूप दिया हे। भाषा में मुख्यतः काम चेतना के तत्सम शब्दों का प्रयोग है।भाषा में वासना की मांसलता और प्रेम की सूक्ष्मता को एक साथ पिरो दिया गया है।'हारे को हरिनाम' की कविताओं में लयात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। बहुत ही चिर परिचित और दैनिक जीवन की अनुभूतियों से कवि ने कविता रची है। 'कमरा खाली है' में एक घर का बिंब है। इसी प्रकार 'हार' और बच्चे' शीर्षक कविता में कवि की पीड़ा और घुटन अभिव्यक्त हुई है।

'उर्वशी' काव्य में प्रेम की उदात भूमि की खोज की गई है। मनुष्य का काम उदात्तता को प्राप्त कर पशुता से अलग होता है। इस उदात्त भाव का अनुभव इंद्रिय भोग से प्राप्त नहीं होता है। यह अनुभूति एक प्रकार से आध्यात्मिक घटना है। सिद्ध साहित्य की शब्दावली में इसे समाधि की दशा कहा गया है। जैसा कि कवि ने भूमिका में लिखा है। 'नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष पाता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती और जब वे मिल जाते हैं तब भी उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।' वस्तुतः 'उर्वशी' काव्य में जीवन की स्वीकृति है। यहाँ मांसलता और सूक्ष्मता को देवताओं की वायवीयता से अधिक महत्व दिया गया है। कवि लौकिक आनंद को इस काव्य में प्रतिष्ठित करना चाहता है। हारे को हरिनाम काव्य में लौकिक जीवन की आकांक्षाओं की कुंठा है। आधुनिक जीवन की संवेदनहीनता और बौद्धिक जटिलता के बीच टूटते मानवीय रिश्ते की पहचान को कवि अभिव्यक्त करता है। इस काव्य में कवि की हार का ही अनुभव नहीं है, बल्कि जीवन संग्राम की वास्तविकता भी अभिव्यक्त हुई है।

कौन है अंकुश, इसे मैं .....शून्य की उस रेखा को पहचान लूँ।

दिनकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवि है। उनकी कविता का स्वर ओजस्वी है लेकिन **उर्वशी** में उनकी कविता का मिजाज बदला हुआ है। उर्वशी में उन्होंने श्रृंगारिक अनुभूति को **प्रधानता दी** है।मानव जीवन में काम का व्यापक महत्व है। मनुष्य में काम का अनुभव **शारीरिक** ताप के रूप में होता है।मनुष्य का द्वंद्व इस बात को लेकर है कि वह उस ताप का **अनुभव करता** है और उससे परे भी जाना चाहता है।

उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर जब चली गई थी, तब पुरूरवा उसके वियोग में निरंतर भटकता **रहा**! **तृतीय** अंक में उर्वशी और पुरूरवा का पुनर्मिलन होता है। पुरूरवा में उर्वशी को **देखकर** काम की चेतना जागती है। पुरूरवा उर्वशी से अपना आत्मानुभव बयान करता है।

पुरूरवा में उर्वशी को देखकर कामाग्नि प्रज्वलित होती है। वह ताप का अनुभव करता है। उर्वशी के सान्निध्य में उसमें उसके प्रति आकर्षण पैदा होता है। वह उसे खुलकर प्रकट करना नहीं चाहता है। यह मानवीय स्वभाव है रूपाकर्षण से पैदा होने वाली काम की वेदना पुरूरवा में अशांति पैदा करती है। पुरूष में आग है नारी के रूप में शीतलता है। पुरूष की काम चेतना उसे निरंतर रूप के आस्वादन का निमंत्रण देती है। रूप के इस आस्वादन के बाद ही आग शांत होती है। विडम्बना यह है कि नारी के सहज स्पर्श के बाद भी यह आग ठंडी नहीं होती है। पुरूष का मन बेचैन और अतृप्त रहता है। यह काम का सामान्य मनोविज्ञान है नारी के शरीर के रसपान के बाद भी पुरूरवा में द्वंद्व नहीं मिटता है। उसके अवचेतन से यह आवाज निकलती है कि सौन्दर्य पान करने की चीज नहीं है। वह देखने और आकर्षित होने के लिए है। सौन्दर्यानुभूति आलिंगन में प्राप्त नहीं होती है। पुरूरवा में यह द्वंद्व इंद्रिय और इंद्रियातीत स्तर पर व्याप्त है। वह काम की पीड़ा को भी सहता है। उससे 'परे वायवीय और सूक्ष्म अनुभूति को प्राप्त करने की आकांक्षा भी रखता है।

काम से मनुष्य लगातार जूझता रहता है। उसे पता नहीं चलता है कि काम का सच्चा आनंद किस तरह प्राप्त होता है। सच्चा आनंद एंद्रिय उपभोग में है। अथवा इंद्रियातीत प्रेम में । सौन्दर्य का अनुभव देखकर प्राप्त होता है अथवा उसे निचोड़ कर प्राप्त किया जा सकता है। पुरूरवा में वेदना फिजिकल को लाँघकर मेटा फिजिकल हो जाने की है। इसलिए पुरूरवा में अकुलाहट है। सौन्दर्य के रसपान के बाद भी उसे संतोष नहीं मिलता है। काम में सर्जनात्मक शक्ति होती है। वह मनुष्य में नित्य नये नये आनंद की रचना करती है। मनुष्य में नई नई कल्पना को जगाती है। काम का अनंतव्यापी प्रसार मनुष्य में संभव है। मनुष्यों **में जो** लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम की सूक्ष्मता का स्वाद उतना ही अधिक जानते **हैं**।

विशेष

1) कविता में पुरुरवा के आत्मद्वंद्व का चित्र है।
2) प्रश्नोत्तर शैली में कविता क गठन हुआ है।
3) कविता इस स्थल पर छंद मुक्त है। आवेग ने कविता के संरचनात्मक गठन को नये रूप में साकार किया है।
4) भाषा मुख्यतः तत्सम प्रधान है।